मसिरेखा

•

जरासन्ध

मसिरे वा

निवेदन

'साहित्य भवन' की उपन्यास प्रकाशन परम्परा में जरासंध जी की पांचवीं औपन्यासिक कृति 'मसिरेखा' प्रकाशित करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। 'मसिरेखा' के पूर्व हमें जरासंध जी के चार उपन्यासों—'पारि', 'आवरण', 'आश्रय' और 'न्याय-दण्ड' को प्रकाशित करने का श्रेय प्राप्त हो चुका है। इन चारों उपन्यासों को समस्त हिन्दी जगत और पाठकों का स्नेह मिला और वे चर्चित हुए।

'मसिरेखा' का कथानक पाठकों के सम्मुख नवीन पृष्ठभूमि प्रस्तुत करेगा। जेल अधिकारी होने के कारण जरासंध जी जेल की दुनिया की बहुत ही सच्ची व स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करने में अत्यधिक सफल रहे हैं। 'लौह कपाट', 'पारि' और 'न्यायदण्ड' आदि आपके उपन्यास इस बात के सुबूत हैं। लेकिन जेल-जीवन के एक अन्यतम अछूते अंश को इस कथाकृति में लेखक ने बड़ी खूबी से चित्रित करके हमारे सामने एक गुप्त दुनिया को खोल कर बिखेर दिया है। जेलों में बंद पुरुषों और नारियों का जीवन और उनका मनोविज्ञान अभी तक आपकी पूर्व कृतियों में प्रकाश पाता रहा है लेकिन 'मसिरेखा' में आपने बाल-अपराधियों और बाल-बन्दियों की कथा और उनकी स्थिति व मनोविज्ञान का चित्रण करके एक नितान्त अछूते विषय को रोचकतापूर्वक हमारे लिए सुलभ कर दिया है।

इस उपन्यास में श्री जरासंध की कथ्य-शैली भी अन्य उपन्यासों के मुकाबले अधिक रोचक, सरस, सरल और लुभावनी बन गई है। उनके शिल्प और शैली के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उनकी विशेषताओं से पाठक स्वयं परिचित हैं।

समस्त भारतीय भाषाओं में अपने विषय का एकमात्र उपन्यास होने के कारण 'मसिरेखा' निश्चय ही हिन्दी पाठकों के बीच लोकप्रियता प्राप्त करेगा, ऐसे विश्वास के बल पर ही हम इस कृति का प्रकाशन कर रहे हैं। जरासंध जी के अन्य उपन्यासों की भांति मसिरेखा का भी हिन्दी-जगत खुले हृदय से स्वागत करेगा।

—प्रकाशक

मसिरेखा

सुबह के समय खूब पसीना आकर ज्वर उतर गया। लेकिन सारे शरीर में शिथिलता छोड़ गया। निर्मला को लगा कि सिर्फ शरीर के ही नहीं, उसके मन का भी जोड़-जोड़ खुल गया हो। सारी रात तंद्रा और जागरण के बीच जिस अंतहीन सोच-विचार की आंधी ने उसे आच्छन्न कर रखा था, अब जैसे सब धूमिल हो गया था। दो बातें तक समझ में नहीं आ रही थीं।

ज्वर की अपनी एक उत्तेजना होती है। देह के उत्ताप से मन और मस्तिष्क का भी ताप बढ़ कर अबाध कल्पना की डोर खुल जाती है। निर्मला के ज्वर-तप्त क्षण नाना रंगों से रंगीन हो उठे थे। अतीत को भुला, वर्तमान को अग्राह्य कर, उसे एक ऐसे स्वप्नलोक में ले गये थे, जहाँ वह स्वस्थ देह से कभी नहीं पहुँच सकती थी। ऐसे ही दुर्लभ क्षणों में खयाल आया, जीवन में जो एक के बाद एक आंधी आती है, वह सब मिथ्या है; इस खपरैल के घर में, सीले हुए फर्श पर, मैंने बिस्तरे पर पड़े-पड़े उसका यह छटपटाना, सोये हुए छोटे मुन्ना का नंगे बदन गुड़ी-मुड़ी होकर एक ओर पड़े रहना—जिसके पंजर की हड्डियाँ गिनी जा सकती हैं, पेट और पीठ मिल कर एक हो गये हैं—यह सब माया है। एक दिन सब समाप्त हो जायगा। मुन्ना के बड़े होने में दिन ही कितने बाकी रह गये हैं। उसके बाद धीरे-धीरे वह स्वप्न पूरा हो जायगा, जो उसने अपने कुमारी जीवन से सँजो रखा है। भद्र परिवेश का एक छोटा, सुंदर, स्वच्छ घर होगा। बेटे की एक अच्छी नौकरी....एक सुंदर बहू। जो साध-आकांक्षा अपने पति से पूरी नहीं हो पायी, बेटा उसे पूरा कर देगा।

ज्वर उतरने के साथ ही वह दृश्य कहीं लुप्त हो गया। छोटे, जीर्ण घर में चारों ओर एक बार आँखें दौड़ा कर निर्मला को लगा कि उसका मन ही निष्क्रिय हो गया है। मुन्ना खिसकता-खिसकता जमीन पर चला गया था। उसे बिस्तर पर खींच कर कथरी उढ़ा सके, हाथ में इतना जोर भी नहीं रह गया था। लेकिन इस तरह पड़े रहने से भी तो नहीं चलेगा। लगातार चार दिन से वह घर से नहीं निकल पायी। काम रह गया है या नहीं, क्या पता? अगर नहीं रह गया है, तो इसमें उनको दोष नहीं दिया जा सकता। बड़े लोगों का बड़ा परिवार ठहरा। घर धोना, बर्तन मांजना,

कपड़े काछना—काम भी कम नहीं है। ज्यादा काम की बात छोड़ भी दी जाय, तो भी वे इसके अभ्यस्त नहीं। एक वक्त हो तो किसी न किसी तरह गुजर हो भी सकती है, किंतु लगातार चार दिन! जैसे भी हो, आज एक बार जाना ही होगा।

उठ कर बैठने की कोशिश करते ही सिर में चक्कर आ गया। तीन दिन से पेट में कुछ नहीं पड़ा था। रास्ता बहुत लंबा है। चलते-चलते अगर चक्कर आया, तो कौन सम्हालेगा? रास्ते में गिर कर मर जाने पर भी किसी को पता नहीं चल सकेगा। एक बार सोचा, बेटे को साथ ले जाय तो कैसा रहेगा। अगले ही क्षण वह मन-ही-मन सिर हिला कर बोली, नहीं ऐसा नहीं हो सकता। उसकी माँ किसी के घर की नौकरानी है, नल के नीचे बैठ कर बर्तन माँजती है, मुन्ना अभी तक नहीं जानता। वह तो यही जानता है, माँ उनके घर लड़कियों को सिलाई सिखाने जाती है। माँ और बेटे के बीच इस झूठ का आवरण जैसे भी हो, डाले ही रखना होगा। अगर यह उठ गया तो बेटे के मुख की ओर वह आँखें कैसे उठा सकेगी? बीच-बीच में मन में आता, यह उसकी दुर्बलता है, झूठी मर्यादा का असंगत मोह है। माँ हो कर बेटे के साथ यह लुकाछिपी केवल अशोभनीय ही नहीं अनुचित भी है। फिर भी वह ऐसा कर नहीं सकी। संसार के प्रत्येक व्यक्ति के सामने वह छोटी बन सकती है, किंतु बेटे के सामने नहीं बन सकेगी। फिर माँ के इस वास्तविक परिचय का कठोर आघात उसका शिशुमन कैसे सह सकेगा? मुँह से तो शायद कुछ नहीं कहेगा। किंतु उसकी सरल-स्वच्छ आँखों से जो प्रश्न उठेगा, उसका क्या उत्तर देगी, निर्मल? तो यह असत्य का अंतराल ही अच्छा है। बेटे के लिए वह सब कुछ कर सकती है, सत्य का भी त्याग कर सकती है।

रोशनदान से दिन होने का आभास मिल रहा था। उसके साथ चारों ओर से नित्य-परिचित आवाजें सुनाई पड़ रही थीं—बस्ती के लोगों के जीवन संघर्ष की तैयारियों की। हवा में धुएँ की गंध आने लगी थी। उधर कोने वाले घर में खाना पकाने की तैयारी चल रही थी। नल के पास से कलसे-बाल्टियों की ठनठन, बर्तनों की झनझनाहट आ रही थी। उन सब ध्वनियों को दबा कर आ रही थीं बेसुरे फटे गलों की आवाजें 'जय सियाराम'। एक फटा गमछा लपेटे नल के नीचे स्नान करने उतरा है भगलू कहार। महिलाएँ बाध्य होकर एक ओर हट गयी हैं। किंतु अधिक समय तक हटी रह सकें, इसका उपाय ही क्या है? इस लोहे के यंत्र की पतली जलधारा के साथ सबके जीवन का योग है। उसे केन्द्र बना कर ही इतने सारे लोगों की जीवन-यात्रा शुरू होती। उसी पर पहला अधिकार पाने के लिए गाली-गलौज, मारा-मारी। केवल जीवित रहने की दुरंत लालसा। उसके आगे हार मानती है रुचि, माथा झुकाती है शालीनता, खुल जाता है भव्यता का आवरण। उस अधनंगे अशिष्ट भगलू कहार के पास खड़े होकर कमर में आँचल खोंस कर अमार्जित भाषा में कलह करनी पड़ती—कभी की पर्दानशीन, संभ्रांत भद्र घराने की बहुओं, माधवी सेन अथवा निर्मला भट्टा-

वार्य को।

निर्मला ने सिर उठा कर घर के कोने में रखी बाल्टी देखी, एकदम सूखी पड़ी थी। पीने के पानी का घड़ा भी प्रायः वैसा ही था। दोनों ही भर कर लाने होंगे। आज उसमें उतना सामर्थ्य नहीं। फिर भी देर होने से और एक दिन का निर्जल उपवास हो जायगा, आखिर एक समय का तो है ही। दूसरी वेला की बात भी अनिश्चित है। मुन्ने को ही भेजना होगा। काम तो बहुत कठिन है, विशेषकर इस लजीले, भीरु, दुर्बल बेटे के लिए, यह वह जानती है। फिर भी कोई उपाय नहीं।

क्षीण स्वर में जितना संभव था उतनी जोर से निर्मला ने पुकारा, "बेटा, बेटा रे! जरा उठ, बेटा!"

कार्तिक मास का अंत था। कथरी ओढ़ा देने के बाद आराम मिलने से बेटा घोर निद्रा में था। दो-एक पुकार से सुबह की नींद टूटना सरल नहीं था। निर्मला ने खिसक कर उसे थोड़ा हिलाया। बेटे ने नींद की खुमारी में कुछ बोल कर अस्फुट विरोध किया। निर्मला झुक कर बेटे के मुंह पर स्नेह से हाथ फिराते हुए बोली, "सवेरा हो गया।"

मुन्ने ने आँखें मल कर देखा। इधर-उधर देख कर विरक्त स्वर में बोला, "कहाँ हो गयी सुबह? कितना अँधेरा है अभी!"

"अँधेरा कहाँ रे! अच्छी तरह से देख। अभी धूप निकल आयेगी!"

मुन्ना माथा कुंचित कर उठ बैठा। फिर माँ के एक हाथ को पकड़ कर प्रसन्नता से चीख उठा, "माँ, तुम्हारा बुखार उतर गया। हाथ कितना ठंडा है, देखो।"

"अच्छा!"

"हाँ-हाँ, देखो न?"

दूसरी हाथ से बेटे के माथे से बाल हटाते हुए निर्मला बोली, "अच्छा, अब झट से एक बाल्टी पानी ले आ।"

मुन्ना का मुंह तुरंत ही अप्रसन्न हो उठा। और कोई दिन होता तो शायद थोड़ी ना-नुकुर करता। आज कोई बात नहीं बोला। कोने से बाल्टी उठा, दरवाजा खोल कर बाहर निकल गया। निर्मला को भी उठना पड़ा। तीन दिन से पेट में प्रायः कुछ नहीं पड़ा था। ऐसी हालत में इतनी दूर जा पाना कठिन था। एक बार सोचा, दो मुट्ठी चावल बना कर खा के निकले। किंतु वैसे ही बहुत देर हो चुकी है, और वक्त खराब करने से नहीं चलेगा। इसके अलावा, आज ही तो ज्वर उतरा है, भात खाना शायद ठीक नहीं रहेगा। डिब्बे में मुरमुरा रखा था वही थोड़ा फांक जल्दी से निकल पड़ेगी। मुन्ना के आ जाने पर उसे भी थोड़ा देना होगा। इन कुछ दिनों में बिनू की माँ बुला ले जा कर उसे खिलाती थी, उसके लिए भी दलिया बना-बना कर भेजती थी। आज वह खुद वापस आ कर बनायेगी। दूसरे पर कितने दिन निर्भर रहा जा सकता

हैं। वे निश्चय ही बहुत अच्छे हैं। आपद्-विपद में बराबर देखने-भालने जाते हैं। उनका खींचतान से चलने वाला परिवार है। अब उन पर और अधिक भार नहीं डाला जा सकता। हालाँकि विनू को बुला कर निर्मला भी एक-दो दिन खाना खिला चुकी है, मुन्ने के साथ बिठा कर। विनू के पिता उसके हाथ के खाने की खूब तारीफ करते हैं, सुन कर बीच-बीच में उनके लिए सब्जी बना कर भेजती रही है। वे लोग भी कोई न कोई चीज भेजते हैं। फिर भी यह बात अलग है। वह देना-लेना था निस्वार्थ का आनन्द और इसमें रहती है स्वार्थ की ग्लानि। किसी के भी हाथ से हो, बाध्य होकर लेने में भिक्षा की दीनता बनी रहती है।

इतनी देर तक जो कुछ किया, वह मन के जोर से। रास्ते में निकल पड़ने के बाद निर्मला समझ पायी, उसकी एक सीमा है। वह जोर और चाहे कुछ कर ले, इस अशक्त, दुर्बल देह को खींच कर मालकिन के दरवाजे तक नहीं पहुँचा सकेगा। किंतु गये बिना भी तो कोई उपाय नहीं। ठीक उसी समय उसके पास से एक खाली रिक्शा निकला। उसकी मीठी घंटी की पुकार कान में जाते ही दोनों घुटने जैसे और भी अधिक अवश हो गये। साथ ही अनजाने में हाथ आँचल में बँधी गाँठ पर पहुँच गया। एक अदद नोट और उसके साथ कुछ आने की रेजगारी बँधी थी। यही उसकी संबल, उसकी चल संपत्ति थी। जब इसका एक अंश रिक्शा-विलास की दक्षिणा का रूप लेकर खिसक जायगा, तब इस गाँठ का रूप क्या होगा, मन-ही-मन उसने एक बार सोच डाला। साथ ही उस गाँठ के समान उसका मन भी छोटा हो गया। फिर भी नितांत लापरवाही के भाव से रिक्शा में चढ़ गयी। जाते-जाते होंठ के कोने पर चमक उठा एक प्रकार की सकौतुक हँसी का कुंचन। एक नौकरानी दूसरे के घर बर्तन माँजने गाड़ी पर जा रही है! आसपास के लोग अगर जानते होते, तो इस दृश्य का लाभ निश्चय ही उठाते। इच्छा थी, एक-दो मकान पीछे ही उतर जायगी। पर रुकवाते-रुकवाते भी रिक्शा एकदम मालिक के दरवाजे पर पहुँच गया। मालिक साथ में नौकर लेकर सब्जी खरीदने जा रहे थे। उतरने से पहले ही उनसे आमना-सामना हो गया। देखते ही निर्मला ने सिर झुका लिया। मालिक और उनके नौकर की आँखों में क्या था? केवल विस्मय ही नहीं, उसके साथ मिला था थोड़ा कौतुक।

भीतर पहुँच कर पहले नजर पड़ी नल के पास। वही जाने-पहचाने बर्तनों का स्तूप, वहाँ बैठा काम कर रहा था एक नया आदमी। सीने में धड़कन बढ़ गयी। फिर सोचा, निश्चय ही यह अस्थायी नौकर होगा; काम तो चलाना ही पड़ता है। गृहणी सामने ही थी। अप्रसन्न मुख से बोली, 'कहाँ थी इतने दिन ?"

"बुखार में पड़ी थी।"

"खबर तो भेजनी चाहिए थी। अचानक बिना खबर दिए बैठ गयी। इस तरह काम करने से कहीं गृहस्थी चलती है ?"

"खबर मैं किससे भिजवाती, मालकिन ? मेरा कौन है ?"

"क्यों, अपने बेटे को तो एक बार भेज सकती थी ?"

निर्मला चुप रही। बेटे को यहां नहीं भेजा जा सकता, यह बात वह इनसे कैसे कहे !

गृहणी बोली, "महीना उस माह के शुरू में आकर ले जाना।"

निर्मला चौंक उठी। सूखे गले से बोली, "महीना लेने नहीं आयी हूं ! कल से काम पर आऊँगी, यही कहने आयी हूं। कहें तो आज से ही....।"

"हमने आदमी रख लिया है।"

"पक्के काम पर ?"

"हां, तुम्हारे भरोसे और कितने दिन बैठे रहते, बोलो ?"

गृहणी खड़ी नहीं रही। थोड़ी व्यस्तता दिखाकर रसोईघर में चली गयी। निर्मला की आंखों के आगे पूरा मकान डोल उठा। जल्दी से सीढ़ी पर बैठ कर, जमीन पर दोनों हाथ टेक दिये। थोड़ा सम्हलते ही मन में आया अब बैठे रहने से लाभ नहीं; धूप चढ़ने से पहले ही चल पड़ना जरूरी है।

कुछ देर बाद ही बाबू बाजार से लौटे। एक बार इधर-उधर देख कर गृहणी को संबोधित कर बोले, "तुम्हारी पुरानी कामवाली दिखायी पड़ी थी, जानती हो ?"

"हां, दया करके आयी थी," भ्रू-कुंचित कर गृहणी बोली, "तुमने कहां देखा ?"

"यहीं, दरवाजे के सामने।"

"अभी भी खड़ी है क्या ? मैंने तो उसे चले जाने को कहा था।"

"नहीं, इस समय नहीं। बाजार जा रहा था, तब आते देखा था।"

नौकर के पेट में तभी से खलबली मची थी। अब दाब कर नहीं रख सका। बाबू की बात में योग दिया, "रिक्शा पर चढ़ कर आ रही थी, मालकिन !"

"रिक्शा में !" सब्जी अलग करते-करते घोर आश्चर्य से गृहणी ने मुंह उठाया। बरामदे में दूसरी ओर लड़की खड़ी ब्रुश से दांत साफ कर रही थी। पंद्रह वर्ष वयस, स्कूल में उच्च कक्षा की छात्रा थी। बोल उठी, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? बीमार होने पर इतनी दूर पैदल कैसे आती ?"

"तू चुप रह," गृहणी ने डांट कर कहा, "बीमार नहीं और कुछ। निश्चय ही कहीं दूसरी जगह काम करती है। उनका क्या ? एक रुपया ज्यादा मिलते ही उधर भागते हैं।"

"काम मिलता, तो पैसा खर्च करके क्यों आती ?" गृहपति ने मृदु प्रतिवाद किया।

"महीना नहीं लेना था क्या ?" ताड़ना दे उठी गृहणी।

"मांगा नहीं ?"

"माँगने से पहले ही रास्ता जो बंद कर दिया। मेरे साथ चालबाजी। कह दिया है, माह खत्म होने पर आ कर ले जाना।"

"देना ही कितने से रुपये थे, दे डालतीं।"

"क्यों ? मेरी क्या गरज अटकी थी जो एकदम से रुपये दे डालती ?"

"नहीं, गरज अपनी काहे को होगी। उसकी थी।"

"और लगता है, तुम्हारी शायद उससे भी ज्यादा गरज है," श्लेप-तिक्त स्वर में विष मिला कर बोली गृहणी, "अपने आफिस में एक नौकरी क्यों नहीं दिला देते ? अच्छा रहेगा। नल के पास से एकबारगी ही मेज-कुर्सी पर जा बैठेगी।"

गृहपति चले जा रहे थे, घूम कर खड़े हो गये। पत्नी की बात में जो चुभन थी जैसे उस पर उनका ध्यान नहीं गया, ऐसा भाव दिखाते हुए सहज स्वर में बोले "अगर वह पढ़ी-लिखी होती तो क्या मैं कोशिश नहीं करता ? एक भले घर की ...सहाय विधवा पेट की खातिर हमारे घर के बर्तन माँजती है, यह हमारे लिए को... ...व की बात नहीं।"

गृहणी ने जवाब नहीं दिया, भुन्ना कर बैठ गयी। रसोइये के आ कर कुछ ...ते ही फट पड़ी, "मैं नहीं जानती, जाओ। एक काम भी क्या अपनी अकल से नहीं ... सकता ? क्या सब मुझी को बताना पड़ेगा ?"

●

कार्तिक माह की तेज धूप थी। सिर्फ तेज ही नहीं, उसमें कुछ ऐसा होता है ... तन पर लगते ही स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में भी एक प्रकार का बुखार का-सा भाव ...गा देता है। दायाँ हाथ अनजाने ही बायें हाथ की कलाई पर चला जाता है। नाड़ी की गति क्या थोड़ी तेज हो गयी है ? हाथ के पास थर्मामीटर होने पर कोई-कोई बगल में लगा कर सूक्ष्म दृष्टि से पारे की रेखा को देखता है। पारा जैसे 'नार्मल' के चिन्ह को पार कर गया हो।

निर्मला रास्ते में चलते-चलते बार-बार माथे पर हाथ का उल्टा भाग रख कर देख रही थी। अगर फिर बुखार चढ़ा तो बेटे के साथ उसे भी निर्जल उपवास करने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहेगा। नया काम कितने दिनों में जुटेगा, कौन जाने ? जुटेगा भी या नहीं, इसका भी क्या भरोसा ?

एक-सा रास्ता चलते-चलते दोनों पैर और उठना नहीं चाह रहे थे। रह-रह सिर चक्कर खा रहा था। लग रहा था वह किसी भी क्षण चक्कर खाकर गिर पड़ेगी। फिर भी चलना होगा। रिक्शा के पीछे कई आने की रकम का दंड भुगत कर अपने पर ही वह गुस्सा कर रही थी। यह क्या उसे गाड़ी पर चढ़ने का समय है। एक पैसा भी आज उसे बहुमूल्य है।

झोपड़ियों की बस्ती। रास्ते में कहीं भी छाया नहीं। सिर ऊँचा उठाये बड़े-बड़े

भवन नहीं, जिनकी आड़ ले कर चलने से धूप से सिर बचाया जा सके। बीच-बीच में एक-दो पेड़ थे। उन्हीं के नीचे थोड़ी छाया थी। थोड़ा बैठने, थोड़ा सुस्ताने के बाद, वह बहुत कष्ट से टूट चुके शरीर को धीरे-धीरे घसीटती हुई जब घर के निकट पहुँची, तब सुबह ढल गयी थी। मुन्ने ने अब तक क्या किया कौन जाने? वही सुबह में दो मुट्ठी मुरमुरा हाथ पर रख कर गयी थी वह। भूख से निश्चय ही वह छटपटाता होगा। किसी न किसी प्रकार जा कर पहुँचते ही, सब काम छोड़, थोड़ा चावल पका देगी। लेकिन रास्ता था कि समाप्त होना ही नहीं जानता था।

घर पहुँचते ही शोर-गुल सुनायी पड़ा। यह क्या! यह तो उसी के घर के सामने से ही आवाजें आ रही हैं। अज्ञात आशंका से निर्मला का हृदय अन्दर-ही-अन्दर काँप उठा। भीड़ भी थोड़ी नहीं है। उसमें हारू की माँ का स्वर ही सबसे तेज था। कोई भी एक बात लेकर सारे मुहल्ले को थर्रा देने में इस महिला का सानी कोई नहीं था। एक लड़का है, उम्र से मुन्ने से कुछ बड़ा ही है, पर देखने में समवयसी है। वह इसी उम्र में बहुत आवारा हो चुका है। उसे लेकर ही निर्मला को बहुत डर था—उसकी संगत में पड़कर मुन्ना न बिगड़ जाय। गन्दी बस्ती के जीवन में सबसे बड़ी मुसीबत तो यही ले कर है। चारों ओर के इस गन्दे वातावरण से एक कच्ची उम्र के बच्चे को कैसे बचा कर रखा जाय।

निर्मला को देखते ही रणचंडी की मूर्ति के समान हारू की माँ सामने आयी। स्वर को सप्तम में चढ़ा कर बोली, "बोलो, तुम्हारे लिए क्या यह बस्ती छोड़कर जाना पड़ेगा? सुनती तो हूँ, भले घर के लोग हो। भले घर के लोग इस तरह के डाकू पैदा करते हैं, यह बात तो बाप के जमाने भी नहीं सुनी।"

"क्या हुआ?" जैसे-तैसे दम लेकर निर्मला क्षीण स्वर में बोली।

"जो हुआ, अपनी ही आँखों से देख लो। मैं बोलूंगी तो कहोगी बढ़ा-चढ़ा कर बोल रही हूँ।" कह कर वह लगभग भाग कर गयी और भीड़ के अन्दर से हारू का हाथ खींचते-खीचते लाकर निर्मला के सामने खड़ा कर दिया। माथे पर थोड़ी जगह कुछ फूल गई थी। मामूली-सा कट भी गया था, उसके पास खून का दाग था।

निर्मला ने उस ओर एक बार देख उद्विग्न स्वर में हारू से पूछा, "कैसे लग गया?"

उत्तर उसकी माँ ने दिया, "कैसे लगा, यह पूछो अपने सोने के समान पूत से।"

"मुन्ना ने लगा दिया?"

"लगा काहे को देगा?" पास से एक व्यक्ति बोल उठा, "खेलते-खेलते लग गयी। बच्चों का कांड है। ऐसे थोड़ी-बहुत तो लग ही जाती है।"

"इसका नाम थोड़ा है?" हठात् घूमकर खड़ी हो हारू की माँ ने बोलने वाले

की ओर वाक्य-वाण चलाया, "थोड़ा-सा और होता तो एक आँख ही उड़ जाती।"

"हिश्श ! और नहीं तो क्या," पास आकर हारू की ठोड़ी पकड़ कर मुंह उठा कर एक हमदर्द पड़ोसिन बोली, "बाल-बाल बच गयी आँख। क्या खूनी लड़का है, बाप रे!"

निर्मला के सिर में जैसे आग लग गयी हो। रोग, अनाहार, धूप-दग्ध लम्बे पथ की थकान, शून्य भविष्य की दुश्चिंता—सबने मिलकर दावानल भड़का दिया था और उसकी सब लपटों ने धावा किया एक असहाय शिशु की ओर।

"है कहाँ वह सुअर?" दोनों जलती हुई आँखों से देख कर हिंस्र स्वर में बोली निर्मला।

"रहने दो, इस भरी दुपहरी में ज्यादा गुस्सा करने की जरूरत नहीं। चल, घर चल।" कहते-कहते एक प्रौढ़ा महिला ने आकर निर्मला का हाथ पकड़ लिया, "बाद में किसी समय थोड़ा डाँट-फटकार देना। तुम लोग अब अपने-अपने घर जाओ। बेटे के माथे पर जरा पट्टी बाँध दो, हारू की माँ! अचानक लग गयी। अब क्या किया जाय।"

"नहीं, आप छोड़ दीजिए मौसी जी! उसे खत्म किये बिना मुझे शांति नहीं। गया कहाँ हरामजादा?"

"घर में छुपा बैठा है," हारू ने खबर दी।

निर्मला घर की ओर भागी। एक कोने में बिस्तर वगैरा के पीछे छिपा बैठा था। निर्मला लड़के के बाल पकड़ कर खींचते हुए बरामदे में ले आयी। फिर एक झटका देकर बोली, "हारू को क्यों मारा?"

"मैंने नहीं मारा।"

"क्या फिर ऐसे ही कट गया?"

"गिल्ली लगने से कटा है।"

"गिल्ली लगने से।"

तमाशा देखने के लिए बच्चों के झुंड ने भीड़ लगा रखी थी। उसी भीड़ में से कोई बोला, "ये लोग गिल्ली खेल रहे थे।"

निर्मला गरज उठी, "फिर गिल्ली-डंडा खेला? मना नहीं किया था यह नीच खेल खेलने को?"

"मैं नहीं जा रहा था," दोनों हाथों से आँखें मलते हुए रुआँसे स्वर में मुन्ना बोला, "वह आ कर जबरदस्ती...."

"जबरदस्ती!" गाल पर तड़ से तमाचा जड़ दिया निर्मला ने। कच्चे मांस पर पतली-पतली उँगलियों की छाप बन गयी। मुन्ना माँ के हाथ की मार का अभ्यस्त नहीं था। उसने माँ की यह हिंस्र मूर्ति कभी नहीं देखी थी। रोना भूल कर फटी-फटी आँखों

से केवल देखता रह गया। निर्मला के सिर पर खून चढ़ गया था, "जो मना करो, तू वही करेगा ?" कह कर उसने फिर मारने को हाथ उठाया। महिलाओं में से एक-दो ने आ कर रोका, "छी: । लड़के को मार डालेगी क्या ?"

"इस मुसीबत के मर जाने से ही मेरा निस्तार है। मेरा तन-मन जला कर...." बोल वह हांफते-हांफते बैठ गयी। वेदनार्त क्लांत स्वर में बोली, "सौ बार कहा, उनके साथ मत मिलो-जुलो। मेरी एक बात नहीं सुनता। ऐसे बेटे को लेकर क्या होगा ? जा, तू मेरी आंखों से दूर हो जा। मैं तेरा मुंह नहीं देखना चाहती।"

मां के हाथ का कठोर प्रहार, चाहे उसे कितना ही निर्मम क्यों न हो, मुन्ना ने मुंह बन्द कर सह लिया। किन्तु मां के मुंह से इतना बड़ा आघात नहीं सह पाया। मां उसका मुंह भी नहीं देखना चाहती। यही बात तीर के फल के समान उसके शिशु मन में विध गयी। उसकी दोनों आंखों से छल-छल करके अश्रुधारा बह निकली। दुर्जय अभिमान के वश उसने स्वर नहीं फूटने दिया। मां के मुख की ओर एक बार आंख उठा कर देखने के बाद बाहर निकल गया।

बिनू की मां आ पहुंची थी। पीछे से उसने पुकारा, "कहां जा रहा है ? ओ मुन्ना, सुन, सुन।" तब तक वह रास्ते पर पहुंच गया था।

● ● ●

दो

एक साथ सटे हुए खपरैल के कितने ही घर थे। सामने नाली और उसके पार रास्ता था। रास्ते के एक ओर आम का पेड़, दूसरी ओर नल था। यहीं तक मुन्ना की दुनिया थी। रास्ता आगे जाकर मैदान में से निकल गया है। कहां, किस देश तक यह रास्ता गया है, यह वह नहीं जानता था। मां से पूछ कर वह इतना ही जान सका था कि उस देश का नाम कलकत्ता है। बताने के साथ ही मां ने सावधान कर दिया था, "उधर नहीं जाना। बहुत बड़ा शहर है। बहुत से गाड़ी-घोड़ा चलते रहते हैं। रास्ता भूल जायगा, फिर घर नहीं लौट सकेगा।"

इसी से मुन्ना कलकत्ता के बारे में डरता था। मुहल्ले के लड़के, उसके सम-वयसी अथवा थोड़ा बड़े कलकत्ता देख आये थे। दो-एक लड़कों ने, विशेषकर हारू ने, उसे साथ लिवा जाने का प्रस्ताव किया था। पर मुन्ना गया नहीं। शांत, निरीह, नम्र स्वभाव का लड़का ठहरा। मां जो कहती, उससे बिंदु-मात्र इधर-उधर नहीं जाता। उम्र की तुलना में वह कुछ ज्यादा ही सरल था, थोड़ा बुद्धू भी। किन्तु पढ़ने-लिखने में वह प्रखर बुद्धि था। एक बार पढ़ते ही याद हो जाता। एक बार समझा देने से वह गणित कभी नहीं भूलता। बस्ती में एक छोटा सा स्कूल था। रोज सुबह वह

जाता। फीस नहीं देनी पड़ती थी। दो मास्टर थे। उनमें जो वड़ा था, वह उसके पिता को जानता था। उन्हीं से सुना था मुन्ना ने। उसे पिता का चेहरा याद नहीं था। जव वह मरे थे, तव वह वहुत छोटा था, वोलना तक नहीं आता था। माँ से सुना था, किसी आफिस में काम करते थे। खूव पढ़ाई-लिखाई सीखे थे, वह भी अपनी ही कोशिश से। पहले वे अच्छे मकान में रहते थे, अच्छा खाते थे, अच्छा कपड़ा पहनते थे। माँ ने कहा था, वह सव फिर हो जायगा। इसके पहले उसे खूव पढ़-लिख कर इंसान वनना होगा।

मास्टरजी उसे वहुत अच्छे लगते थे। वह भी तो उसे स्नेह करते थे। वीच-वीच में उसे कापी-पेंसिल खरीद देते। यहाँ नहीं रहते थे वह। कलकत्ते की तरफ से वह इस रास्ते से साइकिल पर आते। छुट्टी होने पर चले जाते। धोती और कुरता पहनते थे। साइकिल पर चढ़ते समय टोपी लगा लेते, 'सोला टोपी', जिसे हैट कहते हैं—साहव लोगों के पहनने का। पीछे लड़के हँसी-मजाक करते। किन्तु मुन्ना की वहुत इच्छा थी इस प्रकार की टोपी पहनने की। एक दिन माँ से मन की वात कह डाली थी। माँ तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयी—"टोप क्या लगायगा ? क्या तू अंग्रेज है ?"

"फिर मास्टरजी क्यों पहनते हैं ?"

"उन्हें कितनी दूर से साइकिल पर आना पड़ता है। सिर में धूप लगेगी, इस-लिए पहनते हैं।"

"जैसे मुझे धूप नहीं लगती !"

"अच्छा-अच्छा, थोड़ा और वड़ा हो जा। तव खरीद दूँगी।"

यह सव कई वर्ष पहले की वात है। अव वह टोप के लिए जिद नहीं करता। एक दिन की थी, इसलिए मन-ही-मन लज्जित होता था। अव वह वड़ा हो गया था।

माँ के निषेध को मान कर जहाँ उसने कभी पैर नहीं वढ़ाया था, आज वही अपरिचित रास्ता पकड़ कर भाग चला मुन्ना। गाड़ी-घोड़े का भय ? ठीक है, गाड़ी से दव कर ही वह मरेगा। जहाँ खुशी, वहाँ खो जायगा। अव कभी नहीं लौटेगा। कोल-तार की सड़क, दोपहर की धूप से तप उठी थी। कहीं-कहीं कोलतार पिघलना शुरू हो गया था। खाली पैर चलने में कष्ट हो रहा था। फिर भी, वह उसी रास्ते पर भागता हुआ आगे निकल गया।

काफी देर भागने के वाद पैर नहीं चलते। सारे अंग में आग छूट रही थी, सवसे ज्यादा धू-धू कर के जल रही थी पेट की आग। वही, सुवह के समय दो मुट्ठी मुरमुरा खाया था, जो कभी का पानी वन चुका था। उसके वाद पेट में और कुछ नहीं पड़ा। सामने, रास्ते के पार एक पेड़ देख उसकी छाया में वैठ गया। ऐसा लग रहा था जैसे चारों ओर अँधेरा हो।

कुछ क्षण सुस्ता लेने के वाद जव माथा थोड़ा ठंडा हो गया, मन के कोने में

घर लौटने की बात उठी। कितनी दूर निकल आया। माँ अवश्य ही चिन्ता कर रही होगी। साथ ही साथ मन फिर कठोर हो गया। नहीं, अब वह घर नहीं जायगा, कभी भी नहीं। माँ नहीं, उसका कोई भी नहीं है, उसे कोई भी प्यार नहीं करता। कुछ मिनट बीतते न बीतते दिल फिर नरम हो गया। घूम-फिर कर माँ का वही रोग-जीर्ण मुख आँखों के सामने आ कर छाने लगा। साथ ही दोनों आँखों में जल भर आया। झटपट आँसू पोंछा, वह काठ बना उसी पेड़ के नीचे बैठा रहा।

फिर न जाने कब क्षुधार्त-क्लांत शरीर घास पर पसर गया। दोनों आँखों में नींद उतर आयी।

पेड़ एकदम रास्ते पर न हो कर, उससे थोड़ा हट कर मैदान में एक तलैया के किनारे था। उसके आसपास और कोई नहीं था। सुनसान मैदान में दो-चार बकरे चर रहे थे, कुछ बछड़े भी इधर-उधर घूम रहे थे। रास्ते की तरफ से दो लोग बातें करते हुए आ खड़े हो गये, जहाँ मुन्ना सोया था उससे उलटी तरफ। दोनों ही लुंगी पहने थे, एक के तन पर मैले रंग की बनियान थी और दूसरा कुछ साफ बंडी पहने था। उनमें से बड़ी उम्र के आदमी के गले में काले सूत से बँधा चांदी का लटकन लटका था, दोनों हाथों में गुदना गुदा था। उसने कान में बीड़ी खोंस रखी थी। बहुत बड़े-बड़े बाल भोंड़े ढंग से कटे हुए थे। दूसरा लड़का-सा ही था—आँखें गड्ढों में धँसी हुई, सूखा चेहरा, ठीक से कटे और आगे से सम्हाल कर काढ़े बाल।

वयस्क व्यक्ति ने बंडी की जेब से दियासलाई निकाल कर कान में खुंसी बीड़ी जलाई। जोर से कश ले ढेर-सा धुआँ छोड़ कर बोला, "पुलिस चली गयी?"

"कहाँ? जा कर फिर लौट आयी ना।"

"सालों को पता लग गया।"

"मुझे भी ऐसा लगता है। घूम-घूम कर मेरी तरफ देख रही थी।"

"जरूर किसी साले ने थाने में खबर की है।"

"करने की बात ही है। सात दिन में सात 'माल' तो हम ही सफा कर गये।" छोकरा मृदु हँसी हँस कर बोला।

"हूँह, इसी से पहरा विठा दिया है। बच्चा, अब यहाँ गुंजाइश नहीं रही।"

बीड़ी फेंक कदम बढ़ाते-बढ़ाते हठात् मुन्ने की ओर नजर पड़ते ही 'बंडी' बोल उठा, "अरे, वह कौन है?"

'बनियान' पास जा कर उसे देख खुशी से बोला, "वाह, बहुत छोटा लड़का है। भले घर का मालूम पड़ता है। उससे नहीं करवाया जा सकता? कोई भी शक नहीं करेगा।"

"ठहर," कह कर, आगे पहुँच मुन्ने के सिर के पास खड़े हो 'बंडी' ने पुकारा, "ऐ मुन्ने....।"

मुन्ना की नींद टूट गयी। आँखें मल कर आदमी का चेहरा देखते ही भयभीत हो कर उठ बैठा। 'बंडी' ने यथासंभव कोमल स्वर में पूछा, "तुम कहाँ रहते हो ?"

"बस्ती में।"

"कौन सी बस्ती में ?"

"वह उधर।" हाथ उठा कर रास्ते की तरफ दिखा दिया।

"यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं।"

मुन्ना की आँख के नीचे आँसू का निशान तब भी लगा था। उस ओर देख मृदु हँसी हँस 'बंडी' सस्नेह बोला, "लगता है, माँ ने गुस्सा किया है ?"

माँ का नाम सुनते ही मुन्ने की दोनों आँखें छलछला उठीं। झट से मुँह घुमा कर जवाब दिया "नहीं।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"श्री दिलीप कुमार भट्टाचार्य।"

"वाह ! बहुत अच्छा नाम है। खाना खाया है ?"

मुन्ना ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। 'बंडी' ने फिर पूछा, "भूख लगी है ?"

"नहीं," कह कर उठ खड़ा हुआ दिलीप।

"कहाँ जा रहे हो ?"

"घर।"

उसके चलना शुरू करते ही बंडी ने वापस बुला लिया, "सुनो, सुनो, एक काम कर सकते हो ?"

"कौन सा काम ?"

"यही जो बकरे चरते फिर रहे हैं, उनमें से एक को पकड़ कर ला सकते हो ?"

"नहीं," बोल कर दिलीप ने फिर जाने के लिए कदम बढ़ाया।

"आठ आने देंगे। दूकान से पेट भर मिठाई खा कर घर चले जाना।"

खाने का नाम सुनकर दिलीप के पेट में फिर से ज्वाला धधक उठी। दोनों पाँव पहले से ही काँप रहे थे, अब अवश हो उठे। हृदय के अंदर से रुलाई फूट निकली।

उस व्यक्ति की तीक्ष्ण दृष्टि ने मुन्ने के इस भाव-परिवर्तन को लक्ष्य किया। पास आ उसका एक हाथ पकड़ कर बोला, "बैठो, बैठो। बहुत भूख लगी है, न ? ठहरो, खाना मँगा देता हूँ।"

दिलीप ने जैसे-तैसे स्वयं को संयत कर दृढ़ स्वर में कहा, "नहीं। मैं घर जाऊँगा।"

"ठीक है। उससे पहले दो मिठाई खाने में क्या बुराई है ? जा तो रशीद, मुन्ना

के लिए झट से थोड़ा खाना ले आ।"

वंडी की जेब से पैसे देते ही छोकरे जैसा व्यक्ति भागता हुआ चला गया। मुन्ना के सिर और पीठ पर हाथ से सहलाते-सहलाते 'वंडी' ने फिर पूछा, "तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं?"

"पिताजी नहीं हैं।"

"नहीं हैं? ओह!" मुंह से थोड़ी सहानुभूतिपूर्ण आवा। "तुम्हारे कितने भाई-बहन हैं?"

"कोई भी नहीं।"

"सिर्फ तुम और तुम्हारी मां हैं?"

"हां।" कहते हुए दिलीप का स्वर रुंध गया।

रशीद मिठाई ले आया, पर मुन्ना किसी भी तरह पैकेट लेने को तैयार नहीं हुआ। दोनों ने बहुत कह-सुन कर आखिर में उसे राजी कर लिया। खाना पेट में जा कर दिलीप के तन में जैसे जान आयी। कृतज्ञता जताने लायक उसकी आयु नहीं हुई थी। खा चुकने पर खुशी भरी लजीली दृष्टि उठा कर उस भद्दे बालोंवाले रूखे चेहरे के व्यक्ति की ओर देख, थोड़ा हँसा और तुरंत ही आँखें झुका लीं।

इसी बीच मैदान की लगभग सारी जगह को घेर कर उतर आयी कार्तिक महीने की शाम की छाया। उस ओर देखते ही दिलीप फिर घर जाने के लिए व्यस्त हो उठा। 'वंडी' ने उसके मन की बात समझ कर कहा, "अकेले जा सकते हो घर?"

दिलीप ने सिर हिला कर जताया, "जा सकता हूं।"

"अब मेरा वह काम तो करते जाओ।"

"क्या काम?"

"वही जो बताया था, एक बकरा पकड़ कर ला दो।"

"जिसका बकरा है, अगर वह गुस्सा करेगा, तो?"

"गुस्सा कौन करेगा? वे तो सब मेरे ही बकरे हैं।"

"तुम्हारे?"

"हां, सब मेरे हैं," कह कर हँसने लगा 'वंडी'।

दिलीप ने विस्मित दृष्टि से उसकी ओर ताका। रशीद बोला, "मैदान के पास ही हमारा घर है। वहां से रोज चरने आते हैं।"

"तुम लोग नहीं पकड़ सकते?"

"बकरे बहुत पाजी हैं," वंडी ने उत्तर दिया, "बड़ों के पकड़ने जाते ही भाग जाते हैं, छोटे लड़के के हाथ में झट से पकड़ में आ जाते हैं।"

"अच्छा!" बहुत कौतुक लगा मुन्ना को।

"तुम्हारे बराबर ही मेरा एक लड़का है। वही रोज आता है। आज उसकी

मुन्ना की नींद टूट गयी। आँखें मल कर आदमी का चेहरा देखते ही भयभीत हो कर उठ बैठा। 'बंडी' ने यथासंभव कोमल स्वर में पूछा, "तुम कहाँ रहते हो?"

"बस्ती में।"

"कौन सी बस्ती में?"

"वह उधर।" हाथ उठा कर रास्ते की तरफ दिखा दिया।

"यहाँ क्या कर रहे हो?"

"कुछ नहीं।"

मुन्ना की आँख के नीचे आँसू का निशान तब भी लगा था। उस ओर देख मृदु हँसी हँस 'बंडी' सस्नेह बोला, "लगता है, माँ ने गुस्सा किया है?"

माँ का नाम सुनते ही मुन्ने की दोनों आँखें छलछला उठीं। झट से मुँह घुमा कर जवाब दिया "नहीं।"

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"श्री दिलीप कुमार भट्टाचार्य।"

"वाह! बहुत अच्छा नाम है। खाना खाया है?"

मुन्ना ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। 'बंडी' ने फिर पूछा, "भूख है?"

"नहीं," कह कर उठ खड़ा हुआ दिलीप।

"कहाँ जा रहे हो?"

"घर।"

उसके चलना शुरू करते ही बंडी ने वापस बुला लिया, "सुनो, सुनो, एक काम सकते हो?"

"कौन सा काम?"

"यही जो बकरे चरते फिर रहे हैं, उनमें से एक को पकड़ कर ला सकते हो?"

"नहीं," बोल कर दिलीप ने फिर जाने के लिए कदम बढ़ाया।

"आठ आने देंगे। दूकान से पेट भर मिठाई खा कर घर चले जाना।"

खाने का नाम सुनकर दिलीप के पेट में फिर से ज्वाला धधक उठी। दोनों पाँव पहले से ही काँप रहे थे, अब अवश हो उठे। हृदय के अंदर से रुलाई फूट निकली।

उस व्यक्ति की तीक्ष्ण दृष्टि ने मुन्ने के इस भाव-परिवर्तन को लक्ष्य किया। पास आ उसका एक हाथ पकड़ कर बोला, "बैठो, बैठो। बहुत भूख लगी है, न? ठहरो, खाना मँगा देता हूँ।"

दिलीप ने जैसे-तैसे स्वयं को संयत कर दृढ़ स्वर में कहा, "नहीं। मैं घर जाऊँगा।"

"ठीक है। उससे पहले दो मिठाई खाने में क्या बुराई है? जा तो रशीद, मुन्ना

के लिए झट से थोड़ा खाना ले आ।"

वंडी की जेब से पैसे देते ही छोकरे जैसा व्यक्ति भागता हुआ चला गया। मुन्ना के सिर और पीठ पर हाथ से सहलाते-सहलाते 'वंडी' ने फिर पूछा, "तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं ?"

"पिताजी नहीं हैं।"

"नहीं हैं ? ओह !" मुंह से थोड़ी सहानुभूतिपूर्ण आवाज [illegible] वह बोला. "तुम्हारे कितने भाई-बहन हैं ?"

"कोई भी नहीं।"

"सिर्फ तुम और तुम्हारी माँ हैं ?"

"हाँ।" कहते हुए दिलीप का स्वर रुंध गया।

रशीद मिठाई ले आया, पर मुन्ना किसी भी तरह पैकेट लेने को तैयार नहीं हुआ। दोनों ने बहुत कह-सुन कर आखिर में उसे राजी कर लिया। खाना पेट में जा कर दिलीप के तन में जैसे जान आयी। कृतज्ञता जताने लायक उसकी आयु नहीं हुई थी। खा चुकने पर खुशी भरी लजीली दृष्टि उठा कर उस भद्दे वालोंवाले रूखे चेहरे के व्यक्ति की ओर देख, थोड़ा हँसा और तुरंत ही आँखें झुका लीं।

इसी बीच मैदान की लगभग सारी जगह को घेर कर उतर आयी कार्तिक महीने की शाम की छाया। उस ओर देखते ही दिलीप फिर घर जाने के लिए व्यस्त हो उठा। 'वंडी' ने उसके मन की बात समझ कर कहा, "अकेले जा सकते हो घर ?"

दिलीप ने सिर हिला कर जताया, "जा सकता हूँ।"

"अब मेरा वह काम तो करते जाओ।"

"क्या काम ?"

"वही जो बताया था, एक बकरा पकड़ कर ला दो।"

"जिसका बकरा है, अगर वह गुस्सा करेगा, तो ?"

"गुस्सा कौन करेगा ? वे तो सब मेरे ही बकरे हैं।"

"तुम्हारे ?"

"हाँ, सब मेरे हैं," कह कर हँसने लगा 'वंडी'।

दिलीप ने विस्मित दृष्टि से उसकी ओर ताका। रशीद बोला, "मैदान के पास ही हमारा घर है। वहाँ से रोज चरने आते हैं।"

"तुम लोग नहीं पकड़ सकते ?"

"बकरे बहुत पाजी हैं," वंडी ने उत्तर दिया, "बड़ों के पकड़ने जाते ही भाग जाते हैं, छोटे लड़के के हाथ में खट से पकड़ में आ जाते हैं।"

"अच्छा !" बहुत कौतुक लगा मुन्ना को।

"तुम्हारे बराबर ही मेरा एक लड़का है।"

तवीयत ठीक नहीं है, इसीलिए तो मुश्किल में पड़ा हूँ।"

मुन्ना सोचने लगा। कुछ चरण मैदान की तरफ देखते रह कर वोला, "इतने सारे मैं अकेले कैसे पकड़ूँगा ?"

"इतने सारे पकड़ने को कौन कहता है ? सिर्फ एक पकड़ना। एक को पकड़ पाने से ही वाकी सव सुड़-सुड़ करते हुए पीछे-पीछे चले आयेंगे।"

मुन्ना हँस पड़ा, "यह तो खूब मजे की वात है।"

"और फिर हम क्या कह रहे हैं ? जाओ, और देर मत करो। तुम्हें भी त घर जाना है न ? पकड़ कर देते ही आठ आने मिलेंगे।" कह कर जेव से अठन्नी निका कर दिखायी।

मुन्ना उस ओर देखे विना ही उत्साह के साथ मैदान में उत्तर पड़ा। वंडी ने पुकार कर कहा, "ठहरो, ठहरो, यह अँगोछा ले जाओ। गले में एक फंदा डाल कर ले आना।" वहीं से अँगोछे को गेंद के समान गोल-गोल लपेट कर उसने मुन्ना की ओर फेंक दिया। मुन्ना उसे उठा कर भागता हुआ चला गया।

दिलीप ने काम जितना आसान समझा था, असल में देखा गया उतना आसान नहीं था। जानवर वहुत चालाक थे। पास पहुँचते न पहुँचते झट से सटक जाते। अगर भाग कर पकड़ने जाओ, तो किसका वश कि उन्हें पकड़ सके ! कोई-कोई तो सींग अड़ाता हुआ उस पर लपकता। मैदान में भाग-दौड़ करते-करते उसका सारा तन पसीने से भर गया, फिर भी एक वकरा पकड़ में नहीं आया। दिलीप के मन में रोष भर गया। जैसे भी हो, पकड़ना ही होगा। नहीं तो उन लोगों को अपना मुँह कैसे दिखायेगा ? सहसा दिखायी पड़ा, एक मोटा वकरा अपना पीछे वाला एक पैर थोड़ा घसीट-घसीट कर चल रहा है। सवको छोड़, अव उसने लंगड़े वकरे के पीछे धावा किया और काफी देर तक भाग-दौड़ करने के वाद किसी-न-किसी तरह उसके गले में अँगोछे का फंदा डाल दिया।

रात होने में ज्यादा देर नहीं थी। लँगड़े वकरे को खींचता खींचता प्राणपण से वरगद के पेड़ की ओर जव जा रहा था, पीछे से किसी की पुकार सुन ठिठक कर खड़ा हो गया। सर्वनाश ! यह तो पुलिस है ! हाथ में एक मोटी लाठी लिए दनदनाता हुआ उसी की तरफ आ रहा था एक कांस्टेवल। लाठी का इशारा कर रुकने को कह रहा था। मुन्ना के दोनों पैर जैसे धरती से चिपक गये हों। पाँव से सिर तक पसीना हहरा कर निकल पड़ा।

वस्ती जीवन के साथ पुलिस नामक तत्व का संवंध अत्यधिक घना है। वहाँ के वच्चे उसकी पगड़ी देख कर लाल रंग पहचानना सीखते हैं और माताएँ सिपाहियों का डर दिखा कर वच्चों को सुलाती हैं। कैसे-कैसे कितने विचित्र लोगों का वास इन खपरैल-ढके घरों में होता है और होता है कितने ही विचित्र चरित्रों का समावेश।

जिस प्रकार गलियों में दिन के समय भी अंधकार रहता है, वहां जिन लोगों का आना-जाना है, उन्हीं में से अनेक वैसे ही अंधकार के प्राणी हैं। जीवन का एक पहलू परदे से ढका रहता है। पर वह सदा नहीं ढका रह पाता। पुलिस की संधानी दृष्टि की सर्चलाइट एक दिन उस अदृश्य परदे को भेद कर असली अपराधी को खींच कर बाहर करती है।

गली के मोड़ से तीन घर छोड़ पक्की दीवाल से घिरी टीन की चाल में कुछ वर्ष पहले जो व्यक्ति रहता था, वह शुद्धाचारी, स्वपाक भोजी, मिष्टभाषी ब्राह्मण था; प्रतिदिन जोर-जोर से मंत्रपाठ करता, गंगा से रामनामी दुपट्टा ओढ़ स्नान करके लौटता। शाम को टीका लगा कर स्मित मुख पड़ोसियों से कुशल-क्षेम पूछता हुआ धीरे-धीरे चल कर किसी दिन मंदिर जाता तो किसी दिन शिष्य-गृह। हठात् एक दिन भोर के समय उसके घर का दरवाजा तोड़ लाल पगड़ी वाले घुस पड़े। लक्ष्मी के आसन के नीचे से निकाल बाहर किया कई सेर गांजा। दीवाल की ईंट हटा कर खोज निकाले नोटों के कई बंडल। उसके बाद भोजपुरी सिपाहियों के पैरों की ठोकर खा कर राम-नामी दुपट्टे के खोल के अंदर से निकल पड़ा जेलयाफ्ता भजा। गुंडे को कमर में डोरी बँधवा और हाथ में हथकड़ी पहन थाने जाना पड़ा।

नव-विवाह के बाद सिंदूर से मांग भरे, पति के साथ संसार बसाने आयी माधुरी। आय अल्प थी, ज्यादा भाड़े का घर लेना साध्य था क्या? इसीलिए बाध्य होकर बस्ती में आना पड़ा। निर्मला के बगल वाले घर में संसार जमाया। माधुरी माधुरी थी, नाम के अनुकूल ही रूप मिला था और वैसा ही मिला था स्वभाव। इतनी घनिष्ठ हो गयी थी कि जैसे एक मां के पेट से ही पैदा हुई निर्मला की बहन हो। अनजान लोग दीदी ही समझते। पति के साथ जब भी घूमने जाती, मुन्ना के लिए कुछ न कुछ हाथ में लेकर लौटती—कभी एक डिब्बा चाकलेट, कभी स्प्रिंग से चलने-वाली मोटरगाड़ी। निर्मला के पूछताछ करने पर हँस के उड़ा देती, गले में बाहें डाल, गुस्से से होंठ पिचका कर कहती, "इसी से तुम्हारा-मेरा झगड़ा। अब कभी नहीं आऊँगी तुम्हारे घर।"

किंतु पति घर से थोड़ा भी बाहर नहीं जाता था। क्या करता है? उनका गुजारा कैसे होता है? न जाने कैसे निर्मला के मन में संदेह हुआ। आसपास के घरों में जो रहते थे, उनके मुंह पर भी यही छाया, बातचीत का एक ही स्वर। नव-दम्पति का चाल-चलन भी न जाने कैसे बदल गया। शुरू-शुरू में जो हँसी होती थी, उसी में अब दबी-दबी कलह की आवाज निकल पड़ी। ज्यादा दिन वह भी नहीं दबी रही। आधी रात में माधुरी के चीत्कार से निर्मला की नींद टूट गयी। भाग कर जा के देखा, माधुरी गले पर हाथ रखे हांफ रही थी। दोनों आंखें आग का गोला थीं अभी बाहर निकल पड़ेंगी जैसे।

"क्या हुआ ? तुम्हारे पति कहाँ हैं ?" निर्मला ने पूछा।

"किसका पति ! मेरा विवाह नहीं हुआ है।"

"क्या कह रही हो ?"

"विवाह करने के लिए वहका कर ले आया है। एक-एक सव गहने गँवा कर आज आया था यह हार लेने। नहीं दूँगी कहने पर गला दवा रहा था। थोड़ा होने से मार डालता।"

कहते-कहते निर्मला को दोनों हाथों से पकड़ कर उसकी छाती में मुँह छिपा फूट-फूट कर रो उठी।

नारी कंठ का चीत्कार सुन आस-पास से स्त्री-पुरुषों का एक झुंड भागता हुआ आ पहुँचा। तमाशे की गंध पा उन्होंने अव जाना नहीं चाहा। भीड़ वढ़ती रही। दो-चार अति उत्साही युवक लपक कर अँधेरे में घुस पड़े और कुछ क्षण में ही पति को ला कर पेश कर दिया, जनता के दरवार में। टीका-टिप्पणी, तानाकशी तो चली ही, उसके साथ चले घूंसे और तमाचे। उसे भी कहने के लिए वहुत कुछ था और उसने अपने रोचक वर्णन के साथ प्रेम-पत्रों की एक गड्डी पेश कर दी। नाट्यरस जव खूब जम चुका था, उसी समय नितांत अरसिक के समान पुलिस का आविर्भाव हुआ।

नायक के हाथ में हथकड़ी पड़ी। वह चला गया। नायिका को भी जाना होगा। कहाँ ? अंततः किसी उद्धार आश्रम में। इतना ही वता सका थाना-इंचार्ज। इससे अधिक कुछ नहीं मालूम था उसे। निर्मला भी क्या जाने ? उसने जाने से पहले निर्मला का वक्ष आँसुओं से तर कर दिया। और अंतिम वार के समान उसने जव यह पूछा, "मेरा क्या होगा दीदी ? मैं कहाँ जाऊँगी ?" तो निर्मला निरुत्तर रही। लड़कों को फिर भी एक आश्रम जुट जाता है। और कहीं न होने पर जेल तो है ही। वह भी कितने दिन ? उसके वाद फिर से नया निर्वाध जीवन। एक वार कहाँ क्या घट चुका है, यौवन के नशे में पड़ कर कव किसके साथ क्या हुआ, यह प्रश्न कोई नहीं उठायेगा। शायद उसके लिए फिर एक दिन किसी कुंवारी कन्या के पितृ-गृह में धूम-धाम हो जायगी। उसके जीवन में नयी पत्नी आयगी, प्रेम का नया आस्वाद मिलेगा।

और इस लड़की को ? उसके लिए रहेगी क्षमाहीन मनुष्य की सदा जाग्रत प्रखर दृष्टि, जिसके सामने उसे तिल-तिल कर डूवना होगा, कोई एक डोंगा भी उसकी ओर नहीं वढ़ायेगा।

ऐसे ही दृश्य दिलीप अपने शिशुकाल से देखता रहा था। इसके साथ ही इस लाल पगड़ी नामक भयानक वस्तु का अप्रतिहत प्रचंड प्रताप उसके कच्चे मन पर अमिट वना हुआ था। उसी पुलिस के एक कांस्टेवल को लाठी उठाये पास आते देख उसके तन में जैसे प्राण नहीं रहे। सिपाही ने हाँक लगायी, "वकरा किसका है ?

तुम्हारा ?"

"नहीं," सूखे गले से किसी-न-किसी प्रकार शब्द निकाला दिलीप ने।

"तब ?"

"उन लोगों का, उन्होंने मुझसे पकड़ने को कहा था।" उसने उँगली से पेड़ की ओर इशारा कर दिया।

सिपाही उस ओर देख कर बोला, "कौन ? कोई भी तो नहीं दिख रहा है।"

मुन्ना ने भी देखा, सचमुच वहाँ कोई नहीं था। पेड़ के नीचे एक दम सुनसान था। आस-पास भी कोई नहीं दिखायी पड़ा। उसका सिर चकरा गया। क्या जवाब दे, सोच नहीं पाया।

"सब झूठ बात," सिपाही ने डांट बतायी।

डांट खा कर दिलीप का सारा शरीर फिर काँप उठा। कंठ से स्वर नहीं फूटा।

सिपाही ने अब स्वर चढ़ाया, "तुम चोर है, बकरा चोरी करके भागता रहा।"

"नहीं, मैंने चोरी नहीं की," बोलते-बोलते रो पड़ा दिलीप, "सच कह रहा हूँ। दो लोगों ने कहा कि बकरा उनका है; पकड़ लाने पर आठ आने देंगे।"

अब 'हो हो' करके हँस पड़ा लाल पगड़ी वाला। अर्थात् इस प्रकार की अनोखी कहानी सिर्फ चोर ही गढ़ सकता है। हँसी रुकने पर दिलीप का बायाँ हाथ पकड़ कर बोला, "ठीक है, चलो।"

"मैं घर जाऊँगा।"

"हाँ-हाँ, घर जाना। बढ़िया घर, एकदम राजमहल में।"

थाने का नाम दिलीप ने सुना अनेक बार था, किन्तु वहाँ कभी जाना पड़ेगा, यह उसने कभी नहीं सोचा था। एक छोटी सी कोठरी में उसे धकेल, बाहर से ताला लगा कर बकरा साथ ले सिपाही चला गया। फर्श इतना गंदा था, जैसे किसी ने जान-बूझ कर किया हो। दिलीप खिड़की के पास सींखचे पकड़ कर खड़ा रहा, यद्यपि दोनों पैर उसे अधिक खड़ा नहीं रख पा रहे थे। रात हो गयी थी, कोठरी में उजाला नहीं था। न ही कोई अन्य व्यक्ति था। आसपास लोगों के होने की कोई आहट भी नहीं थी। पहले उसे डर लगा। पर ज्यादा देर नहीं। उसके बाद ही उसका सारा ध्यान, सारी चेतना माँ ने घेर ली। माँ क्या कर रही ? क्या फिर से बुखार आ गया है ? उसे खिलाये बिना माँ किसी दिन भी नहीं खाती। आज भी निश्चय ही नहीं खाया होगा। घर के दरवाजे पर वैसी ही परेशान हो रास्ते की ओर देखती हुई बैठी होगी, जैसे स्कूल से या खेल के मैदान से लौटने में थोड़ी-सी देर होने पर बैठ जाती थी। उसी विशेष मुद्रा में, माँ के उसी चिंताकुल चेहरे की याद आते ही दिलीप का हृदय अन्दर-ही-अन्दर तड़प उठा। दोनों आँखों में जल भर आया।

इसके बाद ही फिर मन में आया, माँ क्या आज चुप होकर बैठी रह सकती

"क्या हुआ ? तुम्हारे पति कहाँ हैं ?" निर्मला ने पूछा ।

"किसका पति ! मेरा विवाह नहीं हुआ है ।"

"क्या कह रही हो ?"

"विवाह करने के लिए बहका कर ले आया है । एक-एक सब गहने गँवा कर आज आया था यह हार लेने । नहीं दूँगी कहने पर गला दबा रहा था । थोड़ा होने से मार डालता ।"

कहते-कहते निर्मला को दोनों हाथों से पकड़ कर उसकी छाती में मुंह छिपा फूट-फूट कर रो उठी ।

नारी कंठ का चीत्कार सुन आस-पास से स्त्री-पुरुषों का एक झुंड भागता हुआ आ पहुँचा । तमाशे की गंध पा उन्होंने अब जाना नहीं चाहा । भीड़ बढ़ती रही । दो-चार अति उत्साही युवक लपक कर अँधेरे में घुस पड़े और कुछ क्षण में ही पति को ला कर पेश कर दिया, जनता के दरबार में । टीका-टिप्पणी, तानाकशी तो चली ही, उसके साथ चले घूंसे और तमाचे । उसे भी कहने के लिए बहुत कुछ था और उसने अपने रोचक वर्णन के साथ प्रेम-पत्रों की एक गड्डी पेश कर दी । नाट्यरस जब खूब जम चुका था, उसी समय नितांत अरसिक के समान पुलिस का आविर्भाव हुआ ।

नायक के हाथ में हथकड़ी पड़ी । वह चला गया । नायिका को भी जाना होगा । कहाँ ? अंततः किसी उद्धार आश्रम में । इतना ही बता सका थाना-इंचार्ज । इससे अधिक कुछ नहीं मालूम था उसे । निर्मला भी क्या जाने ? उसने जाने से पहले निर्मला का वक्ष आँसुओं से तर कर दिया । और अंतिम बार के समान उसने जब यह पूछा, "मेरा क्या होगा दीदी ? मैं कहाँ जाऊँगी ?" तो निर्मला निरुत्तर रही । लड़कों को फिर भी एक आश्रम जुट जाता है । और कहीं न होने पर जेल तो है ही । वह भी कितने दिन ? उसके बाद फिर से नया निर्बाध जीवन । एक बार कहाँ क्या घट चुका है, यौवन के नशे में पड़ कर कब किसके साथ क्या हुआ, यह प्रश्न कोई नहीं उठायेगा । शायद उसके लिए फिर एक दिन किसी कुंवारी कन्या के पितृ-गृह में धूम-धाम हो जायगी । उसके जीवन में नयी पत्नी आयगी, प्रेम का नया आस्वाद मिलेगा ।

और इस लड़की को ? उसके लिए रहेगी क्षमाहीन मनुष्य की सदा जाग्रत प्रखर दृष्टि, जिसके सामने उसे तिल-तिल कर डूबना होगा, कोई एक डोंगा भी उसकी ओर नहीं बढ़ायेगा ।

ऐसे ही दृश्य दिलीप अपने शिशुकाल से देखता रहा था । इसके साथ ही इस लाल पगड़ी नामक भयानक वस्तु का अप्रतिहत प्रचंड प्रताप उसके कच्चे मन पर अमिट बना हुआ था । उसी पुलिस के एक कांस्टेबल को लाठी उठाये पास आते देख उसके तन में जैसे प्राण नहीं रहे । सिपाही ने हाँक लगायी, "बकरा किसका है ?

तुम्हारा ?"

"नहीं," सूखे गले से किसी-न-किसी प्रकार शब्द निकाला दिलीप ने।

"तब ?"

"उन लोगों का, उन्होंने मुझसे पकड़ने को कहा था।" उसने उँगली से पेड़ की ओर इशारा कर दिया।

सिपाही उस ओर देख कर बोला, "कौन ? कोई भी तो नहीं दिख रहा है।"

मुन्ना ने भी देखा, सचमुच वहाँ कोई नहीं था। पेड़ के नीचे एक दम सुनसान था। आस-पास भी कोई नहीं दिखायी पड़ा। उसका सिर चकरा गया। क्या जवाब दे, सोच नहीं पाया।

"सब झूठ बात," सिपाही ने डांट बतायी।

डांट खा कर दिलीप का सारा शरीर फिर कांप उठा। कंठ से स्वर नहीं फूटा।

सिपाही ने अब स्वर चढ़ाया, "तुम चोर है, बकरा चोरी करके भागता रहा।"

"नहीं, मैंने चोरी नहीं की," बोलते-बोलते रो पड़ा दिलीप, "सच कह रहा हूं। दो लोगों ने कहा कि बकरा उनका है; पकड़ लाने पर आठ आने देंगे।"

अब 'हो हो' करके हँस पड़ा लाल पगड़ी वाला। अर्थात् इस प्रकार की अनोखी कहानी सिर्फ चोर ही गढ़ सकता है। हँसी रुकने पर दिलीप का बायां हाथ पकड़ कर बोला, "ठीक है, चलो।"

"मैं घर जाऊँगा।"

"हां-हां, घर जाना। बढ़िया घर, एकदम राजमहल में।"

थाने का नाम दिलीप ने सुना अनेक बार था, किन्तु वहां कभी जाना पड़ेगा, यह उसने कभी नहीं सोचा था। एक छोटी सी कोठरी में उसे धकेल, बाहर से ताला लगा कर बकरा साथ ले सिपाही चला गया। फर्श इतना गंदा था, जैसे किसी ने जान-बूझ कर किया हो। दिलीप खिड़की के पास सींखचे पकड़ कर खड़ा रहा, यद्यपि दोनों पैर उसे अधिक खड़ा नहीं रख पा रहे थे। रात हो गयी थी, कोठरी में उजाला नहीं था। न ही कोई अन्य व्यक्ति था। आसपास लोगों के होने की कोई आहट भी नहीं थी। पहले उसे डर लगा। पर ज्यादा देर नहीं। उसके बाद ही उसका सारा ध्यान, सारी चेतना मां ने घेर ली। मां क्या कर रही ? क्या फिर से बुखार आ गया है ? उसे खिलाये बिना मां किसी दिन भी नहीं खाती। आज भी निश्चय ही नहीं खाया होगा। घर के दरवाजे पर वैसी ही परेशान हो रास्ते की ओर देखती हुई बैठी होगी, जैसे स्कूल से या खेल के मैदान से लौटने में थोड़ी-सी देर होने पर बैठ जाती थी। उसी विशेष मुद्रा में, मां के उसी चिंताकुल चेहरे की याद आते ही दिलीप का हृदय अन्दर-ही-अन्दर तड़प उठा। दोनों आंखों में जल भर आया।

इसके बाद ही फिर मन में आया, मां क्या आज चुप होकर बैठी रह सकती

है ? निश्चय ही चारों ओर छटपटाती हुई भाग-दौड़ कर रही होगी । जिसको पाती होगी, उसीसे पूछती होगी—मेरा मुन्ना देखा है क्या ? कोई बता नहीं पाता होगा। कैसे कोई बतायेगा ? वे लोग तो कुछ जानते नहीं । काहे को मरने के लिए इतनी दूर निकल आया था ? हठात् न जाने दिमाग में क्या आया कि सोचने जाकर खुद को काट डालने की इच्छा हुई उसे । साथ-ही-साथ मन के एक कोने से प्रश्न उठा—इसमें उसका क्या दोष ? माँ ने उसे मारा क्यों ? उसने कोई जान-बूझ कर तो हारू को चोट मारी नहीं । ठीक किया जो चला आया । एक क्षण के लिए इसी गुस्से का सहारा ले दिलीप ने इस पर खड़े रहना चाहा । किन्तु वह टिका नहीं, उसके शिशु मन के सारे स्थान पर जो वेदना का भार था, उसी के दबाव से वह कहीं डूब गया । माँ ही उसका सब कुछ थी ।

काफी देर बाद दूसरा सिपाही आकर ताला खोल उसे अफसर के कमरे में बुला ले गया । खाकी पोशाक पहने एक भले व्यक्ति ने उससे बहुत मुलायम स्वर में अनेक बातें पूछीं और बीच-बीच में रुक कर कागज पर लिखता गया ।

"वह आदमी दिखने में कैसा था, बताओ तो बेटा ?"

"बदसूरत था ।"

"बदसूरत !" हँस पड़ा अफसर । "फिर तुमने उसकी बात सुनी क्यों ?"

दिलीप क्या जवाब दे, सोच नहीं पाया । चुप खड़ा रहा ।

"आठ आने देने कहे थे ?"

दिलीप सिर झुकाए पैर के अँगूठे से फर्श कुरेदने लगा ।

"छीः छीः, आठ आने के लिए तुमने एक बकरा चुराया ?"

"मैंने चोरी नहीं की," सिर झुकाए ही दिलीप बोला । उसके कंठस्वर और बोलने की भंगिमा में दृढ़ता का आभास था, थाना-अफसर कुछ क्षण उसके मुँह की ओर देखता रहा । पास की मेज से एक अन्य व्यक्ति बोला, "आहा, चोरी क्यों कह रहे हैं ? वह तो इसकी मजदूरी थी ।" कह कर ही हँस पड़ा वह । थाना-अफसर ने उस हँसी में योग नहीं दिया, दिलीप से प्रश्न किया, "तुम्हारा वह 'बदसूरत' आदमी क्या पहने था ?"

"लुंगी ।"

"और ?"

"और एक बंडी । सिर पर बेढंगे बाल थे ।"

"देखा आपने, कसाइयों ने तरीका बदल दिया है," सहकारी की ओर देख कर अफसर बोला, "खुद पीछे रह कर इन सब बच्चों को लेकर काम पूरा करते हैं ।"

"इसमें कोई झंझट नहीं होता," सहकारी ने उत्तर दिया, "दो-चार आने से ही भटकते हुए बच्चे मिल जाते हैं ।"

"किन्तु इसे देख कर ऐरा-गैरा लड़का नहीं माना जा सकता।" फिर दिलीप की ओर घूम कर बोले, "तुम्हारे पिता कितने दिन पहले मरे ?"

"मुझे पता नहीं।"

"माँ क्या करती है ?"

"एक साहब के मकान पर सिलाई सिखाती है।"

"तुम लोग किस बस्ती में रहते हो ?"

"वहाँ, उस ओर।"

"उस ओर कहाँ ? बेलाघाट में ?"

"हाँ।"

"रास्ते का नाम-वाम कुछ बता सकते हो ?"

दिलीप ने सिर हिलाया। फिर जैसे बहुत बड़ी खबर दे रहा हो, उसी भाव से आँखें बड़ी-बड़ी कर बोला, "वहीं, जहाँ बड़ा-सा आम का पेड़ है। उसके पास नल है। वहीं।"

"अब समझिए।" सहकारी हँस पड़ा। अफसर एक सिपाही को बुला कर बोला, "इसे ले जाओ।"

दिलीप बोल उठा, "मैं घर जाऊँगा।"

"बस्ती में कैसे जाओगे ? आज यहाँ रहो। कल भेज देंगे।"

थाना-अफसर के उठ कर बरामदे में पहुँचते ही एक व्यक्ति ने झुक कर नमस्कार किया।

"क्या चाहते हो ?"

"जी, बकरा मेरा है, बड़े बाबू।"

"सबूत क्या है ?"

"जी, एक पैर लँगड़ा है।"

"वह तो कई बकरों का हो सकता है।"

"वह तो ठीक है। उसे मुझे दे दीजिए बड़े बाबू। उसके लिए...."

"क्यों ? तुम्हें क्यों दे दें मेरा बकरा ?" अँधेरे में से एक स्त्री मूर्ति गरज उठी।

"यह कौन है ?" विस्मय के स्वर में दरोगा जैसे अपने मन में बोला हो।"

"वह पागल है।"

"पागल ! पागल होगा तू, पागल होगा तेरा बाप," रणचंडी का रूप ले सामने आयी एक मूर्ति, "आप दस लोगों से पूछ देखिए, बड़ा बाबू, दो माह पहले, यह बकरा मुझे बेचा था नहीं ? छह रुपये बारह आने मेरे दूध के दाम से काटे था नहीं ? लँगड़ा होने की वजह से बारह आने छुड़ाने की कितनी कोशिश की थी। बोला था, यह नहीं होगा।"

"सब झूठ बात है, सर !"

"क्या ? मैं झूठ बोल रही हूँ ? तो चल बस्ती में, गवाही दिलाये देती हूँ।" कहते ही अपने प्रतिपक्षों को सावधान होने का कोई अवसर न दे कर खट से उसका एक हाथ पकड़ लिया। उस औरत के आकस्मिक आक्रमण से पहले थोड़ा हतबुद्धि हो कर वह व्यक्ति बाद में 'छोड़-छोड़' कह कर यथा रीति पुरुषत्व प्रदर्शन करने लगा। किन्तु देखा गया, भगवान ने उसे जिसके चंगुल में फँसाया है वह अबला होने पर भी देह में उससे कहीं अधिक ताकतवर है। नारी पक्ष की जय की संभावना दिखायी दी। इससे भी बढ़ कर दुःख की बात यह कि आसपास खड़े लोग जो तमाशा देख रहे थे, वे सब भी पुरुष थे, किन्तु स्वजाति के उद्धार के लिए आगे नहीं बढ़े।

देखते-देखते पुरुष का तर्जन का स्वर उतर आया, आवेदन के स्वर में। विजयिनी जब उसे हड़हड़ करके खींचती हुई लिये जा रही थी, विजित के कंठ से बाहर निकला चिचियाहट का स्वर—"देखा, बड़े बाबू, इस औरत का काम देख लिया ? आपकी आँखों के सामने...."

बाकी बात सुनाई नहीं पड़ी।

● ● ●

तीन

निर्मला के रसोईघर में उस दिन फिर चूल्हा नहीं जला। 'अब आता होगा,' 'अब आता होगा' सोचते-सोचते बहुत समय बीत गया। रास्ते के आम के घने पेड़ की छाया दीर्घतर होती हुई धीरे-धीरे मैदान भर में छा गयी। इसके साथ ही भय और आशंका की काली छाया ने उसके मन को भी आच्छन्न कर लिया। इस बीच वह दो-तीन बार बिनू की माँ के पास घूम आयी। अंदर-ही-अंदर उद्वेग अनुभव कर के भी बाहर से उसने बार-बार आश्वासन दिया था, "जायगा ही कहाँ ? थोड़ी देर में लौट आयगा। तू घर जा। रोगी शरीर लेकर ज्यादा दौड़-भाग मत कर। न हो, यहीं थोड़ा लेट ले।"

"नहीं दीदी, मैं जा रही हूँ। अगर आ गया, तो मुझे न देख कर डर जायगा। बहुत जल्दी डर जाने वाला लड़का ठहरा ना !"

संध्या हो जाने पर निर्मला फिर स्थिर न रह सकी। उस घर में जा कर रो पड़ी, "मेरा मन कह रहा है, जरूर कोई विपदा आयी है। मुन्ना अब नहीं लौटेगा।"

"अच्छा-अच्छा, बस कर ! माँ होकर ऐसी बुरी बात बोलती है ? छी:।"

"मेरा भाग्य जो फूटा हुआ है, दीदी ! बुरी बात ही मन में पहले आती है। अगर ऐसा न होता तो मेरा दिमाग अचानक इतना खराब क्यों हो जाता ? न जाने कहाँ से यह चांडाल गुस्सा आ गया ? उस पर हाथ उठाना तो दूर, किसी दिन एक कड़ी

बात भी नहीं बोली थी। दोनों जून दो मुट्ठी खाना नहीं दे सकती थी। इस पर भी गुस्सा किस मुंह से करती ?"

ऐसी ही कितनी बातें कहने लगी निर्मला। कितने दिनों की कितनी ही तुच्छ घटनाएं। यही, कभी बहुत ज्यादा तंग करने पर गाल पर हल्की चपत लगा दी थी। उस समय वह था ही कितना बड़ा। बस, बोलना शुरू किया था। पहले पैर फैला कर बहुत देर तक रोया। गोद में लेने गयी तो छिटक कर भाग गया। फिर अपने गाल को अपने ही हाथ से सहलाते-सहलाते आंखें गोल-गोल कर विज्ञ के समान बोला था, न जाने कैसे फटे-फटे स्वर में, 'कोमल गाल हैं, मारने से लगता नहीं जैसे ?' कोमल गाल कहना सीख चुका था, शायद मां के मुंह से ही सुना था। तब से निर्मला ने प्रतिज्ञा कर ली थी—मुन्ने को कभी नहीं मारूंगी। आज न जाने वह कैसे भूल गयी।

विनू की मां भी चिंतित हो उठी। उसका पति बड़ा बाजार में एक मारवाड़ी की दूकान पर काम करता था। लौटने में रात हो जाती। उससे पहले किससे कहा जाय ? बस्ती में, किसी विशेष के साथ उसका मेल-मिलाप नहीं था। सब अपने-अपने कामकाज में लगे थे। इसके अलावा ज्यादातर मिस्त्री, मजदूर, फेरीवाले श्रेणी के लोग थे, वे लोग परामर्श ही क्या देंगे। उन्हीं में से एक लड़का बीच-बीच में उनका काम कर दिया करता था। वह किसी कारखाने में काम करता था।

विनू को भेज कर उसे ही बुलवाया। खबर पाते ही आया और सब सुन कर गंभीर भाव से बोला, "बहुत चिन्ता की बात है। आजकल बच्चों को पकड़ने वालों का एक गिरोह सक्रिय है। छोटे बच्चे पाते ही कुछ सुंघा कर उन्हें बेहोश कर ले जाता है।"

"कहां ले जाता है ?" भीत, शुष्क कंठ से निर्मला ने पूछा।

"अपने अड्डे पर। फिर न जाने कहां-कहां भेज देता है, इसका कोई ठीक नहीं। यही तो...."

"नहीं नहीं, यह सब झूठ बात है," जल्दी से बाधा डालते हुए विनू की मां बोल उठी। भले आदमी को विपद में सहायता के लिए बुलाया। लड़का बीच में ही रुक जाने वाला नहीं था। दृष्टांत देकर समझाने जा रहा था कि वह जो कुछ कह रहा है, एकदम कठोर सत्य है। विनू की मां ने उसे वह अवसर नहीं दिया, बीच में ही बोल उठी, "अच्छा, सो तुम इसीलिए यहां आये हो, हरावन ! देखो, रात में अगर वापस नहीं लौटा, तो कल मैं तुम्हें फिर बुलाऊंगी। थोड़ी खोज करनी होगी, हरावन, लड़का गया कहां है।"

"जरूर खोजूंगा, मौसी, एक सौ बार खोजूंगा। लड़के का खो जाना बस्ती की भी बदनामी है। क्या कहता है सते ?"

'सते' बोल कर जिस दोस्त को उसने संबोधित किया था, वह बिना बुलाये

उसके साथ आया था और पास खड़ा सब बात सुन रहा था। उसने परम विज्ञ की भाँति सिर हिला कर कहा, "एक काम करने से कैसा रहेगा ?"

"क्या ?" बहुत सम्मान के भाव से हराधन ने पूछा।

"चल, भिखारियों के मुहल्ले में एक बार देख आयें। वे साले बहुत बदमाश हैं। रास्ते-गली से छोटे बच्चे को अकेला देख, मुँह में कपड़ा ठूँस कर ले जाते हैं। अंधा-लूला करके उससे अपने लिए भीख मँगवाते हैं।"

"आँ....!" आतंकित हो उठी निर्मला। हराधन ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। बोला, "ठीक कह रहा है, चल।" कह कर एक छलांग में बरामदे से गली में उतर पड़ा और साथी का हाथ पकड़ कर अंधकार में अदृश्य हो गया।

विनू का पिता उस दिन और भी रात गये लौटा और पत्नी के मुँह से सब सुन कर निराशा के स्वर में बोला, "इतनी रात में कहाँ खोजूँगा। सवेरा होने दो। फिर...."

"*माँ का मन यह बात कैसे सुनेगा ? तुम्हारे भरोसे पर तब से बैठी है।* अभी-अभी एक तरह से ठेल कर उसे घर भेजा है। आहा ! वही तो उसके जीवन का एक-मात्र आधार है। अगर सचमुच कुछ हो गया...."

परिणाम की मन-ही-मन कल्पना करते ही विनू की माँ सिहर उठी, मुँह से और कुछ नहीं कह सकी।

बेचारे थके-मांदे पति को और कोई आपत्ति करते नहीं बना। जैसे-तैसे दो-चार कौर मुँह में डाल, लाठी और लालटेन लेकर निकल पड़ा, हालांकि जानता था, इस तरह की खोज का कोई अर्थ नहीं है।

निर्मला के घर में उस दिन दिया-बत्ती नहीं हुई, द्वार पर जल का एक छींटा भी नहीं पड़ा। गले में आँचल डाल कर सिंदूर-पूरित लक्ष्मी की मूर्ति के पाँव तले प्रति संध्या को प्रणाम करने पहुँचती थी, वह भी छूट गया। गृहस्थी का अकल्याण होगा यह भय उसके मन में नहीं आया। इससे बड़ा अकल्याण और क्या हो सकता है ? आँखों का पानी सूख गया था। प्रतिपल की जो उत्कंठित प्रतीक्षा थी, वह भी जैसे समाप्त हो गयी थी। अंधकार में शून्य विस्तृत दृष्टि से देखती हुई बरामदे में बल्ली की टेक लगा कर जड़ के समान बैठी रही। जिस प्रकार कुम्हार के हाथ का आघात खा-खा कर कच्ची मिट्टी सख्त और शुष्क बन जाती है, उसी प्रकार विधाता के एक के बाद एक आघातों ने उसके हृदय को बहुत कठोर बना डाला था। सिर्फ कठोर ही नहीं, काफी जड़ीभूत, निष्क्रिय, वेदना-बोधहीन भी।

बड़ों से वह निरंतर सुनती रही थी, मनुष्य अदृश्य के हाथ का खिलौना है, यह जीवन केवल भाग्य का खेल है। ठीक यही हुआ भी। किंतु उसके भाग्यदेवता जैसे कोई अन्य खेल ही नहीं जानते ! उसके इस तीस वर्ष के जीवन को केवल छिन्न-भिन्न करने

का खेल खेलते रहे हैं। याद आ रहा था कभी किसी किताब में जैसे एक बार पढ़ा हो, जीवन नदी के प्रवाह के समान है, उसी स्रोत के खिचाव में हम लोग बहते चले जाते हैं। बात तो शायद ठीक है, किंतु पूरी तरह ठीक नहीं है। स्रोत जैसा भी है, उसके साथ है आवर्त, है तरंग-भंग। निर्मला के अपने जीवन में वही दोनों अधिक प्रत्यक्ष हैं। स्वच्छंद होकर बहते जाना कैसा होता है, यह उसने कभी नहीं जाना, जाना उसने केवल एक लहर के चंगुल से दूसरी लहर के मुंह में पड़ जाना है।

बाल्य-काल के कुछ वर्ष इससे थोड़ा भिन्न थे। किंतु वैसे थे ही कितने! प्रखर धूप के आगमन से विलुप्त होने वाले कोहरे के समान किशोर अवस्था दिग्-दिगंत में जाने कहाँ विलीन हो गयी। फिर भी मन बार-बार लौट जाना चाहता है उसी अवस्था में, जिस प्रकार मध्याह्न का ताप-दग्ध पथिक छायाहीन मैदान के बीच खड़ा होकर, प्रभात के समय पीछे छोड़ आये दूर अति दूर के ग्राम की ओर देखता है, जहाँ से उसकी यात्रा शुरू हुई थी।

तीन बेटियों में निर्मला ही सबसे छोटी थी, अर्थात् बाप के लाड़ की सबसे बड़ी भागीदार। किंतु पुत्री के जीवन में पितृ-स्नेह से भी जो अधिक आवश्यक है—पितृधन, बहनों को विदा करके वहाँ रिक्ति ही रही। उसके अंश में कुछ नहीं बच रहा था। बाप महकमा अदालत के वकील थे वह भी प्रथम श्रेणी के नहीं। मुवक्किल के हाथ से दिनांत में जो कुछ भी आता, सभी परिवार के मुंह में चला जाता, संचय के खाते में एक कण भी नहीं पहुँचता। इस पर भी बड़ी और मँझली लड़कियों के विवाह में किसी प्रकार की खींचतान उन्होंने नहीं की।

वर दोनों अच्छे ही मिले थे। बड़ा डॉक्टर होने के साथ सरकारी सेवा में था, अर्थात् माह के वेतन के अलावा ऊपर से थोड़ी प्राइवेट प्रैक्टिस थी। मँझला रेलवे के किसी सुविधाजनक विभाग में मँझला या सँझला बाबू था। उसकी भी 'प्राइवेट प्रैक्टिस' थी, और वहाँ की आमदनी वेतन का अंक अनायास पीछे छोड़ जाती। पति की यही 'ऊपरी' आय मँझली लड़की के लिए गर्व की चीज थी। उसे 'प्राइवेट' रखना तो दूर, उसका प्रचार करने के प्रति ही उसमें अधिक उत्साह था। 'ऊपरी' के मामले में उसने बड़े भाई को मात दे दी है, यह बात प्रकारांतर से प्रकट करने में उसे कोई दुविधा नहीं होती। इसके अतिरिक्त अपनी नित्य-नूतन वेशभूषा और प्रसाधनों के बाहुल्य को इसी 'ऊपरी' की महिमा बता कर सदंभ प्रचार करती। इसी से उसका बहुत सम्मान होता। नौकर-नौकरानी और पड़ोसिन महिलाओं में ही नहीं, मां-बाप के पास भी। समवयस्का सखियाँ, जिनका विवाह हो चुका था, पर पति इस विरल सौभाग्य के अधिकारी नहीं थे, उनके सामने उसके गहनों की चमक और साड़ियों का ढेर लेकर पंचमुख से प्रशंसा करतीं, पीठ फिरते ही दोनों आँखों से ईर्ष्या की ज्वाला फट पड़ती। दीदी भी प्रायः उसी — में थी। मँझली को यह अज्ञात नहीं था। इसके लिए गुस्सा नहीं करती, बल्कि म

की दृष्टि से देखती बेचारी को ।

निर्मला उस समय छोटी थी । बड़ी दीदी को बहुत चाहती थी, किंतु आदर करती मँझली दीदी का । 'ऊपरी' नामक वस्तु के संबंध में तब उसकी कोई स्पष्ट धारणा नहीं बनी थी । फिर भी उसे इस पर एक अद्भुत मोह था । मन-ही-मन कामना करती, बड़ी होने पर जब वर मिले, तब उसका रूप थोड़ा कम होने पर भी कोई क्षति नहीं, किंतु मंझली दीदी के पति के समान 'ऊपरी' अवश्य हो ।

निर्मला का दोष नहीं था । वह ही अकेली नहीं, इस देश के घर-घर में छोटे से बड़े सभी की आँखों में 'ऊपरी' की लालसा है । राजपाट बने और मिट गये, एक राजा के बाद दूसरा राजा आया, एक वंश के बाद दूसरा वंश सिंहासनारूढ़ हुआ । इसी तोड़-जोड़ में इस देश का मनुष्य करता रहा है सिर्फ नौकरी । एक सरकार के दरबार में रह कर अन्य सरकार को सलाम करता है । शासक वर्ग के चारों ओर होने वाले सीमा-हीन भोग-विलास में अपनी सेवा अर्पित करने पर 'तलब' के नाम पर इन नौकरी-जीवियों की जेब में जो आता है, वह इतना अल्प होता है कि उससे अभाव नहीं मिटता । रुपये में आठ सेर चावल मिलें, फिर भी लगा रहता है दुर्भिक्ष । जुलाहे के घर में वस्त्रों का पहाड़ लगा है और इधर गृहस्थ के अंतःपुर की एकवस्त्रा नारी स्नान करके अपनी देह पर ही सुखा लेती है अपना स्वल्प आच्छादन ! इसी अभाव को मिटाने के लिए दूसरा रास्ता निकाला गया । दायें हाथ को सहयोग दिया बायें हाथ ने, प्रकट में राजमार्ग का और आड़ में गुप्त सुरंग का रास्ता, 'तलब' के ऊपर थोड़ी 'ऊपरी' । राजा के पास पहुँच रखने वाले अमीर-उमराव और आमात्य-पार्षद से लेकर अंतिम सीढ़ी पर खड़ा चपरासी या चौकीदार तक, सभी एक ही राह के राही हैं । ऊपर से नीचे तक सब एक ही जंजीर से बँधे ।

हजारों वर्ष से यही व्यवस्था इस देश का सामान्य जन देखता आ रहा है । देखता है—द्वारपाल के हाथ में दो-चार मुद्रा रखे बिना राजदर्शन नहीं होता, राजा के अनुग्रह का लाभ तो दूर की बात ठहरी । नजराना दिये बिना प्रार्थी का अधिकारी से सामना नहीं हो सकता, प्रार्थना अनसुनी रह जाती है । भेंट दिये बिना किसी के साथ भेंट नहीं हो सकती । इसीलिए किसी को नौकरी मिलने की बात सुन कर आज भी लोग उससे अकपट प्रश्न करते हैं, 'वेतन कितना है ?'—'इतना ।' 'ऊपरी ?' उत्तर 'नहीं' में सुनकर विश्वास होता है अथवा मन में आता है कि यह व्यक्ति निहायत ही तुच्छ है ।

निर्मला बड़ी हो गयी । देह का गठन सुडौल था, आयु जितनी थी, उससे ज्यादा दिखती । माँ फिर भी असली से दो वर्ष कम करके ही बताती । जिनके पास बोलती, वे पड़ोसिन-प्रौढ़ा महिलाएँ आपस में कानाफूसी करतीं । लोगों के पास चाहे जो उम्र बतायें अपनी आँख को तो धोखा नहीं दिया जा सकता । लड़की की ओर देख, कौन

गले से नीचे नहीं उतरना चाहता था। उठते-बैठते पति को कोंचती। उनके मुँह पर वही एक उत्तर होता, "कोशिश तो कर रहा हूँ। अभी नहीं जुटा, तो क्या करूँ ? सब ईश्वर के हाथ है।" गृहणी गुस्सा हो उठती, "भगवान क्या तुम्हारी लड़की का संबंध लाकर घर में पहुँचा देंगे ? हाथ पर हाथ रखे किसके भरोसे बैठे हो ?"

"ठीक है, बैठा रहने से नहीं चलेगा तो निकल पड़ता हूँ। घूमने-फिरने से एक जुगाड़ हो भी जाय। फिर ? किसके भरोसे आगे बढ़ूँ ? सब कुछ तो जानती हो।"

यह बात झूठ नहीं। वह सब जानती हैं। ऋण लेकर दो बेटियों को पार लगाना पड़ा, पैतृक मकान गिरवीं रखा है। सुदूर भविष्य में छुड़ाया जा सकेगा, ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता। एक लड़का भी नहीं, जो पीछे आकर खड़ा हो। एक हाथ का रोजगार है। वह भी पहले जैसा अच्छा नहीं। उम्र अधिक हो गयी है, थोड़े से ही हाँफ चढ़ जाती है। उन पर सचमुच ज्यादा दबाव नहीं डाला जा सकता।

कोई उत्तर न देकर गृहणी निःश्वास छोड़ अन्यत्र चली गयी। गृहस्वामी बैठकखाने में आ बैठे। वहाँ भी पहले जैसी मुवक्किलों की भीड़ नहीं। ऐसे नये-नये कानून बने हैं, जिसके फलस्वरूप दिन-दिन मुकदमों की संख्या घटती जाती है। ऋण सालिसी बोर्ड बनने के बाद कर्जदारी के मुकदमे नहीं के बराबर रह गये हैं। महाजन अब गाँठ का पैसा खर्च करके कर्जदार के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहते। कोई लाभ नहीं रहा। सूद तो अलग, मूल रकम भी सारे जीवन में अदा नहीं होती। लंबी-लंबी किस्त बाँध दी जाती हैं, उधार, जिससे चुकने न पाये, ऐसी व्यवस्था कर दी है अदालत ने। सरकार भी अब ऋणी के पक्ष में है। इसी से महाजन आज नितांत अभाजन बन गया है।

छोटे-छोटे जमींदारों की अवस्था और भी शोचनीय है। लगान के मामले में 'डिग्री' पाना दुरूह कार्य है। पाकर भी वही दीर्घ अवधि की किस्तें। कौन पड़े इस झमेले में ? इससे मामला चलाने से जहाँ तक बचाव रहे, वहाँ तक इसके फेर में कोई नहीं पड़ना चाहता। आसामी दया करके जो दे, उसी में खुश।

बड़े-बड़े शहरों में जमीन की खरीद-बिक्री अथवा घर-भाड़े के छिटपुट मामले रहते हैं। वकीलों की विशाल सेना का वही सहारा है। देहात में ऐसे मामले उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। दो-चार जो आते हैं उनका बड़ा भाग जूनियरों के हाथ में पहुँचता है। उनकी संख्या भी बहुत बढ़ गयी है, दिन-दिन बढ़ रही है। सब ओर से आज वकीलों का दुर्दिन है।

शून्य बैठकखाने में बैठे यही सब बातें सोच रहे थे जगदीश बाबू। निर्मला ने कमरे में आ कर पुकारा, "बाबू।"

"क्या है बेटी ?"

"कचहरी का समय हो गया, उठेंगे नहीं ?"

"ओ, हाँ।" कह कर घड़ी की ओर देख जल्दी से उठ खड़े हुए। अ

जाते एक बार बेटी की तरफ देखा। ऐसा लगा, जैसे बहुत दिन से उसे देखा न हो। आँख की ओट, हठात् कब एकदम से बढ़ गयी, देख नहीं पाये। सिर्फ अंग से ही नहीं श्री से भी बढ़ी है। एक स्निग्ध लावण्य का स्पर्श मुखड़े पर लग गया है। अमला विमला की भाँति उसका भी अब पराये घर जाने का समय हो गया है। एक निःश्वास निकला पड़ रहा था हृदय के भीतर से, उसे दबा लिया। निकट पहुँच उसके सिर प सस्नेह हाथ फिराते हुए बोले, "आज स्कूल नहीं गयी ?"

"नहीं, बाबू," वैसे ही मुँह नीचा किये बोली निर्मला।

"क्यों ?"

सिर और भी झुक गया। आँचल का छोर उँगली पर लपेटती हुई बोली "अब से घर पर ही पढ़ूंगी।"

जगदीश बाबू ने कारण नहीं जानना चाहा। समझ गये, यह उसकी माँ व व्यवस्था है। किताबों के बदले अब उसके हाथ में करछुल-बेलन होंगे। उसी की तैया चल रही है। अथवा रास्ते-गली के लोगों की नजर और उससे भी ज्यादा हमद पड़ोसिनों के उठते-बैठते वाक्यबाणों से जितना संभव हो बचने के लिए लड़की को घर बन्द रखने का प्रयोजन दिखायी पड़ता है। इसके अलावा, परिवार की व्यवस्था ! स्कू की फीस, किताबें-कापियाँ, कागज-पेंसिल, बाहर निकलने लायक अच्छे कपड़े इत्या नाना चीजों में प्रतिमास जितने रुपये लगते हैं, उनको भी सामान्य नहीं कहा सकता। वह भी यदि बचाया जाय तो निकट भविष्य में उसके ही काम में लगेंगे। क होगा पढ़-लिख कर ? जिस प्रकार के घर में जायगी, वह तो अभी से समझा जा सक है। वहाँ इतनी पढ़ाई-लिखाई भी शायद अवांछित विलास मानी जायगी। ठीक ही किया गृहणी ने। किन्तु लड़की ने भी इसी उम्र में सब समझ कर इस नयी व्यवस्था को चुपचाप मान लिया, इसीसे उनके हृदय में कचोट पैदा हुई। उसका बाप कितना अक्षम है, यह लड़की से भी आज अजाना नहीं रहा। उसके सामने भी वह जैसे धरती में धँस गये।

अब वह सचमुच भाग-दौड़ में लग गये। दो-चार जगह से एक के बाद एक कई दल आकर देख गये। किन्तु असली बात पर आकर मामला अटक जाता। वर की माँग पूरी करना उसकी क्षमता से बाहर होता। थोड़ा नीचे स्तर पर उतरना ही होगा। अच्छी नौकरी-चाकरी न होने पर, संपत्ति-वंपत्ति न होने पर भी घर में अगर मोटा खाने-कपड़े की जुगाड़ हो, तो वह भी चलेगा। बेटी के भाग्य में सुख रहने पर नितांत सामान्य अवस्था में भी वह सुखी हो सकेगी।

ऐसा ही एक संबंध मिल गया। लड़के की उम्र कुछ अधिक है, फिर भी दूजिया नहीं है। देखने-भालने में अच्छा ही है। मैट्रिक पास है, उसके बाद पढ़ नहीं पाया। गाँव में कई बीघा जमीन छोड़ गया है बाप। लोग लगाकर खेती-बाड़ी की

देख-भाल उसी को करनी पड़ती है। इसके साथ ही एक छोटी सी नौकरी भी है—पास के गाँव के एक छोटे स्कूल में थर्ड मास्टर है। घर में माँ है। सब बहनों का विवाह हो चुका है। अवस्था ज्यादा अच्छी नहीं है। लड़के ने विवाह न करने का निश्चय किया था। किन्तु माँ का शरीर टूट चुका है। उसकी देखभाल और घर का कामकाज करने के लिए घर में किसी के न होने से चल नहीं रहा है।

बहनोई लड़की देखने आये थे। निर्मला उन्हें पसन्द आयी। इतनी बड़ी बहू की ही उन्हें जरूरत थी। माँग-ताँग कुछ नहीं। साध्य के अनुसार ये लोग जितना देंगे, उसी में खुश।

बाप का मन कसमसाने लगा। उनकी लाड़ली निर्मला! कलकत्ता न सही, अंततः उनके इस कटोआ के समान किसी शहर में एक अच्छे पढ़े-लिखे नौकर लड़के के हाथ में जायगी, उन्होंने मन में यही आशा सँजोयी थी। वह पूरी नहीं होगी। गाँव के स्कूल का मास्टर—यह भी कोई नौकरी है। इसके अलावा, गाँव में मिट्टी के मकान में रहने का तो लड़की को अभ्यास नहीं है। पूजा की छुट्टी में कई बार 'देश' गयी, तीन-चार दिन से ज्यादा मन लगा कर नहीं रह पायी। उसी प्रकार के घर में सारा जीवन कैसे काटेगी? फिर वह होगा किसान गृहस्थ का घर। धान, पाट, दाल और सरसों लेकर परिवार का धंधा ठहरा। यह सब वह कैसे सम्हालेगी? लड़के का स्वभाव-चरित्र अवश्य अच्छा है। नम्र, निरीह, शांत स्वभाव का व्यक्ति है। शरीर का स्वास्थ्य भी ठीक है। उम्र अधिक होने पर भी निर्मला के संग बेमानी नहीं होगा। फिर भी लड़के को सब ओर से देख उनका मन तैयार क्यों नहीं होता?

यह प्रश्न माँ के मन में भी एक-दो बार उठा। किंतु उसने जबरदस्ती उसे निकाल दिया था। पति की अपेक्षा उनकी वास्तव-बुद्धि निश्चय ही प्रखर थी। उन्होंने समझ लिया था, इस क्षेत्र में लोगों की इच्छा और आकांक्षा का मूल्य कानी-कौड़ी भी नहीं होता। असली बात सामर्थ्य की है, इस पहलू से विचार करके, इससे ऊँचे हाथ बढ़ाने जाना उनकी धृष्टता होगी। बल्कि अपेक्षा होने पर और भी नीचे उतर आना होगा। जो दिन आ रहे हैं उनका रूप और भी भयंकर है। शाम होने के समय बढ़ते हुए अंधकार की ओर देख, टूटी नौका का नाविक जिस प्रकार अपनी पतवार का वेग प्राणपण से बढ़ा देता है, उसी प्रकार आसन्न रात्रि की ओर देख माँ भी अपने जीर्ण संसार को, जैसे भी हो, द्रुत गति से खींच कर आगे ले जाने के लिए अस्थिर हो उठी थी। जैसे भी हो, बेटी से पार पाया जाय। इस ओर जितनी देर होगी, पथ उतना ही दुर्गम मिलेगा। पति जब टाल-मटोल कर रहे थे, उन्होंने उस समय मन स्थिर कर लिया था। सब दुविधा-द्वन्द्व दूर झटक कर सीधी जाकर बोलीं, "पंडितजी को बुला कर महीने के शुरू में तिथि निश्चित कर लो।"

जगदीश बाबू के मुख पर तब एक छोटा-सा 'किंतु' आ गया, पर गृहणी के

मुख की ओर देख उन्होंने अगली बात बाहर नहीं निकलने दी। विपण्ण दृष्टि उठा कर इतना ही बोले, "ठीक है।"

निर्मला से किसी ने कुछ नहीं पूछा—न माँ ने और न ही बाप ने। बहनें उस समय ससुराल में थीं। पूछ कर भी क्या होता? वह क्या मुँह खोल कर कह पाती, "नहीं, इस विवाह में मेरी सहमति नहीं है। यह घर-वर मेरे मन के अनुकूल नहीं है। इससे कहीं ज्यादा की आशा की है मैंने।" छीः-छीः यह बात क्या कभी कही जा-कती है? इसके अलावा पिता की जो अवस्था है, वह उसे जानती है। उनके मन की ात अनजानी नहीं है। कितनी बड़ी अनिच्छा से, नितांत बाध्य होकर ही वह ऐसे ार-वर को अपनी लड़की देने पर राजी हुए हैं, यह तो उससे छुपा नहीं। सब ओर ो सोच कर माँ भी जो ज्यादा देर नहीं करना चाहतीं, यह भी वह जानती है। इसलिए उसे यही ग्रहण करना होगा। बहनों-सा, विशेषकर मँझली दीदी-सा, भाग्य लेकर वह संसार में नहीं आयी है। इसी से अपने भाग्य की चुनौती स्वीकार कर अंदर-ही-अंदर उसने अपने को तैयार कर लिया। मन में जो स्वप्न था, साध थी, उसके फली-भूत न होने पर हाथ-पैर पटकने से कोई लाभ नहीं। संसार बहुत कठोर है, जीवन बहुत निर्मम है, यह शिक्षा उसे छुटपन से ही पाना शुरू हो चुकी थी।"

किंतु प्रत्येक मनुष्य में एक और सर्वनाशी मनुष्य वास करता है। वह जब जाग उठता है, कोई भी शिक्षा या ज्ञान उसे दबा कर नहीं रख सकता। युक्ति का बंधन टूट जाता है, विचार-बुद्धि खो जाती है। एक दिन निर्मला के जीवन में भी दिखायी दिया वही अशुभ क्षण जो उसके शांत संसार की निस्तरंग धारा में प्रलय की बाढ़ ले आया। उसे एक क्षण भी खड़े नहीं रहने दिया। तीर के वेग से बहा ले गयी अतल के पथ पर। वह यदि अकेली होती, तो शायद उसे इतना दुःख न होता। अपना सर्वनाश स्वयं ही बुला लायी, यह मान कर थोड़ी सांत्वना पाने की चेष्टा करती। किंतु उसने अपने साथ पति को भी समेट लिया। उसका इतना अच्छा पति! प्रशांत, सरल, निर्विरोध; एक दिन के लिए भी पत्नी को थोड़ा-सा दुख नहीं दिया, उसके असंगत विचारों का एक बार भी विरोध नहीं किया, सारा जीवन उसे सुखी रखना चाहा। केवल एक ही बात उसके मुँह पर रहती, "ठीक है, जो कहोगी, वही होगा।"

आज वह सोचती है, पहले भी कई बार सोचा है, कि इतना नरम न होकर यदि उसका पति थोड़ा कठोर होता, थोड़ा सख्त होता, तो शायद उसे यहाँ आकर न रहना पड़ता।

वे ही बीते दिन समूह बाँध कर मन में आ रहे थे। कितनी छोटी, किंतु बहुत विचित्र घटना थी। उस समय किसने सोचा था, एक दिन वही मिल कर प्रलय लायगा?

तीन वहनों में मँझली दीदी ही देखने में सवसे अच्छी थी। माँ प्रायः वोलती, "विमला के लिए मुझे चिंता नहीं, जो देखेगा, लपक कर ले जायगा।" लपक कर अवश्य कोई नहीं ले गया था, वहुत कुछ दे कर ही भेजा गया। जो हो, विमला जानती थी और आस-पास के सभी लोगों को जता भी दिया था, जो उसका रूप है। विवाह के वाद रूप के साथ मिला रुपया। तव गर्व से उसके पैर धरती पर न पड़ते। वह निर्मला को चाहती थी। उस चाहत में वहुत कुछ करुणा थी, और थी थोड़ी दया। छोटी वहन के विवाह में जो आशा के अनुरूप नहीं हो पाया, वड़ी दीदी के मन में शायद इसके लिए कुछ क्षोभ था, किंतु वाहर उसे कभी झलकने नहीं दिया। वातचीत और आचरण में यह दिखाने की चेष्टा करती कि उन दोनों की तुलना में कई वातों में नीरू को अच्छा घर ही मिला है। छोटा परिवार है, अधिक व्यक्ति नहीं, कहने के लिए दो ही लोग हैं। सास कितने दिन की है? फिर भी जितने दिन के लिए है, सिर पर एक वहुत वड़ा आश्रय है। वुढ़िया वहुत अच्छी है, वहू को सीने से लगा कर रखेगी। इस अवस्था में भी परिवार के सारे कामकाज वह स्वयं सम्हालती है। नयी वहू को तिनका तक नहीं उठाने देगी।

निर्मला की ससुराल का प्रसंग उठने पर अमला पक्ष में ही मत देती। विमला ठीक उल्टा वोलती। नीरू मन-माफिक घर नहीं जा रही, इस अप्रिय सत्य को दवा कर रखने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी। इस विवाह से उसके मन में जो क्षोभ था, उसे वह सभी के सामने प्रकट करती। निर्मला क्या सोचती है, इसे लेकर उसे सिरदर्द नहीं था।

विवाह और उससे संवंधित अनुष्ठान सपन्न होने के वाद निर्मला कुछ दिन के लिए माँ के पास आयी थी। दोनों दीदी तव वहीं थीं। भीतर के वरामदे में वातचीत की गोष्ठी जमी थी। इस-उस वात के वाद किसी एक प्रसंग पर अमला वोली, "चावल के भाव जिस प्रकार वढ़ रहे हैं, मुझे तो लगता है कुछ दिन वाद भूखे मरना पड़ेगा। इस वारे में हमारी नीरू एकदम निश्चिंत है। आंगन में धान का अंवार लगा है, घर के पास ढेंकी है। जव इच्छा हो, कूटो, पकाओ, खाओ।"

"वावा, इतना सव हंगामा करने की क्या जरूरत है," उपेक्षा के स्वर में वोली विमला, "इससे तो अच्छा यह कि वनिये की दूकान पर कहला भेजो, तुरंत मनचाहा माल हाजिर हो जायगा।"

"उसके साथ ऊँचे दाम का विल भी तो आयेगा।"

"तो क्या हुआ? रुपये रहने पर दाम की चिंता किसे होती है? चढ़ने दो, आखिर कितना चढ़ेगा?"

"तुझे चिंता भले ही न हो, सव तो तेरे समान रईस हैं नहीं। वावा, हमें तो एक रुपया वढ़ जाने पर भी मुसीवत मालूम होती है।"

मुख की ओर देख उन्होंने अगली बात बाहर नहीं निकलने दी। विषण्ण दृष्टि उठा कर इतना ही बोले, "ठीक है।"

निर्मला से किसी ने कुछ नहीं पूछा—न माँ ने और न ही बाप ने। बहनें उस समय ससुराल में थीं। पूछ कर भी क्या होता? वह क्या मुँह खोल कर कह पाती, "नहीं, इस विवाह में मेरी सहमति नहीं है। यह घर-वर मेरे मन के अनुकूल नहीं है। इससे कहीं ज्यादा की आशा की है मैंने।" छी:-छी: यह बात क्या कभी कही जा सकती है? इसके अलावा पिता की जो अवस्था है, वह उसे जानती है। उनके मन की बात अनजानी नहीं है। कितनी बड़ी अनिच्छा से, नितांत बाध्य होकर ही वह ऐसे घर-वर को अपनी लड़की देने पर राजी हुए हैं, यह तो उससे छुपा नहीं। सब ओर से सोच कर माँ भी जो ज्यादा देर नहीं करना चाहतीं, यह भी वह जानती है। इसलिए उसे यही ग्रहण करना होगा। बहनों-सा, विशेषकर मँझली दीदी-सा, भाग्य लेकर वह संसार में नहीं आयी है। इसी से अपने भाग्य की चुनौती स्वीकार कर अंदर-ही-अंदर उसने अपने को तैयार कर लिया। मन में जो स्वप्न था, साध थी, उसके फलीभूत न होने पर हाथ-पैर पटकने से कोई लाभ नहीं। संसार बहुत कठोर है, जीवन बहुत निर्मम है, यह शिक्षा उसे छुटपन से ही पाना शुरू हो चुकी थी।"

किंतु प्रत्येक मनुष्य में एक और सर्वनाशी मनुष्य वास करता है। वह जब जाग उठता है, कोई भी शिक्षा या ज्ञान उसे दबा कर नहीं रख सकता। युक्ति का बंधन टूट जाता है, विचार-बुद्धि खो जाती है। एक दिन निर्मला के जीवन में भी दिखायी दिया वही अशुभ क्षण जो उसके शांत संसार की निस्तरंग धारा में प्रलय की बाढ़ ले आया। उसे एक क्षण भी खड़े नहीं रहने दिया। तीर के वेग से बहा ले गयी अतल के पथ पर। वह यदि अकेली होती, तो शायद उसे इतना दुःख न होता। अपना सर्वनाश स्वयं ही बुला लायी, यह मान कर थोड़ी सांत्वना पाने की चेष्टा करती। किंतु उसने अपने साथ पति को भी समेट लिया। उसका इतना अच्छा पति! प्रशांत, सरल, निर्विरोध; एक दिन के लिए भी पत्नी को थोड़ा-सा दुख नहीं दिया, उसके असंगत विचारों का एक बार भी विरोध नहीं किया, सारा जीवन उसे सुखी रखना चाहा। केवल एक ही बात उसके मुँह पर रहती, "ठीक है, जो कहोगी, वही होगा।"

आज वह सोचती है, पहले भी कई बार सोचा है, कि इतना नरम न होकर यदि उसका पति थोड़ा कठोर होता, थोड़ा सख्त होता, तो शायद उसे यहाँ आकर न रहना पड़ता।

वे ही बीते दिन समूह बाँध कर मन में आ रहे थे। कितनी छोटी, किंतु बहुत विचित्र घटना थी। उस समय किसने सोचा था, एक दिन वही मिल कर प्रलय लायगा?

तीन वहनों में मँझली दीदी ही देखने में सबसे अच्छी थी। माँ प्रायः बोलती, "विमला के लिए मुझे चिंता नहीं, जो देखेगा, लपक कर ले जायगा।" लपक कर अवश्य कोई नहीं ले गया था, वहुत कुछ दे कर ही भेजा गया। जो हो, विमला जानती थी और आस-पास के सभी लोगों को जता भी दिया था, जो उसका रूप है। विवाह के वाद रूप के साथ मिला रुपया। तव गर्व से उसके पैर धरती पर न पड़ते। वह निर्मला को चाहती थी। उस चाहत में वहुत कुछ करुणा थी, और थी थोड़ी दया। छोटी वहन के विवाह में जो आशा के अनुरूप नहीं हो पाया, वड़ी दीदी के मन में शायद इसके लिए कुछ क्षोभ था, किंतु वाहर उसे कभी झलकने नहीं दिया। वातचीत और आचरण में यह दिखाने की चेष्टा करती कि उन दोनों की तुलना में कई वातों में नीरू को अच्छा घर ही मिला है। छोटा परिवार है, अधिक व्यक्ति नहीं, कहने के लिए दो ही लोग हैं। सास कितने दिन की है? फिर भी जितने दिन के लिए है, सिर पर एक बहुत वड़ा आश्रय है। बुढ़िया वहुत अच्छी है, वहू को सीने से लगा कर रखेगी। इस अवस्था में भी परिवार के सारे कामकाज वह स्वयं सम्हालती है। नयी वहू को तिनका तक नहीं उठाने देगी।

निर्मला की ससुराल का प्रसंग उठने पर अमला पक्ष में ही मत देती। विमला ठीक उल्टा वोलती। नीरू मन-माफिक घर नहीं जा रही, इस अप्रिय सत्य को दवा कर रखने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी। इस विवाह से उसके मन में जो क्षोभ था, उसे वह सभी के सामने प्रकट करती। निर्मला क्या सोचती है, इसे लेकर उसे सिरदर्द नहीं था।

विवाह और उससे संवंधित अनुष्ठान सपन्न होने के वाद निर्मला कुछ दिन के लिए माँ के पास आयी थी। दोनों दीदी तब वहीं थीं। भीतर के वरामदे में वातचीत की गोष्ठी जमी थी। इस-उस वात के वाद किसी एक प्रसंग पर अमला वोली, "चावल के भाव जिस प्रकार वढ़ रहे हैं, मुझे तो लगता है कुछ दिन वाद भूखे मरना पड़ेगा। इस वारे में हमारी नीरू एकदम निश्चित है। आंगन में धान का अंवार लगा है, घर के पास ढेंकी है। जव इच्छा हो, कूटो, पकाओ, खाओ।"

"वावा, इतना सव हंगामा करने की क्या जरूरत है," उपेक्षा के स्वर में बोली विमला, "इससे तो अच्छा यह कि वनिये की दूकान पर कहला भेजो, तुरंत मनचाहा माल हाजिर हो जायगा।"

"उसके साथ ऊँचे दाम का विल भी तो आयेगा।"

"तो क्या हुआ? रुपये रहने पर दाम की चिंता किसे होती है? चढ़ने दो, आखिर कितना चढ़ेगा?"

"तुझे चिंता भले ही न हो, सव तो तेरे समान रईस हैं नहीं। वावा, हमें तो एक रुपया वढ़ जाने पर भी मुसीवत मालूम होती है।"

दीदी के कथन में थोड़ा श्लेष रहने पर भी विमला मन-ही-मन खुश हुई। 'रईस' होने की वात उसके वारे में कोई चाहे कैसे भी वोले, उसे खूव आनंद आता है।

पड़ोस की एक-दो लड़कियाँ भी उस दल में थीं। उन्हीं में से एक, जिसकी ससुराल कलकत्ता में थी, वोल उठी, "दाम देने पर भी आजकल अच्छा चावल पाने का उपाय है क्या? या तो ढेर सारे कंकड़ या फिर दुर्गंध। कोई-कोई चावल तो...."

"वे सब राशन के चावल होते हैं," विमला ने वात काट कर कहा—"उसे न लेना ही ठीक है। दो-चार रुपये ज्यादा दे कर व्लैक में कहीं ज्यादा अच्छा माल मिल जाता है। हम लोग तो वही खरीदते हैं। कौन वैठा-वैठा कंकड़ वीने, वावा? इसके अलावा, मैं वहुत महीन चावल न होने से विल्कुल खा ही नहीं सकती। वह भी ऐसे ही हैं। भात थोड़ा मोटा होने से ही कहते हैं—'भात न खा कर गाव (एक जंगली फल) का वीज खाने से चल जाता।" वोल कर विमला खिलखिला कर हँस पड़ी। उस हँसी में किसी ने विशेष योग नहीं दिया।

एक प्रौढ़ा महिला कोने की ओर वैठी थी। वह वोली, "तू कुछ कह वेटी, अपने घर की चीज गाव का वीज होने पर भी अमृत है, उसके सामने और कुछ ठहर सकता है क्या? कहावत है धान ही धन है। जिसके घर में धान के ढेर हैं, उसे और क्या चाहिए? लक्ष्मी वहीं विराजती हैं।"

विमला ने वुजुर्गाना स्वर में प्रतिवाद किया, "अव वह दिन नहीं रहे, मौसीजी! ढेर सारा धान रहने से ही आज के समाज में सम्मान नहीं मिलता, उसे कोई महत्व नहीं देता। सभी जानना चाहते हैं वह करता क्या है? रोजगार कितना है?"

अपनी ससुराल की वात उठते ही निर्मला वहाँ से उठ गयी थी। उसके उसी रिक्त स्थान की ओर एक नजर देखने के वाद विमला दवे स्वर में आगे वोली, "यह हमारी नीरू की ही वात ले लो। जिस घर में गयी है, दो जून दो मुट्ठी खाना शायद जुट जायगा। किन्तु जिसके हाथ पड़ी है, उसका परिचय क्या है? लोग जव पूछते हैं, तुम्हारे वहनोई क्या करते हैं, तो मेरा तो लाज से सिर झुक जाता है। खेतीवाड़ी करते हैं, यह वात कैसे कहूँ?"

"सिर्फ खेतीवाड़ी क्यों, उसके साथ एक नौकरी भी करते हैं," अमला ने उत्तर दिया।

"नौकरी! मतलव, वह पंद्रह रुपये महीने की मास्टरी।" कह विमला अट्टहास कर उठी। हठात् रुक कर करुण स्वर में जैसे अपने मन से कह रही हो, वोली, "सच, नीरू के लिए वहुत दुःख होता है। पेट भर खाना खा कर ही लड़कियों का सव हो जाता है? और कोई साध-आह्लाद नहीं होता? दो दिन के लिए कहीं थोड़ा जाना, दो अच्छे कपड़े, दो गहने—ये सव न होने से चलता है क्या? किन्तु आये कहाँ से? सवसे वड़ी वात, किसकी वोल कर अपना परिचय दे।"

नहीं। मेरी सास इस लड़के के विवाह में नगदी, गहने, दान-दहेज मिला कर दस हजा
रुपये वाला घर पाने की साध सँजोये हैं। तुम कर सकोगे ?"

बात निर्मला के कान में भी गयी थी और उसकी दृष्टि में आया था पिता व
वह आशाहत म्लान मुख। इससे पहले यहाँ उसने विजन को दो-तीन बार देखा था
वह भी उसके प्रति उदासीन नहीं था। भाभी की छोटी बहन के नाते केवल सान्नि
में ही नहीं आया, घनिष्ठ होने की चेष्टा भी की थी।

निर्मला ने आपत्ति नहीं की, बल्कि थोड़ा प्रश्रय ही दिया। पिता के मन
उस आशा के रंग ने शायद उसके कुमारी हृदय के निभृत कोने में एक रंगीन सप
जगा दिया था। इसीलिए एक दिन सद्यः वर्षायुक्त आषाढ़ की संध्या को निर्जन छत
पास-पास घूमते हुए, विजन ने जब उसका बायाँ हाथ दोनों हाथ से पकड़, अप
उज्ज्वल आँखें उसके मुख पर टिका, अस्फुट कंठ से कहा था, "जानती हो निर्मला,
मुझे बहुत अच्छी लगती हो।" तब निर्मला ने हाथ छुड़ा नहीं लिया था, दूर भी न
सरकी थी। उस प्रगाढ़ स्पर्श और गंभीर स्वर में बोले गये उस वाक्य 'अच्छी लग
हो' ने उसके समस्त अंग और मन में कोई मोहावेश आच्छादित कर दिया था।
क्षण विजन अगर अपने दोनों सबल बाहु बढ़ा कर उसे अपनी छाती के पास खं
लेता, तो निर्मला शायद बाधा नहीं दे पाती, शायद स्वयं को निस्संकोच सौंप देती
'अच्छी लगती हो' के मधुर स्रोत में। उस दिन का 'अच्छी लगती हो' का बाँसुरी
स्वर उसके अंतस् में झंकार भर गया था।

वैसा कुछ नहीं घटा। कौन जाने घटता कि नहीं किंतु उससे पहले ही छत
जीने पर पदचाप सुन, उसका हाथ छोड़ दूर हट गया था विजन। निर्मला उस स
तक जैसे होश में नहीं आ पायी थी। अवसन्न-सी खड़ी रही। उसके बाद माँ की पुक
सुन कर सहसा चौंक उठी थी। जवाब देने से पूर्व ही माँ ऊपर पहुँच गयी थीं अ
विजन को देख कर बोली थीं, "ओह, बेटा तुम यहाँ हो ? चाय रख दी है, आओ
निर्मला की ओर घूम कर डाँट के स्वर में बोली थीं, "तुझसे नहीं कहा था, विजू
बुला ला ? सब भूल बैठी है ? वह कब का थोड़ा-सा भात खाकर उठा था, फिर
कप चाय तक लड़के को नहीं मिली। इतनी बड़ी हो गयी। न जाने कहाँ इसके
रहते हैं ?"

विजन बोला था, "उसका कोई दोष नहीं, मौसी जी। तब से जोर
रही है। भूख नहीं है, कह कर मैंने ही देर कर दी। उस समय बहुत ज्यादा
लिया था।"

"ज्यादा क्या हुआ, बेटा, कुछ भी तो नहीं कर पायी। इतने दिन बाद आये
साध होती है यह करूँ वह करूँ। पर....जाने दो, और देर मत करो। चलो, थोड़ा-सा
में डाल लो। नीरू, अपने विजन दा को ले आओ...." कह कर माँ झटपट नीचे उ

बगल के कमरे की खिड़की के पास खड़ी निर्मला के कानों में सारी बात पहुँची। केवल कान में पहुँची ही नहीं, मन के साथ भी एक स्वर मिल गया। मँझली दीदी ठीक कह रही है। अन्य सब सिर्फ उसे छलते हैं, मिथ्या प्रबोध और आशा बँधा कर उसे बहलाना चाहते हैं। मँझली दीदी सचमुच उसे प्यार करती है। इसी से कठोर सत्य का नग्न रूप छोटी बहन के सामने रखने में कुंठा अनुभव नहीं करती।

उस दिन काफी रात हो जाने पर भी निर्मला को नींद नहीं आयी। वह क्या करे? उस मिट्टी की दीवार से घिरे कच्चे घर में ढेंकी, सूप और करछुल-संडासी लेकर ही उसका सारा जीवन कट जायगा। थोड़ा साज, थोड़ा प्रसाधन, कलकत्ता जा कर गाड़ी में घूमना, रेस्तराँ अथवा मिठाई की दूकान में बैठ कर स्वाद-परिवर्तन, बीच-बीच में सिनेमाघर में घुस कर एक-दो चित्र देखना—ये सब न होने पर मनुष्य जीवित रह कर क्या करे? पर इसके लिए जितनी रकम चाहिए, वह उनके पास नहीं है। जमीन से जो आय होती है, उससे उनका खाना-पीना ही जैसे-तैसे हो पाता है, इतने दिनों के लिए तेल, नमक, मसाला वेतन से आता है। जरूरत पड़ने पर माँ और बेटे के लिए मोटी धोती आती है। नयी बहू के आने के बाद कई-कई चीजें भी जुटानी पड़ी थीं—साड़ी, शमीज, दो-एक साबुन, सिर में लगाने का तेल, बालों के लिए दो रिबन। इतना ही भार उनके लिए उद्वेग का कारण बन गया था। मुंह से न कहने पर भी, पति के मुख पर आया उसका स्पष्ट चिह्न निर्मला की आँखों से छिपा नहीं रहा। सास की बातचीत में उसका आभास मिला। वह खुद भी समझती है। यह खींचतान दिन प्रतिदिन बढ़ती जायगी। इधर कुछ बीघा जमीन की सामान्य उपज, उस पर गिनती के थोड़े रुपये, दोनों ही एकदम निश्चित-सीमित; अचानक किसी दिन इसमें कुछ वृद्धि हो जायगी, ऐसी कोई संभावना नहीं। उधर आवश्यकताओं में निरंतर वृद्धि। इन दोनों का समन्वय किस प्रकार हो सकेगा, निर्मला कुछ भी सोच नहीं सकी।

मँझली दीदी चली जायँगी। जीजाजी की छुट्टी नहीं है, छोटे भाई को बुला लाने के लिए भेजा है। बहुत हँसमुख लड़का है। बी० ए० में पढ़ता है। मँझली दीदी बोली थीं, पास करते ही रेल के दफ्तर में घुस जायगा। दादा ने ही यह सारी व्यवस्था कर रखी हैं।

कभी इसी प्रियदर्शन, स्वास्थ्य-उज्ज्वल, शिक्षित लड़के पर जगदीश बाबू की लोलुप दृष्टि पड़ी थी। मँझलो लड़की के पास एक गोपन आभास दिया था—"नीरू के साथ ठीक बैठेगा, क्या विचार है?" विमला ने महत्व नहीं दिया। बोली थी, "एक माँ के पेट से पैदा हुई बहन देवरानी बने, यह बहुत बुरा लगता है, बाबूजी।"

पिता ने फिर भी बात खत्म नहीं होने दी, "इससे क्या हुआ? ऐसा तो कितनी ही जगह है।" कह कर उन्होंने दो-एक उदाहरण दिये थे। तब सबसे कोमल स्थान पर प्रहार किया था बेटी ने, "उन लोगों की माँग पूरी करना हम लोगों के बूते की बात

नहीं। मेरी सास इस लड़के के विवाह में नगदी, गहने, दान-दहेज मिला कर दस हजार रुपये वाला घर पाने की साध सँजोये हैं। तुम कर सकोगे?"

बात निर्मला के कान में भी गयी थी और उसकी दृष्टि में आया था पिता का वह आशाहत म्लान मुख। इससे पहले यहाँ उसने विजन को दो-तीन बार देखा था। वह भी उसके प्रति उदासीन नहीं था। भाभी की छोटी बहन के नाते केवल सान्निध्य में ही नहीं आया, घनिष्ठ होने की चेष्टा भी की थी।

निर्मला ने आपत्ति नहीं की, बल्कि थोड़ा प्रश्रय ही दिया। पिता के मन की उस आशा के रंग ने शायद उसके कुमारी हृदय के निभृत कोने में एक रंगीन सपना जगा दिया था। इसीलिए एक दिन सद्यः वर्षायुक्त आषाढ़ की संध्या को निर्जन छत पर पास-पास घूमते हुए, विजन ने जब उसका बायाँ हाथ दोनों हाथ से पकड़, अपनी उज्ज्वल आँखें उसके मुख पर टिका, अस्फुट कंठ से कहा था, "जानती हो निर्मला, तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।" तब निर्मला ने हाथ छुड़ा नहीं लिया था, दूर भी नहीं सरकी थी। उस प्रगाढ़ स्पर्श और गंभीर स्वर में बोले गये उस वाक्य 'अच्छी लगती हो' ने उसके समस्त अंग और मन में कोई मोहावेश आच्छादित कर दिया था। उस क्षण विजन अगर अपने दोनों सबल बाहु बढ़ा कर उसे अपनी छाती के पास खींच लेता, तो निर्मला शायद बाधा नहीं दे पाती, शायद स्वयं को निस्संकोच सौंप देती उस 'अच्छी लगती हो' के मधुर स्रोत में। उस दिन का 'अच्छी लगती हो' का बाँसुरी का स्वर उसके अंतस् में झंकार भर गया था।

वैसा कुछ नहीं घटा। कौन जाने घटता कि नहीं किंतु उससे पहले ही छत के जीने पर पदचाप सुन, उसका हाथ छोड़ दूर हट गया था विजन। निर्मला उस समय तक जैसे होश में नहीं आ पायी थी। अवसन्न-सी खड़ी रही। उसके बाद माँ की पुकार सुन कर सहसा चौंक उठी थी। जवाब देने से पूर्व ही माँ ऊपर पहुँच गयी थीं और विजन को देख कर बोली थीं, "ओह, बेटा तुम यहाँ हो? चाय रख दी है, आओ।" निर्मला की ओर घूम कर डाँट के स्वर में बोली थीं, "तुझसे नहीं कहा था, विजू को बुला ला? सब भूल बैठी है? वह कब का थोड़ा-सा भात खाकर उठा था, फिर एक कप चाय तक लड़के को नहीं मिली। इतनी बड़ी हो गयी। न जाने कहाँ इसके होश रहते हैं?"

विजन बोला था, "उसका कोई दोष नहीं, मौसी जी। तब से जोर दे रही है। भूख नहीं है, कह कर मैंने ही देर कर दी। उस समय बहुत ज्यादा खा लिया था।"

"ज्यादा क्या हुआ, बेटा, कुछ भी तो नहीं कर पायी। इतने दिन बाद आये हो साध होती है यह करूँ वह करूँ। पर....जाने दो, और देर मत करो। चलो, थोड़ा-सा मुँह में डाल लो। नीरू, अपने विजन दा को ले आओ...." कह कर माँ झटपट नीचे उतर

को भारी मुश्किल हो गयी। वह इस हँसी-तमाशे में योग नहीं दे पाती थी, चुप बैठे रहना या उठ कर चले जाना दृष्टि-कटु लगता। जितना संभव होता, बच कर चलती। इसी बीच विजन कई बार उसे एकांत में पाने की चेष्टा करता रहा। किन्तु निर्मला ने ऐसा अवसर नहीं आने दिया।

सुबह के समय विजन रास्ते के पास बरामदे में बैठा अखबार पढ़ रहा था, डाकिया आकर एक लिफाफा दे गया। उसे ले अंदर आकर विमला को बुलाकर बोला, "यह लो भाभी, अपना महाभारत।"

"महाभारत माने ?"

"उससे जो समझ में आता है, अठारह पर्व न होने पर भी कम-से-कम चतुर्दश पर्व अर्थात् चौदह पन्ने तो होंगे ही।"

"अच्छा, बस, बस," एक झटके से चिट्ठी उसके हाथ से छीन कर बोली मँझली दीदी, "मैं भी देख लूंगी।"

"क्या देख लोगी ?"

"जनाब कितने पर्व लिखते हैं अठारह या अट्ठासी।"

"यह नहीं होगा, देखो, आखिर गरीब की बख्शीश तो...."

"बख्शीश काहे की ?"

"वाह ! सुबह-ही-सुबह ऐसी एक चीज ढोकर ला के दी, उसके लिए।"

"ढोकर लाये यही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है। धन्य हो गये। इसके अलावा और क्या चाहिए ?"

"खाली-खाली धन्य होने से नहीं चलेगा। अमूर्त पुरस्कार से पेट नहीं भरता। जो पकड़ा जा सके, ऐसा कुछ दो।"

"यह लो।" लिफाफे को एक ओर से फाड़, चिट्ठी बाहर निकाल खोल देवर की ओर बढ़ा दिया भाभी ने।

"यह क्या ?"

"हिस्सा दे रही हूँ।"

"यह तो छिलका है।"

"गूदा क्या इतनी आसानी से मिल जाता है ? उसके लिए प्रतीक्षा करनी होती है। होगा, होगा। सब्र से ही मेवा मिलता है।"

पास जाकर आश्वासन की भंगिमा से उसकी पीठ पर एक धौल जमा दिया। विजन हाथ हिला कर निराशा के स्वर में बोला, "अंततः मेवा न सही, एक पैकेट सिगरेट भी नहीं मिलेगी।"

"अच्छा ठहरो।" कह कर विमला पत्र ब्लाऊज के भीतर रख कमरे में चली गयी। कुछ पल बाद लौट कर देवर के हाथ में पाँच रुपये का एक नोट देकर बोली,

निर्मला चुप खड़ी रही। एक बार सोचा, यहाँ इस ढंग से खड़े रहना उचित नहीं। देख कर कोई कुछ भी सोच सकता है। किन्तु पाँव बढ़ाने जाकर न जाने क्यों थम गये।

विजन ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। शायद जानता था, इस बात का उत्तर नहीं है; होने पर भी अब पाने का उपाय नहीं है। नाराजगी जताते हुए बोला, "विवाह के अवसर पर एक खबर भी नहीं भेजी!"

अब निर्मला ने सिर उठाया। मृदु प्रतिवाद के स्वर में बोली, "क्यों, बाबूजी ने तो आप सब लोगों को निमंत्रण भेजा था?"

"तुमने तो नहीं बुलाया?"

'मैं...."

"हाँ, निमंत्रण न सही, केवल एक खबर भेज देतीं। समय रहते मुझे पता चल जाता। इससे इतना बड़ा सर्वनाश नहीं होने पाता।"

"यह सब क्या कह रहे हैं आप?" निर्मला ने कठोर स्वर में तीव्र प्रतिवाद किया।

"नहीं, कुछ भी तो नहीं कह रहा हूँ। कहने को कुछ भी नहीं है। बहुत निश्चित था। जब जानने को मिला, तब समय नहीं रह गया था।"

निर्मला के कोई उत्तर न दे जाने के लिए पैर बढ़ाते ही विजन सहसा उसका रास्ता रोक कर खड़ा हो गया, अनुतप्त कंठ से बोला, "तुम मुझ पर विश्वास करो निर्मला, मित्र मान कर अपना सगा समझो। बताओ, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?"

"रास्ता छोड़ दीजिए।"

"नहीं, पहले मेरी बात का उत्तर दो।"

"मेरे लिए आपको चिंता करने की आवश्यकता नहीं?"

"बिना चिंता किये रह जो नहीं सकता। यह कैसे भूल जाऊँ कि इस सब कु के लिए मैं ही जिम्मेदार हूँ। सिर्फ एक ही भयंकर भूल हुई, जिसके फल से मैंने तुम्हें खो दिया। तुम भी सुखी नहीं हो सकीं।"

"किसने कहा, मैं सुखी नहीं हूँ?"

"और कौन कहेगा? मैं खुद समझ सकता हूँ।"

"झूठ बात। आपने गलत समझा है।"

कह कर और ठहरी नहीं। विजन क्या कहेगा और कब रास्ता छोड़ेगा, इसकी प्रतीक्षा न कर, थोड़ा एक ओर हो, द्रुत गति से कमरे से निकल आयी।

निर्मला ने सोचा था, इसके बाद विजन निश्चय ही चले जाना चाहेगा। किन्तु आश्चर्य, दो-तीन दिन बीत गये, उसके जाने के लक्षण नहीं दिखे। खूब हँसी-ठट्ठा, मजाक-परिहास करके और मजेदार किस्से सुना कर सबको मुग्ध किये रहा। निर्मला

को भारी मुश्किल हो गयी। वह इस हँसी-तमाशे में योग नहीं दे पाती थी, चुप बैठे रहना या उठ कर चले जाना दृष्टि-कटु लगता। जितना संभव होता, बच कर चलती। इसी बीच विजन कई बार उसे एकांत में पाने की चेष्टा करता रहा। किन्तु निर्मला ने ऐसा अवसर नहीं आने दिया।

सुबह के समय विजन रास्ते के पास बरामदे में बैठा अखबार पढ़ रहा था, डाकिया आकर एक लिफाफा दे गया। उसे ले अंदर आकर विमला को बुलाकर बोला, "यह लो भाभी, अपना महाभारत।"

"महाभारत माने ?"

"उससे जो समझ में आता है, अठारह पर्व न होने पर भी कम-से-कम चतुर्दश पर्व अर्थात् चौदह पन्ने तो होंगे ही।"

"अच्छा, बस, बस," एक झटके से चिट्ठी उसके हाथ से छीन कर बोली मँझली दीदी, "मैं भी देख लूंगी।"

"क्या देख लोगी ?"

"जनाब कितने पर्व लिखते हैं अठारह या अट्ठासी।"

"यह नहीं होगा, देखो, आखिर गरीब की बख्शीश तो...."

"बख्शीश काहे की ?"

"वाह ! सुबह-ही-सुबह ऐसी एक चीज ढोकर ला के दी, उसके लिए।"

"ढोकर लाये यही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है। धन्य हो गये। इसके अलावा और क्या चाहिए ?"

"खाली-खाली धन्य होने से नहीं चलेगा। अमूर्त पुरस्कार से पेट नहीं भरता। जो पकड़ा जा सके, ऐसा कुछ दो।"

"यह लो।" लिफाफे को एक ओर से फाड़, चिट्ठी बाहर निकाल खोल देवर की ओर बढ़ा दिया भाभी ने।

"यह क्या ?"

"हिस्सा दे रही हूँ।"

"यह तो छिलका है।"

"गूदा क्या इतनी आसानी से मिल जाता है ? उसके लिए प्रतीक्षा करनी होती है। होगा, होगा। सब्र से ही मेवा मिलता है।"

पास जाकर आश्वासन की भंगिमा से उसकी पीठ पर एक धौल जमा दिया। विजन हाथ हिला कर निराशा के स्वर में बोला, "अंततः मेवा न सही, एक पैकेट सिगरेट भी नहीं मिलेगी।"

"अच्छा ठहरो।" कह कर विमला पत्र ब्लाऊज के भीतर रख कमरे में चली गयी। कुछ पल बाद लौट कर देवर के हाथ में पाँच रुपये का एक नोट देकर बोली,

"बस ना ?"

विजन ने बहुत उत्साह के साथ भाभी के हाथ से नोट छीन लिया और उच्छ्वसित कंठ से बोला, "थैंक्यू, भाभी।"

"ओफ, क्या डाकू लड़का है, बाप रे !"

ऊपर से निर्मला किसी काम से जा रही थी। विजन उसकी ओर मुड़ कर बोला, "तुम्हारा महाभारत कब आयगा, नीरू ?"

"महाभारत !" मामला समझ कर भी भ्रू-कुंचित कर निर्मला ने विस्मय प्रकट किया।

"हाँ, भाभी की तो तारीख बँधी है—मंगल और शनि। तुम्हारी ?"

निर्मला के कुछ कहने से पहले ही मँझली दीदी बोल उठी, "इससे तुम्हारा क्या मतलब है, सुनूं ?"

"जो स्वार्थ बैल का होता है, केवल ढोने में ही सुख। इसके अलावा ऐसी ही और थोड़ी बख्शीश जुट जायगी।"

"देखती हूँ, बहुत लोभ है। लेकिन सभी को तो तुम्हारे दादा के समान काव्य रोग ने जकड़ा नहीं है जो रात भर जाग-जाग कर महाभारत की रचना करे।"

"महाभारत न सही, रामायण सही !"

"ना रे ना।" कह कर जैसे बहनोई की ओर से पैरवी कर रही हो, ऐसा भाव बनाया, "आहा, बेचारा कामकाजी इंसान ठहरा, उस पर भी स्कूल मास्टर। तुम लोगों जैसा रसप्रिय नहीं है।"

पति की बात स्पष्ट रूप से बीच में आ जाने से निर्मला रुकी नहीं, पास के कमरे में चली गयी। वहाँ से ही सुना, देवर के निकट जा कर दबे स्वर में मँझली दीदी कह रही थी, "उसके सामने यह बात क्यों उठाई ? इससे उसका दुःख ही बढ़ता है, यह क्या तुम नहीं समझते ?"

विजन भी उसी प्रकार स्वर धीमा कर बोला, "चिट्ठी-पत्री क्या बिल्कुल नही लिखते वह महाशय ?"

"कहाँ, दिखाई तो नहीं पड़ी कभी।"

विजन और कुछ नहीं बोला। सिर झुकाए धीरे-धीरे बाहर चला गया।

बात एकदम झूठ नहीं थी। बाप के घर आये पंद्रह दिन हो गये, इस बीच पति के हाथ का केवल एक ही पत्र मिला था उसे। वह भी एकदम कामकाजी पत्र—म की बीमारी वैसी ही चल रही है, नौकर अभी तक घर से नहीं लौटा है, तेंतुलतला क जमीन पर खेती शुरू नहीं हो सकी, इसी प्रकार की दो-चार आवश्यक सूचनाएँ, उसवे बाद 'इति'। कुछ ही दिन पहले तो विवाह हुआ था, अभी तक उसके अंग में नयी व के सब साज हैं, फिर भी संसार के प्रत्येक कार्य में उस पर पति की यह आस्था औ

निर्भरता में जो गौरव है, निर्मला के मन ने उसका स्पर्श न किया हो, यह बात नहीं। किंतु एक सद्य-परिणीता तरुणी का मन केवल इतने से ही तृप्त हो सकता है क्या ? पति के पास से उसे क्या कोई अन्य प्रत्याशा नहीं होती ?

नये विवाह के बाद बाप के घर में आ कर जिस वस्तु के लिए लड़कियाँ डाकिये का रास्ता देखती बैठी रहती हैं, उसका वर्ण-परिचय निर्मला को विवाह से पहले हो गया था। सखियाँ जब मिलने को आतीं, तब ब्लाऊज में छुपा कर लातीं मोटे-मोटे रंगीन लिफाफे। दोपहर को आसपास जब बड़े लोगों की आवाजें बंद हो जातीं, कोने के कमरे में फर्श पर उलटे लेट कर, उसके कान के पास मुख ला कर उच्छ्वास भरे गुंजन के साथ एक के बाद दूसरा पन्ना पढ़ना शुरू हो जाता। उसमें काम की बात यदि एक आना होती, तो बाकी पंद्रह आना केवल फालतू बातें भरी होतीं। फिर भी सुनते-सुनते जैसे नशा आ जाता। बीच-बीच में दोनों कान लाल हो उठते। छीः छीः ये सब बातें लिखते कैसे हैं। महाशय बहुत असभ्य व्यक्ति हैं! सखी को धमक देती, "ठहर, अब पढ़ने की जरूरत नहीं।" वह सब मुँह की कोरी धमकी होती। मन पड़ा रहता उसके हाथ के उन्हीं कागजों में, उस अर्थहीन निर्लज्ज प्रलाप और उसमें छिपे मादक रस में। मन-ही-मन सोचती, ऐसी ही चिट्ठी एक दिन उसके पास भी आयगी। उसके जीवन में आने वाला नया व्यक्ति, शायद इससे भी सुंदर भाषा में नये ढंग से सुनायेगा अपने मन की बात। सोचते-सोचते एक अद्‌भुत रोमांच होता निर्मला के तन और मन में।

आज उसके जीवन में भी आया था वही पथ निहारते बैठे रहने का दिन। सखियों के समान दोनों वक्त डाकिये की प्रतीक्षा रहती। क्या पता क्या लिखेगा नरेन ? वह सब बातें, जो सखियाँ उसके कान में तन्मय होकर सुनाती थीं। किन्तु वह तो बहुत लजालु और संकोची व्यक्ति हैं, मुँह से दो शब्द कहने जाकर तीन बार अटकते हैं। यह होने दो। चिट्ठी की बात तो मुँह से नहीं कहनी पड़ती। वह मुख की बात नहीं, मन की बात हाथ से बोली जाती है। चिट्ठी मनुष्य की मानस-लिपि होती है। बाहर से जैसा भी हो, मन उसका सचमुच ही सुन्दर है। चिट्ठी में रहेगी उसकी प्रतिच्छाया।

जब चिट्ठी आयी, तब निर्मला की समस्त प्रत्याशा जैसे उस पर व्यंग कर उठी। यह है उसका प्रथम प्रेम-पत्र! इच्छा हुई उसी समय फाड़कर फेंक दे। फिर न जाने कैसी करुणा हो आयी पति पर। लिखावट में झलकने लगा कैसा एक असहाय स्वर! 'सब बातें तुम्हें लिख दीं' लिख कर 'अब क्या करूँ'....ऐसी एक निर्भरता। मन में एक ओर क्षोभ-रोष भर उठने पर भी दूसरी ओर रही करुणा। उसके साथ ही गर्व की भावना—पति ने उसे और कुछ न देकर भी दिया है मान, दी है गृहणी की मर्यादा।

यद्यपि गृहणी बनने लायक उसकी आयु नहीं हुई थी, फिर भी यही सांत्वना देकर उसने मन को समझाना चाहा था। किन्तु मँझली दीदी और विजन के दबे स्वर की दो बातें सब उलट-पुलट कर गयीं। 'बेचारा कामकाजी व्यक्ति उस पर स्कूल

"बस ना ?"

विजन ने बहुत उत्साह के साथ भाभी के हाथ से नोट छीन लिया और उच्छ्वसित कंठ से बोला, "थेंक्यू, भाभी ।"

"ओफ, क्या डाकू लड़का है, बाप रे !"

ऊपर से निर्मला किसी काम से जा रही थी । विजन उसकी ओर मुड़ कर बोला, "तुम्हारा महाभारत कब आयगा, नीरू ?"

"महाभारत !" मामला समझ कर भी भ्रू-कुंचित कर निर्मला ने विस्मय प्रकट किया ।

"हाँ, भाभी की तो तारीख बँधी है—मंगल और शनि । तुम्हारी ?"

निर्मला के कुछ कहने से पहले ही मँझली दीदी बोल उठी, "इससे तुम्हारा क्या मतलब है, सुनूं ?"

"जो स्वार्थ बैल का होता है, केवल ढोने में ही सुख । इसके अलावा ऐसी ही और थोड़ी बख्शीश जुट जायगी ।"

"देखती हूँ, बहुत लोभ है । लेकिन सभी को तो तुम्हारे दादा के समान काव्य रोग ने जकड़ा नहीं है जो रात भर जाग-जाग कर महाभारत की रचना करे ।"

"महाभारत न सही, रामायण सही !"

"ना रे ना ।" कह कर जैसे बहनोई की ओर से पैरवी कर रही हो, ऐसा भाव बनाया, "आहा, बेचारा कामकाजी इंसान ठहरा, उस पर भी स्कूल मास्टर । तुम लोगों जैसा रसप्रिय नहीं है ।"

पति की बात स्पष्ट रूप से बीच में आ जाने से निर्मला रुकी नहीं, पास के कमरे में चली गयी । वहाँ से ही सुना, देवर के निकट जा कर दबे स्वर में मँझली दीदी कह रही थी, "उसके सामने यह बात क्यों उठाई ? इससे उसका दुःख ही बढ़ता है यह क्या तुम नहीं समझते ?"

विजन भी उसी प्रकार स्वर धीमा कर बोला, "चिट्ठी-पत्री क्या बिल्कुल नहीं लिखते वह महाशय ?"

"कहाँ, दिखाई तो नहीं पड़ी कभी ।"

विजन और कुछ नहीं बोला । सिर झुकाए धीरे-धीरे बाहर चला गया ।

बात एकदम झूठ नहीं थी । बाप के घर आये पंद्रह दिन हो गये, इस बीच पति के हाथ का केवल एक ही पत्र मिला था उसे । वह भी एकदम कामकाजी पत्र—म की बीमारी वैसी ही चल रही है, नौकर अभी तक घर से नहीं लौटा है, तेंतुलतला कं जमीन पर खेती शुरू नहीं हो सकी, इसी प्रकार की दो-चार आवश्यक सूचनाएँ, उसं बाद 'इति' । कुछ ही दिन पहले तो विवाह हुआ था, अभी तक उसके अंग में नयी व के सब साज हैं, फिर भी संसार के प्रत्येक कार्य में उस पर पति की यह आस्था औ

निर्भरता में जो गौरव है, निर्मला के मन ने उसका स्पर्श न किया हो, यह बात नहीं। किंतु एक सद्य-परिणीता तरुणी का मन केवल इतने से ही तृप्त हो सकता है क्या ? पति के पास से उसे क्या कोई अन्य प्रत्याशा नहीं होती ?

नये विवाह के बाद बाप के घर में आ कर जिस वस्तु के लिए लड़कियाँ डाकिये का रास्ता देखती बैठी रहती हैं, उसका वर्ण-परिचय निर्मला को विवाह से पहले हो गया था। सखियाँ जब मिलने को आतीं, तब ब्लाऊज में छुपा कर लातीं मोटे-मोटे रंगीन लिफाफे। दोपहर को आसपास जब बड़े लोगों की आवाजें बंद हो जातीं, कोने के कमरे में फर्श पर उलटे लेट कर, उसके कान के पास मुख ला कर उच्छ्वास भरे गुंजन के साथ एक के बाद दूसरा पन्ना पढ़ना शुरू हो जाता। उसमें काम की बात यदि एक आना होती, तो बाकी पंद्रह आना केवल फालतू बातें भरी होतीं। फिर भी सुनते-सुनते जैसे नशा आ जाता। बीच-बीच में दोनों कान लाल हो उठते। छीः छीः ये सब बातें लिखते कैसे हैं। महाशय बहुत असभ्य व्यक्ति हैं ! सखी को धमक देती, "ठहर, अब पढ़ने की जरूरत नहीं।" वह सब मुँह की कोरी धमकी होती। मन पड़ा रहता उसके हाथ के उन्हीं कागजों में, उस अर्थहीन निर्लज्ज प्रलाप और उसमें छिपे मादक रस में। मन-ही-मन सोचती, ऐसी ही चिट्ठी एक दिन उसके पास भी आयगी। उसके जीवन में आने वाला नया व्यक्ति, शायद इससे भी सुंदर भाषा में नये ढंग से सुनायेगा अपने मन की बात। सोचते-सोचते एक अद्भुत रोमांच होता निर्मला के तन और मन में।

आज उसके जीवन में भी आया था वही पथ निहारते बैठे रहने का दिन। सखियों के समान दोनों वक्त डाकिये की प्रतीक्षा रहती। क्या पता क्या लिखेगा नरेन ? वह सब बातें, जो सखियाँ उसके कान में तन्मय होकर सुनाती थीं। किन्तु वह तो बहुत लजालु और संकोची व्यक्ति हैं, मुँह से दो शब्द कहने जाकर तीन बार अटकते हैं। यह होने दो। चिट्ठी की बात तो मुँह से नहीं कहनी पड़ती। वह मुख की बात नहीं, मन की बात हाथ से बोली जाती है। चिट्ठी मनुष्य की मानस-लिपि होती है। बाहर से जैसा भी हो, मन उसका सचमुच ही सुन्दर है। चिट्ठी में रहेगी उसकी प्रतिच्छाया।

जब चिट्ठी आयी, तब निर्मला की समस्त प्रत्याशा जैसे उस पर व्यंग कर उठी। यह है उसका प्रथम प्रेम-पत्र ! इच्छा हुई उसी समय फाड़कर फेंक दे। फिर न जाने कैसी करुणा हो आयी पति पर। लिखावट में झलकने लगा कैसा एक असहाय स्वर ! 'सब बातें तुम्हें लिख दीं' लिख कर 'अब क्या करूँ'....ऐसी एक निर्भरता। मन में एक ओर क्षोभ-रोष भर उठने पर भी दूसरी ओर रही करुणा। उसके साथ ही गर्व की भावना—पति ने उसे और कुछ न देकर भी दिया है मान, दी है गृहणी की मर्यादा।

यद्यपि गृहणी बनने लायक उसकी आयु नहीं हुई थी, फिर भी यही सांत्वना देकर उसने मन को समझाना चाहा था। किन्तु मँझली दीदी और बिजन के दबे स्वर की दो बातें सब उलट-पुलट कर गयीं। 'बेचारा कामकाजी व्यक्ति उस पर स्कूल

मास्टर !' इसमें जो सुस्पष्ट तिरस्कार था, उसी के प्रभाव से पति पर रुष्ट हो उठी। फिर अपने भाग्य को धिक्कारा। ऐसा क्यों हुआ ? क्या एक वही संसार में कामकाजी व्यक्ति है ? स्कूल मास्टर क्या और कोई नहीं है ? सद्य-परिणीता पत्नी को क्या वे ऐसा ही पत्र लिखते हैं ?

बहुत दिन बाद, मन का रोष कुछ हलका पड़ गया था, क्षोभ प्रकट करने के लिए नहीं, ऐसे ही किसी बात के दौरान निर्मला के पति के आगे उस चिट्ठी का प्रसंग उठाया था। परिहास-युक्त स्वर में बोली थी, "नवोढ़ा पत्नी को इस प्रकार की चिट्ठी लिखता है कोई ? उस दिन कितनी मुसीबत में पड़ गयी मैं ? सखियों ने कहा कि कहीं तुम लोगों में झगड़ा तो नहीं हुआ ?"

"क्यों ?" नरेन ने विस्मय प्रकट किया था, "उसमें कोई झगड़े की तो बात थी नहीं। जहाँ तक याद पड़ता है, काम की ही बातें लिखी थीं मैंने।"

ऐसे व्यक्ति को कैसे समझाया जाय—पति-पत्नी का संसार हर समय ही काम के पचड़े में घिरा नहीं रहता, उसके बाहर ही होता है। 'अ-काज' और 'अनावश्यक' बातों की अंतहीन सीमा होती है। वहाँ 'बेकार बातों' का राज्य होता है, उसका भी समावेश रहना चाहिए। पत्र आवश्यकता का प्यादा ही नहीं, अनावश्यकता का भी दूत होता है।

विजन कई दिन से 'जाने-जाने' कह रहा था। संकल्प जितना मौखिक था, उतना शायद आंतरिक नहीं था। भीतर वैसा जोर नहीं था। इसीलिए इस ओर से मृदु आपत्ति उठते-न-उठते संकल्प टूट जाता। इस बार उसके घर से ही बुलावा आ गया। अब देर करने से नहीं होगा। अगले दिन सवेरे की गाड़ी से जाना तय हुआ। इसलिए आज विशेष प्रकार के खाने-वाने का आयोजन हुआ था। निर्मला और उसकी माँ सुबह से ही उसमें व्यस्त थीं। विमला को इस प्रकार के काम में कोई नहीं बुलाता। इस ओर उसका कोई आग्रह भी नहीं था। विवाह से पूर्व माँ से एकाध काम सीखी थी, ससुराल जाकर वह सब करने की जरूरत नहीं हुई। रसोइया जो था करने को। जितनी देखभाल करना जरूरी थी, उसके लिए सास थी ही।

खाने-वाने में थोड़ी देर देख वह अपने कमरे में लेट भीगे केशों की लटें पलंग से लटका कर एक सस्ते किस्म के उपन्यास के पन्ने पलट रही थी। विजन दो-चार बार निर्मला से एकांत में मिलने की वृथा चेष्टा कर अंत में बैठकखाने में जा बैठा और अखबार में मन लगाने लगा। वहाँ और कोई नहीं था। जगदीशबाबू कुछ देर पहले कचहरी जा चुके थे।

एक व्यक्ति आ कर सामने के खुले दरवाजे से अंदर घुसा। मोटी धोती पहने था, कोंछ को चुन्नट करके आगे नहीं खोंसा था, बल्कि फेंटा बना कर कमर से बाँधा हुआ था, जैसे गाँव के वयस्क लोग पहना करते हैं। तन पर टुईल की कमीज थी, जिसमें

इस्तरी न होने से कई सिलवटें पड़ी थीं। गले का वटन लगाया हुआ था। कालर वहुत मलगीजा हुआ था। छाती के पास के दो वटन नहीं थे, उनकी वजाय धागे से काम लिया गया था। कमीज की दोनों वाँहें छोटी हो चुकी थीं। पैरों में सफेद केनवास का जूता था। हाथ में वाँस की डंडी वाला छाता था, जिसके पुराने कपड़े पर सफेद पेवंद लगा था।

उस व्यक्ति के अंदर कदम रखते ही विजन ने उसे देख कर कहा, "वावू नहीं हैं, कचहरी गये हैं।"

इस पर भी जाते न देख और झिझकते देख कर उसने फिर कहा, "चार वजे वाद आना, तव मिलेंगे।"

उसी समय 'तुम्हारा खाना परोस दिया है, देवरजी', कहते-कहते पीछे वाले दरवाजे से विमला ने प्रवेश किया। आगंतुक की ओर दृष्टि पड़ते ही वोल उठी, "अरे नरेन ? तुम कव आये ?"

कुंठित स्वर में उत्तर मिला, "अभी-अभी आया।"

विजन जल्दी से उठ खड़ा हुआ और विस्मय के स्वर में वोला, "नरेन ! माने, हमारे नरेन दा, अर्थात् निर्मला के...."

"हाँ रे ! लगता है पहचान नहीं पाये ? पहचानते भी कैसे ? किसी दिन देखना जो नहीं हुआ।"

"सत्यानाश ! अरे, मैंने तो इन्हें मुवक्किल समझ सीधा विदा कर दिया था।"

"अच्छा !"....कह कर हँस पड़ी विमला।

"हिश्श ! भाग्य से तुम आ गयीं भाभी। नहीं तो न जाने और क्या कह वैठता ?"

"इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं," कह कर नरेन की ओर घूम कौतुक के स्वर में विमला वोली, "वुरा नहीं मानना भाई, तुम्हें देख आसानी से कोई नहीं समझ सकता कि ससुराल आये हो। ठीक ऐसा लग रहा है, गाँव से कोई मुकदमा करने चले आ रहे हो। चलो, अंदर चलो। घर की खवर तो सव ठीक है न ?"

"जी हाँ।"

छाता दोनों हाथों में पकड़े संकुचित भाव से नरेन विमला के पीछे-पीछे घर में गया। विजन भी उनके साथ था।

अंदर पहुँच कर नरेन को एक वार फिर हँसी-मजाक का सामना करना पड़ा। विमला ने सव के सामने मामले को खूव रंग दे वढ़ा-चढ़ा कर पेश किया। चारों ओर कंठस्वर मुखर कर वोली, "मेरे गुणी देवर का कांड सुनो, तुम लोग। वेचारा नया जमाई ससुराल आया और उसने उन्हें केवल धक्का देना वाकी रखा। किसी अपराध में ? नहीं, साज-पोशाक से और चेहरे से जनाव वावूजी के मुवक्किलों में समझ वैठे

उन्हें।"

बोलते-बोलते अट्टहास की लहर उठा कर बरामदे में ही धप्प से बैठ गयी विमला। आसपास के सबके मुखों पर वैसी ही हँसी झलक उठी। नौकर-नौकरानी ही नहीं, गृहणी भी मुँह दबा के हँसी।

रसोईघर के एक कोने में खड़े, सबसे अलक्ष्य केवल एक जन के मुख पर गहरा अन्धकार उतर आया। पति की ओर एक बार देखते ही निर्मला की दोनों आँखों में ज्वाला भड़क उठी। कैसा है यह इंसान! परिहास के नाम पर इतनी लांछना से भी कोई विकार नहीं। सबके साथ वह भी जैसे उसका आनन्द ले रहा है। इससे बढ़कर और क्या मर्मान्तिक हो सकता है। उसका सारा आक्रोश इस निरीह व्यक्ति पर केन्द्रित हो उठा।

माँ नहीं समझ पायी। निर्मला की आँखों की ओर देखकर बोली, "एकदम धुएँ के मुँह में खड़ी है? बाहर जाकर खड़ी हो। अब मैं अकेले ही सब सम्हाल लूंगी। तू बल्कि उधर देख। मैले कपड़े छोड़ एक साड़ी निकाल कर पहन ले। हाथ-मुंह धो डाल।"

खाना-वाना हो चुकने पर पति के साथ जब एकान्त में मुलाकात हुई, तब इतनी देर तक दबी वही ज्वाला निर्मला के मुंह से निकल पड़ी, "गाँव में क्या धोबियों का अकाल पड़ा है? धोती-कमीज भी नहीं धुलवायी जा सकती थी?"

नरेन एक बार अपनी ओर देख सलज्ज मृदु-हँसी के साथ बोला, "मैली दिख रही हैं? कल ही तो साबुन से धोई थीं।"

"साबुन से धुली धोती पहन कर कोई बाहर निकलता है?"

"स्कूल तो यही पहन कर रोज जाता हूँ।"

"यह पहन कर गाँव के स्कूल में जाया जा सकता है। यहाँ आने में नहीं चलता।"

नरेन ने जवाब नहीं दिया। निर्मला फिर बोली, "और यह रद्दी छाता लाये बिना क्या आना नहीं हो पाता?"

"धूप थी और रास्ता बहुत लम्बा....।"

"इसलिए इस सफेद कपड़े का पेवंद लगा घिनौना छाता लाओगे? ऐसी चीज कोई भला आदमी काम में लाता है?"

"बहुत दिन पुराना हो गया। कई जगह छेद हो गये थे। इसी से सोचा....।"

"छेद हो गये थे तो इसे फेंक देते", बात के साथ ही निर्मला चीख उठी।

नरेन ने बात नहीं बढ़ायी, शांत बैठा रहा। निर्मला का क्षोभ इस पर भी कम नहीं हुआ, प्रायः रुद्ध कंठ से जलन का आभास फूट निकला—"इस प्रकार चले आने की क्या जरूरत पड़ गयी थी? एक दिन बाद आने पर उस लड़के के सामने इस तरह

मेरी नाक तो नहीं कटती। छीः छीः क्या सोचा होगा उसने !"

'सोचना' यदि नीरव ही होता तो भी उसे इतनी फिक्र न होती। किन्तु वह जो सोचता है, उसे सबके सामने जोर-शोर से प्रकट कर देना भी विजन का स्वभाव है। उसका ही एक और प्रत्यक्ष परिचय मिला शाम को नाश्ते के समय।

बरामदे में पास-पास ही आसन बिछा कर गृहणी ने दो संबंधियों को नाश्ता दिया था। काँसे की तश्तरी में पूड़ी, परवल की सब्जी और उसके साथ कई प्रकार की मिठाई। नरेन आकर बैठ गया था, विजन का तब तक पता नहीं था। कई बार बुलाने के बाद बगल के कमरे से जब बाहर निकला, उस ओर देखते ही विमला और पड़ोस की कई लड़कियाँ (नये जमाई के आने की खबर पाकर जो पहले ही आ जुड़ी थीं) खिलखिला कर हँस पड़ीं। विजन के सिर पर वही सफेद पेवंद लगा छाता लगा था। विमला बोली, "यह क्या ! वर्षा हो रही है क्या, देवरजी ?"

"नहीं देख रहा हूँ, दादा का छाता किस युग का है। पहले लगा मुगल शासन काल का है। अब देखता हूँ उससे भी बहुत पहले का है। लगता है सम्राट अशोक या बिंबसार दादा को दान में दे गये थे।"

इसके साथ ही फिर हँसी का एक दौरा पड़ा।

विजन नहीं हँसा। वैसे ही गवेषक-सुलभ विज्ञ के समान बोला, "एक काम करो, दादा। आप अब इसे कलकत्ता म्युजियम को दान कर दो। कहें, तो मैं पहुँचा दे सकता हूँ। इस प्रकार की एक ऐतिहासिक संपदा वे लोग देखते ही लपक कर ले लेंगे।"

कहने का ढंग इतना गंभीर और रसपूर्ण था कि सबके साथ नरेन भी इस हँसी में योग देने जा रहा था, पर हँसी की एक-दो रेखाएँ मुख पर फैल कर सहसा लुप्त हो गयीं। शायद कुछ क्षण पहले का दांपत्य-दृश्य याद आ गया। कनखी से एक बार दरवाजे की ओर देखने के साथ ही नजरें नाश्ते की तश्तरी पर झुका लीं। दरवाजे की आड़ में पहचाने आँचल की झलक दिखी थी।

लड़कियों में से कोई एक बोल उठी, "अच्छे इंसान हैं आप !" अन्य एक तरुणी को कहते सुना गया, "हँसाने में बहुत माहिर हैं !" माँ के मुंह से निकला, "विजन हमारा बहुत हँसमुख लड़का है। इन्हीं कुछ दिनों में सारे घर को मोह लिया है। अब तुम भी बैठ जाओ, बेटा। चाय ठंडी हो रही है।"

अपने आसन पर बैठ, बगल की ओर देख बोल उठा, "अरे, दादा को चाय नहीं दी ?"

गृहणी बोली, "वह चाय नहीं पीते।"

"यह क्या ? आप कौन देश के वासी हैं जी ! चाय नहीं पीते, क्यों ?"

नरेन बोला, "आदत नहीं है।"

उन्हें ।"

बोलते-बोलते अट्टहास की लहर उठा कर बरामदे में ही धप्प से बैठ गयी विमला। आसपास के सबके मुखों पर वैसी ही हँसी झलक उठी। नौकर-नौकरानी ही नहीं, गृहणी भी मुँह दबा के हँसी।

रसोईघर के एक कोने में खड़े, सबसे अलक्ष्य केवल एक जन के मुख पर गहरा अन्धकार उतर आया। पति की ओर एक बार देखते ही निर्मला की दोनों आँखों में ज्वाला भड़क उठी। कैसा है यह इंसान! परिहास के नाम पर इतनी लांछना से भी कोई विकार नहीं। सबके साथ वह भी जैसे उसका आनन्द ले रहा है। इससे बढ़कर और क्या मर्मान्तक हो सकता है। उसका सारा आक्रोश इस निरीह व्यक्ति पर केन्द्रित हो उठा।

माँ नहीं समझ पायी। निर्मला की आँखों की ओर देखकर बोली, "एकदम धुएँ के मुँह में खड़ी है? बाहर जाकर खड़ी हो। अब मैं अकेले ही सब सम्हाल लूंगी। तू बल्कि उधर देख। मैले कपड़े छोड़ एक साड़ी निकाल कर पहन ले। हाथ-मुंह धो डाल।"

खाना-वाना हो चुकने पर पति के साथ जब एकान्त में मुलाकात हुई, तब इतनी देर तक दबी वही ज्वाला निर्मला के मुँह से निकल पड़ी, "गाँव में क्या धोबियों का अकाल पड़ा है? धोती-कमीज भी नहीं धुलवायी जा सकती थी?"

नरेन एक बार अपनी ओर देख सलज्ज मृदु-हँसी के साथ बोला, "मैली दिख रही हैं? कल ही तो साबुन से धोई थीं।"

"साबुन से धुली धोती पहन कर कोई बाहर निकलता है?"

"स्कूल तो यही पहन कर रोज जाता हूं।"

"यह पहन कर गाँव के स्कूल में जाया जा सकता है। यहाँ आने में नहीं चलता।"

नरेन ने जबाब नहीं दिया। निर्मला फिर बोली, "और यह रद्दी छाता लाये बिना क्या आना नहीं हो पाता?"

"धूप थी और रास्ता बहुत लम्बा....।"

"इसलिए इस सफेद कपड़े का पेवंद लगा घिनौना छाता लाओगे? ऐसी चीज कोई भला आदमी काम में लाता है?"

"बहुत दिन पुराना हो गया। कई जगह छेद हो गये थे। इसी से सोचा....।"

"छेद हो गये थे तो इसे फेंक देते", बात के साथ ही निर्मला चीख उठी।

नरेन ने बात नहीं बढ़ायी, शांत बैठा रहा। निर्मला का क्षोभ इस पर भी कम नहीं हुआ, प्रायः रुद्ध कंठ से जलन का आभास फूट निकला—"इस प्रकार चले आने की क्या जरूरत पड़ गयी थी? एक दिन बाद आने पर उस लड़के के सामने इस तरह

मेरी नाक तो नहीं कटती । छीः छीः क्या सोचा होगा उसने !"

'सोचना' यदि नीरव ही होता तो भी उसे इतनी फिक्र न होती । किन्तु वह जो सोचता है, उसे सबके सामने जोर-शोर से प्रकट कर देना भी विजन का स्वभाव है । उसका ही एक और प्रत्यक्ष परिचय मिला शाम को नाश्ते के समय ।

बरामदे में पास-पास ही आसन बिछा कर गृहणी ने दो संबंधियों को नाश्ता दिया था । काँसे की तश्तरी में पूड़ी, परवल की सब्जी और उसके साथ कई प्रकार की मिठाई । नरेन आकर बैठ गया था, विजन का तब तक पता नहीं था । कई बार बुलाने के बाद बगल के कमरे से जब बाहर निकला, उस ओर देखते ही विमला और पड़ोस की कई लड़कियाँ (नये जमाई के आने की खबर पाकर जो पहले ही आ जुड़ी थीं) खिलखिला कर हँस पड़ीं । विजन के सिर पर वही सफेद पेवंद लगा छाता लगा था । विमला बोली, "यह क्या ! वर्षा हो रही है क्या, देवरजी ?"

"नहीं देख रहा हूँ, दादा का छाता किस युग का है । पहले लगा मुगल शासन काल का है । अब देखता हूँ उससे भी बहुत पहले का है । लगता है सम्राट अशोक या बिंबसार दादा को दान में दे गये थे ।"

इसके साथ ही फिर हँसी का एक दौरा पड़ा ।

विजन नहीं हँसा । वैसे ही गवेषक-सुलभ विज्ञ के समान बोला, "एक काम करो, दादा । आप अब इसे कलकत्ता म्युजियम को दान कर दो । कहें, तो मैं पहुँचा दे सकता हूँ । इस प्रकार की एक ऐतिहासिक संपदा वे लोग देखते ही लपक कर ले लेंगे ।"

कहने का ढंग इतना गंभीर और रसपूर्ण था कि सबके साथ नरेन भी इस हँसी में योग देने जा रहा था, पर हँसी की एक-दो रेखाएँ मुख पर फैल कर सहसा लुप्त हो गयीं । शायद कुछ क्षण पहले का दांपत्य-दृश्य याद आ गया । कनखी से एक बार दरवाजे की ओर देखने के साथ ही नजरें नाश्ते की तश्तरी पर झुका लीं । दरवाजे की आड़ में पहचाने आँचल की झलक दिखी थी ।

लड़कियों में से कोई एक बोल उठी, "अच्छे इंसान हैं आप !" अन्य एक तरुणी को कहते सुना गया, "हँसाने में बहुत माहिर हैं !" माँ के मुँह से निकला, "विजन हमारा बहुत हँसमुख लड़का है । इन्हीं कुछ दिनों में सारे घर को मोह लिया है । अब तुम भी बैठ जाओ, बेटा । चाय ठंडी हो रही है ।"

अपने आसन पर बैठ, बगल की ओर देख बोल उठा, "अरे, दादा को चाय नहीं दी ?"

गृहणी बोली, "वह चाय नहीं पीते ।"

"यह क्या ? आप कौन देश के वासी हैं जी ! चाय नहीं पीते, क्यों ?"

नरेन बोला, "आदत नहीं है ।"

"क्या मुश्किल ! पियेंगे नहीं तो आदत पड़ेगी कैसे? नहीं, नहीं, यह नहीं होगा। दीजिए, मौसी जी, इन्हें चाय दीजिए।"

"कभी नहीं पी है। माफिक नहीं बैठती।"

"यह देखिए, आप अपनी बात खुद ही काट रहे हैं। जब कभी पी ही नहीं तब माफिक बैठेगी या नहीं बैठेगी, यह कैसे जाना? पी कर देखिए ना। माफिक रहेगी न हो, हाजमे की एक गोली खा लीजिएगा।"

नरेन की आँखें अनजाने ही बगल के कमरे के दरवाजे की ओर उठ गयीं विजन लक्ष्य करते ही बोल उठा, "क्या देख रहे हैं? आनरेबुल हाईकोर्ट का हुक चाहते हैं? जाइये भाभीजी, हुक्म ले आइये। जज साहब को यदि सशरीर हाजिर क सकें तो और भी अच्छा रहेगा। सभी लोग सम्मति सुन सकें।"

विमला ने वहीं बैठे-बैठे आवाज लगायी, "कहाँ हो, जज साहब, जरा कचह में तो आइये।"

किसी की कोई आहट नहीं मिली। एक प्रौढ़ा बोल उठी, "ओहो, वह कैसे सकती है इस जमघट में? नीरू वैसे ही कितनी लजीली लड़की है।"

"अच्छा, उसका हुक्म न सही, मैं ही दे देती हूँ," आज्ञा की भंगिमा में विम बोली।

"बस। अब झंझट मिट गया। मौसीजी व्यवस्था कीजिए।"

"वह जब कह रहे हैं, उन्हें आज नहीं...."

"रहने दीजिए, आपको अब जमाई की ओर से पैरवी करने की जरूरत नह मैं देखती हूँ...." कहते-कहते विमला जल्दी से उठ कर आँचल खोंसती हुई भागती- रसोईघर में चली गयी।

नितांत अनिच्छा से, किंतु सभी के दबाव में पड़ कर धुआँ उठती चाय प्याला नरेन ने उठा लिया। उसके गरम होने के परिमाण का अंदाज नहीं लगा सक एक घूंट भरते ही अस्थिर हो उठा और मुंह विकृत कर प्याला जल्दी से नीचे दिया। समवेत हँसी का फव्वारा छोड़ सभी ने दृश्य का आनंद लिया। विमला ज से पास आयी। 'चुप' 'चुप' कर मुंह से कृत्रिम सहानुभूति की आवाज कर बो "ओह! जीभ जल गयी। ठहरिए, मैं ठंडी किये देती हूँ।"

प्लेट में डाल थोड़ी ठंडी होने के बाद 'अब लीजिए' कह कर उसने बढ़ायी, नरेन जब तक हाथ आगे करने में हिचक रहा था, तब तक विमला ने इंत नहीं किया। प्लेट को सीधा ले जा कर नरेन के मुंह में उड़ेल दिया। इस प्रकार घटना के लिए नरेन तैयार नहीं था। फलतः थोड़ी चाय मुंह में गयी और थ बाहर कपड़ों पर गिरी। चारों ओर फिर ठहाका लगा।

इस घटना के अनेक दिन बाद, अपने जीवन के दृश्यों के पन्ने उलटते समय निर्मला के मन में आया, इन सब बातों-तमाशों का अन्य सबके समान वह भी उस दिन उपभोग कर सकती थी। इतना अगर न भी कर पाती, हँसी-मजाक को आत्मीयजनों का साधारण परिहास मान लेती, तो उसका कोई नुकसान न होता। किंतु इस ओर दृष्टि डालने के लायक तब उसकी अवस्था नहीं थी। मन में केवल एक ही बात उठती, यह परिहास नहीं, बल्कि उपहास और उससे भी बढ़ कर अवज्ञा और लांछना है। एक सामान्य पढ़े-लिखे गँवार किसान के लिए जो प्राप्य है, उसके लिए मँझली दीदी और बिजन को उसने कोई दोष नहीं दिया। समस्त अंतर विक्षुब्ध हो उठा था इस अवज्ञा के लक्ष्य स्थल उस भलेमानस पर। वे लोग उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इतना समझने के लायक जिसे बुद्धि नहीं, अथवा वह ज्ञान होने पर भी अपमान से जल उठने लायक आत्म-सम्मान का बोध नहीं, ऐसे पति को वह कैसे क्षमा करे? उस निरीह, जड़, अति शील व्यक्ति पर करुणा न कर, तीव्र आघात करके उसे सचेतन कर डालने के लिए ही उस दिन वह उन्मुख हो उठी थी।

ससुराल आ कर नया जमाई थोड़ी देर बाद ही लौट जाना चाहता है, रात तक नहीं ठहरना चाहता, कौन सास-ससुर यह बारणा नहीं करते? जगदीशबाबू कचहरी से आकर नरेन के मुँह से उसका उसी समय चले जाने का प्रस्ताव सुन कर यथारीति विस्मित हुए। गृहणी भी मानने को तैयार नहीं हुई। बोली, "यह कैसे हो सकता है? दोपहर को धूप में तपते-तपते आये। क्या खाया क्या नहीं, यह तक नहीं कर पायी। आज तो कैसे भी नहीं जाने सकोगे। कल के दिन रुक कर परसों जाना।"

नरेन को कोई बहुत अधिक आपत्ति हो, यह हाव-भाव से पता नहीं चला। एक-दो दिन के लिए तैयार होकर आया है, यह स्वाभाविक था। फिर भी मृदु स्वर में बोला, "जी, माँ अकेली हैं। उनकी तबीयत भी ठीक नहीं रहती है।"

"समधिनजी ने क्या आज ही लौट आने को कह दिया है?"

"नहीं, ऐसा तो नहीं कहा।"

"फिर क्या है? ज्यादा तबीयत तो खराब है नहीं! एक दिन अकेली भी रह सकती हैं।"

अंदर आते ही निर्मला एकदम बोल उठी, "नहीं, माँ। तुम बाधा मत दो। सासजी बीमार हैं, जाना चाहते हैं, जाने दो।"

माँ को बहुत आश्चर्य हुआ। उसी दिन तो लड़की का विवाह हुआ है। उसके मुँह से बूढ़ी-पकी गृहणी के समान इस प्रकार के मतामत की बिल्कुल आशा नहीं थी। उसके बाद ही सोचा, यह गुस्से की बात है। शायद दोनों में कोई बात ले कर झगड़ा हुआ है। बेटी के मुँह और सिर पर स्नेह से हाथ फिराते हुए बोली, "अच्छा झगड़ालू

ही ठहरी न ! लगता है आते-न-आते ही लड़ाई शुरू कर दी है ।"

बेटी के चेहरे पर लज्जा की रंगीन आभा फूट उठेगी, उसके साथ ही मृदु हँसी झलकेगी, यही आशा थी माँ को । किंतु निर्मला गंभीर मुख से वैसी ही थूम बनी खड़ी रही । देख कर माँ के मन में विस्मय के साथ ही किंचित आशंका भी हुई । उसी का आभास मिला जब उन्होंने पूछा, "क्या हुआ री ?"

"होगा ही क्या ?"

"उनका जाना ले कर तू क्यों इतनी व्यस्त हो उठी है ?"

"जाना ही उचित है । नहीं तो सासजी शायद गुस्सा करेंगी ।"

माँ का मुख अप्रसन्न हो उठा । वह कह सकती थीं, यह चिंता तुझसे ज्यादा उनके बेटे को होनी चाहिए । वह तो इसे लेकर चिंता नहीं करता । पर उन्होंने शायद इसे ले कर बात नहीं बढ़ानी चाही । क्षुब्ध मन अपने काम से चली गयीं । जाते-जाते कह गयीं, "जब तू समझदार है, तब मुझे कहने को है ही क्या । जो तुम लोगों की इच्छा हो करो ।"

माँ-बेटी की बातचीत नरेन के कान में गयी । वह और विलंब न कर उसी समय रवाना हो गया ।

उस दिन संध्या के समय बहुत दिन बाद निर्मला छत पर पहुँची । विजन घूमने निकला था । विमला भी पड़ोस के घरों में गई हुई थी । माँ रसोईघर में थी । पिता मुवक्किलों में व्यस्त थे । हाथ में कोई काम न था और उसका मन भी स्वस्थ नहीं था । मुंडेर पर झुक कर दूर पेड़ों की पांत की ओर ताक रहा था विजन । पीछे पदचाप सुन उसने घूम कर देखा । अचानक ध्यान आया, बहुत समय हो चुका है, चारों ओर संध्या का अंधकार गाढ़ा हो गया है । निर्मला ने विजन को वहाँ देखा, तो नीचे लौट जाने के लिए कदम बढ़ा कर भी ठहर गयी । बहुत दृष्टि-कटु लगेगा । विशेषकर जब कल सुबह वह चला जा रहा है ।

विजन पास पहुँच कर भारी गले से बोला, "तुम मुझ पर नाराज हो, निर्मल ?"

निर्मला को वह सबके सामने बोलता नीरू या निर्मला, किंतु ऐसे एकांत में सान्निध्य मिलने पर एक अलग स्वर में निकल पड़ती यही आवेगभरी आकारहीन पुकार—'निर्मल' । निर्मला के सीने में धड़कन तेज हो गयी जैसे । बाहर उसका कोई आभास नहीं मिला । एकदम निर्लिप्त स्वर में बोली, "क्यों, नाराज किसलिए होऊँगी ?"

"नरेन दा को लेकर उस समय थोड़ा हँसी-मजाक किया था ।"

"इसमें क्या हुआ ? गरीबों को ले कर बड़े लोग सदा ही मजाक करते हैं ।"

"क्या कह रही हो !" हठात् जैसे चौंक उठा विजन ।

निर्मला ने कोई उत्तर न दे, जाने के लिए पैर बढ़ाया । विजन बोला, "रुको ।"

"कहिए। मुझे नीचे काम है।"

"इस मामूली-सी बात को तुमने कुत्सित ढंग से लिया! क्या नरेन दा ने भी....?"

"नहीं, उनमें इतना ज्ञान कहाँ? आप लोगों का यह ऊँचे स्तर का परिहास शायद वह समझ भी नहीं पाये। एक तो गाँव के, उस पर भी पढ़े-लिखे नहीं हैं।"

"इसीलिए," तिक्त स्वर में बोला विजन, "मेरी ही गलती हुई। उन्हें इसी भाव से देखना उचित था।"

निर्मला चली जा रही थी। हठात् ठहर गयी। दोनों ज्वलंत आँखें उठा कर वक्ता के मुँह की ओर देखा। अगले ही क्षण कोई उत्तर न देकर द्रुत गति से नीचे उतर गयी।

ससुराल आने के बाद पति के साथ अन्य कोई बात होने से पहले ही निर्मला बोल उठी, "तुम्हें पढ़ना होगा।"

नरेन समझ नहीं सका। कुछ विस्मय से बोला, "क्या पढ़ूँ?"

"मैट्रिक पास करने के बाद लोग जो पढ़ते हैं। आई० ए० या आई० एस-सी०।"

"क्या कह रही हो? अब, इस उम्र में....?"

"पढ़ने-लिखने की क्या उम्र नहीं रही?"

"सब भूल-भाल जो गया हूँ। इसके अलावा, कहाँ पढ़ूँ? यहाँ कालेज भी तो नहीं है?"

"कालेज का क्या होगा? घर में पढ़ो, प्राइवेट परीक्षा देना। जो मास्टरी करते हैं उनके लिए यह सुविधा है। मैंने जानकारी ले ली है।"

नरेन ने समझ लिया, निर्मला की बात केवल भावना की झोंक में नहीं कही गयी है। सोच-विचार कर, खोज-खबर लेकर, मन-ही-मन कोई उद्देश्य निश्चित करने के बाद उसके पास आयी है। वह पत्नी से मन-ही-मन डरता था। प्रस्ताव कितना ही कठिन और अवास्तविक क्यों न हो, एकदम से उड़ा नहीं पाया। द्विविधाग्रस्त कंठ से बोला, "किन्तु क्यों? इतने दिन बाद अचानक पढ़ाई-लिखाई करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी?"

"आगे न पढ़ने से, तुम्हारी जो शिक्षा है उससे नौकरी नहीं मिलेगी। इससे भी बड़ी बात यह कि बिना इंटर-बी० ए० के लोग मूर्ख कहलाते हैं। लोग उनका सम्मान नहीं करते। मजाक के नाम पर मखौल उड़ाते हैं....।"

कहते-कहते उसकी आँखें निश्चय ही जल उठी थीं। नरेन अवाक् रह कर देखता रह गया। समझ नहीं पाया, यह कैसी ज्वाला है। वह जानता भी कैसे? उसने बात बढ़ाने का साहस नहीं किया। बोला था, "अच्छा यही होगा। तुम चिन्ता

मत करो।"

"यही होगा" कह उस समय टाल जाने पर भी, क्या करे, कैसे होगा, कुछ सोच नहीं पा रहा था। निर्मला ने बात को दबने नहीं दिया। कई दिन बाद फिर बात उठाते ही नरेन बोला, "पास करना क्या आसान काम है ? पढ़ने का अभ्यास भी छूट गया है। इसके अलावा....।"

"कुछ दिन कोशिश करने से अभ्यास फिर हो जायगा। सुना है, मैट्रिक अच्छी प्रकार ही पास किया था।"

"वह तो अवश्य किया था।"

"फिर ?"

बाबूजी से सुना एक दृष्टांत भी इस प्रसंग में निर्मला ने सुना डाला। कोई एक व्यक्ति सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद प्रायः साठ वर्ष की आयु में नये सिरे से 'लॉ कालेज' में भरती हुआ और पास करके वकालत शुरू की। सिर्फ एक ही नहीं, इस प्रकार की घटनाएँ और भी अनेक हैं। अखबार में आया था, कहीं किसी एक महिला ने पैंतालिस वर्ष की अवस्था में एम० ए० पास किया। उस समय वह सात बच्चों की मां थी। विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हुआ था, तब मैट्रिक तक पास नहीं थी। जब एक लड़की के लिए जो सम्भव है, वह नरेन यदि नहीं कर सकता तो कैसा पुरुष है ?

इसका उत्तर नरेन किसी भी युक्ति से खोज नहीं सका। फिर भी झिझकते हुए बोला, "सुबह खेत में जाना पड़ता है, दोपहर को स्कूल। पढ़ूंगा कब ?"

"क्यों इतनी बड़ी रात किसलिए है ?"

"मां की तबीयत भी तो....।"

"वह सब मैं देखूंगी।"

"कालेज न जाने पर भी किताबें-कापियां, पेंसिल का खर्च कम नहीं है।"

"इसके लिए तुम्हें चिंता नहीं करनी होगी। यह लो...." कहकर हाथ से एक चूड़ी खोल कर दे दी, "बाद में और दूंगी।"

"नहीं, नहीं, गहने का क्या होगा ? यह तुम रहने दो। देखता हूं कहीं और से...."

"तुम्हें और कहीं जाने की जरूरत नहीं। तुम्हारे इंसान बन जाने पर मुझे बहुत गहने हो जायेंगे। इसे तुम ले लो।"

पति के हाथ में चूड़ी जबरदस्ती थमाकर बोली, "तुम्हारे पैर पड़ती हूं। अब देर मत करो। तुम समझ नहीं सकोगे, मैं कितनी अस्थिर हो उठी हूं।" बात करने में आंखें सजल हो गयीं।

पति ने और एक बात भी नहीं सोची। तीन दिन के अन्दर ही कुछ किताबें

श्रौर कापियाँ लाकर पढ़ाई शुरू कर दी।

वे दिन निर्मला की आँखों के सामने आ रहे थे। नरेन को क्या कम परिश्रम करना पड़ता ? सुवह उठते ही खेत पर निकल जाता, दोपहर को आते ही स्नान न कर मुँह-हाथ धो, दो मील का रास्ता चलकर स्कूल जाता, शाम को नाममात्र का विश्राम कर कितावें ले वैठता। बहुत निद्राप्रिय व्यक्ति था, रात में जाग नहीं पाता था, फिर भी ग्यारह बजे से पहले किसी दिन पढ़ाई छोड़कर नहीं उठता। ठेठ गाँव में उस समय घोर रात होती है।

निर्मला भी जागी बैठी रहती पति के पास। किसी-किसी दिन नरेन कहता, "तुम सो जाओ। बेकार में रात जागने से क्या लाभ ?"

"जा रही हूँ। तुम्हें जो करना है, करो न ?"

नरेन हँसकर बोलता, "डरो नहीं, मैं सो नहीं जाऊँगा।"

"क्या भरोसा ? कम झाँसेबाज हो।"

छद्म गांभीर्य का आवरण भेद एक दबी हँसी की रेखा फूट पड़ती निर्मला के होठों और आँखों में। नरेन तृषित दृष्टि से देखता रहता। उस आँख की भाषा निर्मला को अस्पष्ट नहीं थी। मात्र कुछ हाथ दूर जो बलिष्ठ हाथ एक पेंसिल हिला-डुला रहा है, इस क्षण वह क्या चाहता है, उसकी प्रत्येक शिरा में विषम वासना का कैसा अदम्य चांचल्य जाग उठा है, वह भी उसे तीव्र रूप से अनुभव करती। क्या उसे ऐसी इच्छा नहीं होती, भाग कर जाय और उन्मुख बलिष्ठ-निविड़ घेरे में बँध जाय ? बँध जाने की तो तब उम्र ही थी। किंतु कठोर संयम के दृढ़ बंधन ने उसे थोड़ा भी शिथिल नहीं पड़ने दिया। चुपचाप निःश्वास दबा कर, उठ कर चली जाती। अकेली शय्या पर छट-पटाते हुए कट जाते लंबे प्रहर। फिर न जाने कब नींद आ जाती।

सुवह नींद टूटते ही किसी-किसी दिन देखती, बिछौने का एक हिस्सा जैसा था, वैसा ही अछूता रह गया है, तकिए पर किसी के सिर का चिह्न नहीं पड़ा है। भाग कर जाती पास के कमरे में। देखती, खाली चटाई पर हाथ पर सिर रखे क्लांत-देह पति निढाल सो रहा है। पास बैठ कर कंधे पर हाथ रखते ही चौंक कर उठ बैठता और अतृप्त, निद्राकातर रक्ताभ आँखे मलता हुआ बोलता, "सुबह हो गयी ?"

बेटे का नये सिरे से छात्र-जीवन शुरू करना माँ ने प्रसन्न मन से नहीं लिया। लेने की बात भी नहीं थी। बहू की डाँट-डपट ही इसका मूल कारण है, यह भी वह जानती थी। बीच-बीच में बेटे को निरस्त करने की चेष्टा करती। वह 'हाँ-ना' बोल कर टाल जाता। तब बहू को बुला कर कहना शुरू किया, "यह सब क्या पागलपना हो रहा है, बहू ? बेटे की ओर देखा ही नहीं जाता। हड्डियाँ दिखने लगी हैं, आँखें धँस गयी हैं। कहीं ज्यादा बीमार पड़ गया, तो ?"

निर्मला सिर झुकाए सुन लेती, कोई जवाब न देती। पति के खाने-पीने की

मत करो।"

"यही होगा" कह उस समय टाल जाने पर भी, क्या करे, कैसे होगा, कुछ सोच नहीं पा रहा था। निर्मला ने बात को दबने नहीं दिया। कई दिन बाद फिर बात उठाते ही नरेन बोला, "पास करना क्या आसान काम है ? पढ़ने का अभ्यास भी छूट गया है। इसके अलावा....।"

"कुछ दिन कोशिश करने से अभ्यास फिर हो जायगा। सुना है, मैट्रिक अच्छी प्रकार ही पास किया था।"

"वह तो अवश्य किया था।"

"फिर ?"

बाबूजी से सुना एक दृष्टांत भी इस प्रसंग में निर्मला ने सुना डाला। कोई एक व्यक्ति सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद प्रायः साठ वर्ष की आयु में नये सिरे से 'लॉ कालेज' में भरती हुआ और पास करके वकालत शुरू की। सिर्फ एक ही नहीं, इस प्रकार की घटनाएँ और भी अनेक हैं। अखबार में आया था, कहीं किसी एक महिला ने पैंतालिस वर्ष की अवस्था में एम० ए० पास किया। उस समय वह सात बच्चों की माँ थी। विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हुआ था, तब मैट्रिक तक पास नहीं थी। जब एक लड़की के लिए जो सम्भव है, वह नरेन यदि नहीं कर सकता तो कैसा पुरुष है ?

इसका उत्तर नरेन किसी भी युक्ति से खोज नहीं सका। फिर भी झिझकते हुए बोला, "सुबह खेत में जाना पड़ता है, दोपहर को स्कूल। पढ़ूँगा कब ?"

"क्यों इतनी बड़ी रात किसलिए है ?"

"माँ की तबीयत भी तो...।"

"वह सब मैं देखूँगी।"

"कालेज न जाने पर भी किताबें-कापियाँ, पेंसिल का खर्च कम नहीं है।"

"इसके लिए तुम्हें चिंता नहीं करनी होगी। यह लो...." कहकर हाथ से एक चूड़ी खोल कर दे दी, "बाद में और दूँगी।"

"नहीं, नहीं, गहने का क्या होगा ? यह तुम रहने दो। देखता हूँ कहीं और से...."

"तुम्हें और कहीं जाने की जरूरत नहीं। तुम्हारे इंसान बन जाने पर मुझे बहुत गहने हो जायेंगे। इसे तुम ले लो।"

पति के हाथ में चूड़ी जबरदस्ती थमाकर बोली, "तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। अब देर मत करो। तुम समझ नहीं सकोगे, मैं कितनी अस्थिर हो उठी हूँ।" बात करने में आँखें सजल हो गयीं।

पति ने और एक बात भी नहीं सोची। तीन दिन के अन्दर ही कुछ किताबें

श्रौर कापियाँ लाकर पढ़ाई शुरू कर दी।

वे दिन निर्मला की आँखों के सामने आ रहे थे। नरेन को क्या कम परिश्रम करना पड़ता ? सुवह उठते ही खेत पर निकल जाता, दोपहर को आते ही स्नान न कर मुँह-हाथ धो, दो मील का रास्ता चलकर स्कूल जाता, शाम को नाममात्र का विश्राम कर किताबें ले वैठता। वहुत निद्राप्रिय व्यक्ति था, रात में जाग नहीं पाता था, फिर भी ग्यारह वजे से पहले किसी दिन पढ़ाई छोड़कर नहीं उठता। ठेठ गाँव में उस समय घोर रात होती है।

निर्मला भी जागी वैठी रहती पति के पास। किसी-किसी दिन नरेन कहता, "तुम सो जाओ। वेकार में रात जागने से क्या लाभ ?"

"जा रही हूँ। तुम्हें जो करना है, करो न ?"

नरेन हँसकर वोलता, "डरो नहीं, मैं सो नहीं जाऊँगा।"

"क्या भरोसा ? कम झाँसेवाज हो।"

छद्म गांभीर्य का आवरण भेद एक दवी हँसी की रेखा फूट पड़ती निर्मला के होठों और आँखों में। नरेन तृषित दृष्टि से देखता रहता। उस आँख की भाषा निर्मला को अस्पष्ट नहीं थी। मात्र कुछ हाथ दूर जो वलिष्ठ हाथ एक पेंसिल हिला-डुला रहा है, इस क्षण वह क्या चाहता है, उसकी प्रत्येक शिरा में विषम वासना का कैसा अदम्य चांचल्य जाग उठा है, वह भी उसे तीव्र रूप से अनुभव करती। क्या उसे ऐसी इच्छा नहीं होती, भाग कर जाय और उन्मुख वलिष्ठ-निविड़ घेरे में वँध जाय ? वँध जाने की तो तव उम्र ही थी। किंतु कठोर संयम के दृढ़ वंधन ने उसे थोड़ा भी शिथिल नहीं पड़ने दिया। चुपचाप निःश्वास दवा कर, उठ कर चली जाती। अकेली शय्या पर छट-पटाते हुए कट जाते लंवे प्रहर। फिर न जाने कव नींद आ जाती।

सुवह नींद टूटते ही किसी-किसी दिन देखती, विछौने का एक हिस्सा जैसा था, वैसा ही अछूता रह गया है, तकिए पर किसी के सिर का चिह्न नहीं पड़ा है। भाग कर जाती पास के कमरे में। देखती, खाली चटाई पर हाथ पर सिर रखे क्लांत-देह पति निढाल सो रहा है। पास वैठ कर कंधे पर हाथ रखते ही चौंक कर उठ वैठता और अतृप्त, निद्राकातर रक्ताभ आँखे मलता हुआ वोलता, "सुवह हो गयी ?"

वेटे का नये सिरे से छात्र-जीवन शुरू करना माँ ने प्रसन्न मन से नहीं लिया। लेने की वात भी नहीं थी। वहू की डाँट-डपट ही इसका मूल कारण है, यह भी वह जानती थी। वीच-वीच में वेटे को निरस्त करने की चेष्टा करती। वह 'हाँ-ना' वोल कर टाल जाता। तव वहू को वुला कर कहना शुरू किया, "यह सव क्या पागलपना हो रहा है, वहू ? वेटे की ओर देखा ही नहीं जाता। हड्डियाँ दिखने लगी हैं, आँखें धँस गयी हैं। कहीं ज्यादा वीमार पड़ गया, तो ?"

निर्मला सिर झुकाए सुन लेती, कोई जवाव न देती। पति के खाने-पीने की

ओर और भी ज्यादा ध्यान देती । घर में गाय का दूध था । किन्तु गाभिन हुए काफी दिन हो चुके थे । एक ही वक्त दुही जाती थी । जो निकलता, सबके लायक नहीं होता । वह खुद दूध नहीं पीती थी । सास थी विधवा, उस पर भी अस्वस्थ । इसलिए उसके लायक तो रखना ही पड़ेगा । उस मुहल्ले में एक अहीर लड़की दूध बेचती थी । खरीदने जाने पर वे लोग बाधा देते और दूध खरीदने लायक अतिरिक्त पैसे भी नहीं थे । लड़की को चुपचाप बुला कर पिता के दिये एक जोड़ी कपड़े खैरात में दे उसके साथ बंदोबस्त किया । अभी वह रोज एक पाव दूध दिया करेगी और इनकी गाय के बच्चा हो जाने के बाद इसी प्रकार उसे वापस कर दिया जायगा । इस दूध से कभी वह दही तो कभी पनीर बना कर पति को शाम के नाश्ते के साथ देती । नरेन सप्रश्न दृष्टि से देखता, किन्तु मुंह से कोई प्रश्न न करता । लाभ नहीं होगा, सोच कर ही प्रश्न नहीं उठाता । उसने स्वयं को सम्पूर्ण रूप से पत्नी के हाथ में सौंप दिया था ।

गाँवों में एक घर की खबर दस घरों में पहुँचने में दस मिनट भी नहीं लगते । नरेन काफी रात तक दरवाजा बन्द किये बहू के पास बैठ कर पढ़ता है, यह अत्यंत रुचिकर समाचार नाना रस से पुष्ट हो एक से दूसरे मुंह तक फैलने लगा । परिहास के क्षेत्र के लोग अर्थात् गांव के रिश्ते से नानी, नाना, ननद, बहनोइयों के दल ने दोनों को लक्ष्य कर ऐसे स्थूल रसिकता के बाण छोड़ना शुरू किये कि जिनके कान में जाने पर कान ही नहीं सिर भी गरम हो उठता ।

नरेन का स्वभाव शांत था, उसके धैर्य का बाँध कठोर पत्थर से बना था, किसी अवस्था में भी टूटता नहीं । इन सब मंतव्यों को सुन कर भी उन पर ध्यान नहीं देता था । कभी हंस कर, कभी हँसने जैसा मुंह बना कर अपने रास्ते चल पड़ता ।

निर्मला भी प्राणपण से इस उत्पात को बिना उत्तर दिये टाल जाने की चेष्टा करती । किन्तु 'गूंगे का शत्रु नहीं होता' प्रचलित कहावत कहीं और भले ही चल जाय, गाँव में नहीं चलती । वहाँ गूंगा अभिमन्यु होता है, उसे सप्तरथी के हाथ से बच निकलने का रास्ता नहीं होता । यहाँ जो लड़कियाँ बहू बन कर आती हैं उनकी अवस्था आरी के सामने शंख-सी होती है । इधर भी काटे, उधर भी काटे । जवाब देने पर कहा जाय 'मुखरा', न देने पर कहा जाय 'घमंडिनी' । निर्मला ज्यादातर चुप रह कर सुन लेने पर भी बीच-बीच में एक-दो जवाब दे बैठती । बोलती कम थी, पर उसका जवाब इतना सख्त होता कि उसका जोर बहुत दिन तक चलता ।

'दादी-सास' कहलाने वाली एक पड़ोसिन ने कुछ दिनों से घड़ी-घड़ी आना-जाना शुरू किया था । वह पचास वर्ष से बाल विधवा थीं । साधारणतया इस प्रकार की ग्रामीण महिलाओं की बातचीत में रसिकता की कुछ प्रबलता ही रहती है । देह और मन से स्वाभाविक रूप से इस रस का आस्वादन सम्भव न हो, पर शायद वह एक अन्य रूप ले लेता है अर्थात् बातचीत में उसका प्रवाह कुछ अतिरिक्त आ जाता है । 'दादी-

सास' इस दिशा में सबको पीछे छोड़ गयी थीं। निर्मला के कान के पास मुंह ले जा कर उसके दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में उसने नाना कौतूहल जिस भाषा में व्यक्त किये, उनका उल्लेख किसी दुस्साहसिक ग्रंथ में भी नहीं है। कौतुक के स्वर में बोलने पर भी उसमें एक प्रकार की जलन प्रकट होती थी। दूर की सम्बन्धी इस महिला पर निर्मला को शुरू से ही वितृष्णा पैदा हो गयी थी।

अब विषय-परिवर्तन कर वह नरेन की पढ़ाई-लिखाई की बात ले कर पीछे पड़ी थी। एक दिन कूंची की एक छड़ी हाथ में ले निर्मला के कमरे जा कर बोली, "तेरे लिए ले आयी हूँ नाती की बहू। ले, सम्हाल कर रख।"

निर्मला को भ्रू कुंचित कर देखते देख कर वह आगे बोली, "देख क्या रही है? तेरी पीठ पर पड़ेगी, इसलिए नहीं लायी हूँ। वह सब तो हमारे जमाने में होता था। बात-बात पर बहू की पीठ का चमड़ा उतार लेते थे पति लोग। उस समय जैसे पुरुष हुआ करते थे, वैसे अब नहीं हैं। तेरा यह गावदू स्वामी तो तेरा पति नहीं, छात्र है। अच्छी तरह न पढ़ने पर लगा देना दो।"....कह कर अपनी रसिकता पर स्वयं ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयी। निर्मला ने कोई जवाब नहीं दिया। छड़ी ले कर खिड़की के बाहर फेंक दी। दादी सास कुछ क्षण सन्न बैठे रह कर बोली, "इतनी तमक ठीक नहीं, समझी? जितना शोभा दे, उतना ही करना चाहिए!"

निर्मला ने इस बात का भी उत्तर नहीं दिया। इस पर वह तमतमाती हुई हड़-हड़ करती बाहर निकल सास के कमरे में जा घुसी। क्या कह रही है, यह सुनने की निर्मला को इच्छा नहीं हुई। कुछ क्षण बीतने पर जोर-जोर से गर्जन-तर्जन सुनाई पड़ा। और भी कुछ क्षण बाद वह जब सास के कमरे में गयी, तब वह अकेली निर्जीव के समान लेटी हुई थीं। बहू के आने की आहट पा आँख तरेर कर बोलीं, "वह रिश्ते में तुम्हारी बड़ी है, बहू, बातचीत उसी ढंग से करना उचित है।"

निर्मला विस्मय से बोली, "मैंने तो उनसे कुछ नहीं कहा।"

"मुंह से न बोल कर हाव-भाव से कुछ कहना और भी ज्यादा खराब लगता है।"

निर्मला को जो काम था, उसे निपटा कर वह चुपचाप चली आयी।

बात पाँच कानों में घूमती हुई यथा समय नरेन के कान में भी आ पहुँची। तब तक टीका-टिप्पणियों का दौर बहुत दूर तक फैल गया था। नरेन ने मुंह से कुछ नहीं कहा, पर अन्दर की विरक्ति चेहरे के भाव से समझ में आ गयी। निर्मला मन-ही-मन आहत हुई। रोष और क्षोभ से पहले तो उसका मन हुआ पति के साथ इसे ले कर मुंह-दर-मुंह बात कर लेना जरूरी है। बहुत सोच कर अपने को संयत कर लिया। बात बढ़ाने से बढ़ती ही जाती है। उसके साथ बढ़ती है तिक्तता और अशांति। क्या जरूरत है? जो व्रत उसने लिया है, उसकी पूर्ति में इन सब छोटे-मोटे मान-अपमान को प्रश्रय

में एक-दो घंटे ध्यान देने से नहीं चलता। सुवह के तीन-चार घण्टे भी उस पर लगाना जरूरी होते हैं। खेतीवाड़ी का सारा काम एक पुराने नौकर प्रसन्न पर डाल दिया गया था। वह तव वृद्ध हो चुका था। इसके अलावा उसे अपनी एक-दो वीघा छिटपुट जमीन पर भी ध्यान देना पड़ता था। सव ओर सम्हालना उससे नहीं हो पाता था। खेती से प्राप्ति कम होती जा रही थी, अभाव की छाया और घनी हो उठी थी। परिवार के तीनों प्राणियों के चेहरों पर उसकी छाप पड़ी। किन्तु किसी ने भी अन्य किसी को नहीं जानने दी। सास ने कुछ दिन से परिवार के सारे काम-काज से अपने को अलग कर लिया था। इतने वर्ष तक सशक्त हाथों से पकड़े हल को अव टूटने की स्थिति में हठात् छोड़ देने में जो दुर्जय रोष था, उसका अनुभव वेटे-वहू दोनों को था, फिर भी निरुपाय दर्शक वन कर रहने के अलावा और कुछ नहीं किया जा सकता था। जिस पथ पर वे चल रहे थे, उससे वापस लौटने का उस समय कोई अन्य उपाय नहीं था।

इस कठिन समय में केवल एक व्यक्ति उनके पास आकर खड़ा हुआ। सिर्फ खड़ा ही नहीं हुआ, वाधापूर्ण और सँकरे मार्ग पर काफी हद तक आगे भी वढ़ाया। नरेन के स्कूल के हेडमास्टर हरिशंकर वावू थे वह। उस उम्र में, पढ़ाई-लिखाई की दुनिया से वाहर आ जाने के इतने वर्ष वाद, अपने थर्ड मास्टर में फिर से यात्रा शुरू करने का उद्यम देख वह चमत्कृत हुए थे। उन्होंने स्वयं वढ़ कर उसे पढ़ने-लिखने में सहायता देने का भार ले लिया। पहले वह अनियमित थे। वाद में रोज छुट्टी के वाद उन्होंने अपने घर पर वुला कर नियमित रूप से पढ़ाना शुरू कर दिया। उसी दौरान वातचीत में नरेन ने ही एक दिन निर्मला की वात वताई। सुन कर वह खुद ही उससे मिलने पहुँचे। उस समय जो वातावरण वन चुका था, उसकी उपेक्षा कर के एक नव-विवाहिता, गृहस्थ घर की वहू को अपने पति के वृद्ध हेडमास्टर के सामने आना सरल नहीं था। पर निर्मला ने इसमें कोई दुविधा नहीं वरती। अपने परिचित के समान वह उनके सामने जा खड़ी हुई। चरण-स्पर्श कर प्रणाम करने में उन्होंने वाधा दी, "ना, वेटी ! तुम व्राह्मण हो, श्रेष्ठ वर्ण की हो।"

नरेन वोला था, "इसमें कोई दोष नहीं, मास्टर साहव, आप हमारे वड़े हैं, अभिभावक हैं और साथ ही गुरुजन हैं।"

"वह होने दो, नरेन। मैं इसके लिए व्राह्मण कन्या का प्रणाम नहीं ले सकूंगा। इतना आधुनिक नहीं वन सकूंगा। इसके अलावा यह ऐसी-वैसी वेटी नहीं है। इसका मैं वहुत सम्मान करता हूँ।"

एक वयोवृद्ध विद्वान से अपनी प्रशंसा सुन कर निर्मला कुंठित हो उठी। हरिशंकर वावू उसके लज्जा से रक्ताभ मुख की ओर देख वोले थे, "हाँ वेटी, सच, तुम सिर्फ नरेन ही नहीं, सवकी श्रद्धा की पात्र हो। अभी वच्ची होकर भी आदर्श-गृहिणी हो। कालिदास ने जैसा कहा है न, वैसे ही पति की सखी और सहचरी के अलावा [illegible]

हो।" फिर नरेन की ओर देख कर बोले थे, "जिसे अंग्रेजी में कहते हैं फ्रेंड, फिलॉस्फर एंड गाइड।" कह कर वह हँस पड़े।—सरल, सादी हँसी।

एक बात और कही थी हरिशंकर बाबू ने। नरेन को उद्देश्य कर बोले थे, "हम सोचते हैं, पत्नी केवल भार है। यह कितनी गलत बात है। बेटी के समान एक-दो लड़कियों को जब देखें, तब समझा जा सकता है। पत्नी भार नहीं, शक्ति है। पुरुष के जीवन की प्रेरणा है, एक इंस्पाइरिंग फोर्स है।"

इसके बाद जिस दिन आये, कुछ क्षण की बातचीत के बाद निर्मला बोली, "आप भाग नहीं जाइयेगा, काका बाबू, मैं अभी आ रही हूँ।"

कुछ मिनट बाद ही एक प्लेट में अपने हाथ से बनाया नारियल का संदेश और उसके साथ एक कप चाय उनके सामने ला रखी। उस धुआँ उठते पात्र की ओर स्निग्ध दृष्टि से देखते हुए हरिशंकर बाबू बोले, "यह परम वस्तु मुझे बहुत अच्छी लगती है, यह तुम्हें कैसे पता चला, बेटी?"

निर्मला ने उत्तर नहीं दिया, मृदु हँसी हँस कर नरेन की ओर देखा। वह भी उसकी दृष्टि का अनुसरण कर बोले, "ओह लगता है, तुम जासूसी करते हो?"

चाय की एक चुस्की लगाते ही खिल उठे, "आहा! एकदम अमृत! ऐसा स्वाद कितने जमाने से नहीं मिला था। भूल ही गया था, चाय किसे कहते हैं। चाय बना तो सभी लेते हैं, किन्तु कलकत्ता से बाहर भी यह विशेष स्वाद कोई ला सकता है, मैं नहीं जानता था। ऐसा स्वाद लाना तुमने कहाँ से सीखा, बेटी?"

"मेरे पिताजी को चाय बहुत प्रिय है, लेकिन अच्छी न बनने पर नहीं पीते। मैं ही उनको हमेशा चाय बना कर देती थी।"—कहते-कहते अंतिम शब्दों में करुणा झलक उठी। उसी का अंश जैसे हरिशंकर बाबू के स्वर में भी घुल गया। वह बोले, "तुम्हारे पिताजी सचमुच भाग्यवान हैं।"

मास्टरसाहब विधुर तथा निस्संतान थे।

दो वर्ष में नहीं हो सका, तीन वर्ष में नरेन ने इण्टर पास कर लिया। थोड़े से नम्बरों से प्रथम श्रेणी रह गयी। इस बीच निर्मला के मैके और ससुराल में बहुत सी घटनाएँ हो गयीं। पिता और सास दोनों दिवंगत हो गये। जगदीश बाबू की आर्थिक स्थिति क्रमशः खराब ही होती गयी थी। अंत के कई माह तो काटे नहीं जा पा रहे थे। उधार लेकर ही किसी प्रकार से गाड़ी चल रही थी। मूल और सूद मिला कर जो उसका परिमाण बना था, उसे कटोआ का घर बेच कर भी निपटाया नहीं जा सका। गांव में जिस-तिस प्रकार जो कुछ बीघा जमीन बच गयी थी, उससे भी हाथ धोना पड़ा। क्रिया-कर्म निपट जाने के बाद मँझली दीदी आकर माँ को अपने साथ लिवा ले गयी—शेष जीवन वहीं काट लेने के लिए। पिता के श्राद्ध के समय ही निर्मला अंतिम बार गयी थी। माँ से उसकी वही अंतिम भेंट थी। सब कुछ समाप्त हो जाने के बाद

जिस दिन सदा के लिए कटोग्रा छोड़ कर ग्रायी, उसके बाद फिर जाना नहीं हो सका। सास की उस समय बिल्कुल ग्रब-तब की हालत थी।

ग्राज इतने दिन बाद ग्रंतिम बार देखा गया माँ का वही सफेद धोती पहने निराभरण मलिन रूप ग्राँखों के सामने ग्रा गया। उनका पहले वाला रूप जैसे ग्रस्पष्ट हो गया था।

पिता की मृत्यु के कुछ माह के ग्रंदर ही सास मर गयी। ग्रंतिम समय में उन्हें बहुत कष्ट झेलना पड़ा। देह की यंत्रणा से मानसिक कष्ट शायद ग्रधिक था। जन्म से ही बेटा उनकी छाया रहा था। बहू ग्राने के बाद वह जैसे काया से ग्रलग हो गया। यही परिवर्तन वह सहन नहीं कर पायीं। छोटे परिवार को जिस पथ पर वह चलाती ग्रायी थीं ग्रौर ग्रंत तक चलाते रहना चाहती थीं, वह उन्हें संभव नहीं हुग्रा। जीवन के ग्रंतिम कुछ वर्षों में उन्होंने इसीलिए ग्रपने को एकबारगी ही परिवार से विलग कर रोग-शय्या की संकीर्ण-सीमा में ग्राबद्ध कर लिया था। उसके बाहर किसी भी बात से उन्होंने संबंध नहीं रखा।

माँ के ग्रौषधि-पथ्य, पढ़ाई का खर्च, परीक्षा की फीस इत्यादि दायित्व चुकाने में निर्मला के दो गहनों के ग्रलावा धान की दो बीघा जमीन भी महाजन के पास रेहन हो गयी। इसके ग्रलावा बहुत दिनों तक उपयुक्त देखभाल के ग्रभाव में शेष जमीन ने भी पर्याप्त उपज नहीं दी। एकमात्र परीक्षा का फल, उसमें सफलता की चमक ग्रौर ग्रानंद कितना ही क्यों न हो, परिवार के इस घनघोर ग्रंधकार के बीच ग्रधिक क्षण तक स्थायी नहीं रह पाया। नरेन सोच रहा था कि जो नौका डूबने को है, उसे खींच कर बाहर लाने का काम कहाँ से ग्रौर किस प्रकार शुरू किया जाय, तब निर्मला ने सीधा-सादा फैसला सुना दिया—'बी० ए० के लिए शुरू से ही पढ़ना शुरू होगा। यह कोई ग्रासान काम नहीं है।"

नरेन ने पत्नी के मुख की ग्रोर एक बार देख कर ही समझ लिया—पारिवारिक ग्रभाव, उधार चुकाना, खेती में शिथिलता, निर्मला की ग्रपनी कष्ट-ग्रसुविधा—कोई भी युक्ति नहीं चलेगी। उसके लिए बस यही एक मार्ग खुला है ग्रौर उसके बीच रुकने का उपाय नहीं। ग्रारंभ के बाद ग्रंत ग्रनिवार्य है।

ग्रवशिष्ट भूमि पर ग्रौर हाथ नहीं दिया गया। हाथ पड़ा निर्मला के स्वल्पात्र-शेष सोने के एक-दो टुकड़ों पर। उन्हीं से किताबें ग्रायीं, बी० ए० परीक्षा की तैयारी शुरू हुई। हरिशंकर बाबू ने उत्साह बढ़ाया। पढ़ाई में सहायता करना संभव नहीं हुग्रा। वह स्वयं भी इससे ग्रधिक नहीं पढ़े थे। उसके बदले में उन्होंने एक ग्रन्य चीज दी, जिसकी इस ग्रभाव-क्लिष्ट दंपत्ति को इस दु:समय में सबसे ग्रधिक ग्रावश्यकता थी। 'हायर क्वालिफिकेशन' की युक्ति देकर नरेन के मासिक वेतन में वृद्धि की व्यवस्था कर दी। स्कूल कमेटी ग्रति कठिन मंजिल है, वहाँ युक्ति का जोर नहीं चलेगा, हेडमास्टर

यह अच्छी तरह जानते थे। अड़ कर, एक प्रकार से गले के जोर से, प्रस्ताव पास करा लाये।

फिर भी तीन वर्ष का कठिन संग्राम था। इस वार निर्मला थोड़ा और आगे वढ़ी। खेती-वाड़ी के वारे में पूछताछ, नौकरों के साथ वातचीत, कव वीज चाहिए, कव किस जमीन को जोता जाना है, वर्षा होने से पहले निराई समाप्त करने के लिए कितने लोगों की जरूरत है, उनकी मजदूरी कहाँ से आयगी—सारी वातें उसने अपने हाथ में ले लीं। उसका यह 'सृष्टि-विपरीत कार्य' देख गाँव में जो प्रतिकूल मनोभाव वना था, वह भी अव काफी हद तक नरम हो चला था। मुहल्ले के एक-दो वुजुर्ग और नरेन के कुछ समवयस्क तथा अनुजस्तरीय मित्र भी स्वयं आगे आकर कामकाज में निर्मला की सहायता करने लगे। उसने कुंठा के साथ वह सहायता स्वीकार की, फिर भी पति के अंग पर आँच नहीं आने दी। नरेन भी सव कुछ पत्नी पर छोड़ केवल पढ़ने और पढ़ाने में लग गया।

वी० ए० पास होने की खवर पहले निर्मला को ही मिली। पड़ोस का एक लड़का निमाई कटोआ गया हुआ था। सुवह के अखवार में परीक्षाफल निकला देख कर एक खरीद लिया था और नरेन के रोल नंवर को मिलाने के वाद स्टेशन से सीधा निर्मला के पास पहुँचा, वोला, "भाभी, नरेन दा पास हो गये। यह देखो।"

निर्मला का दिल अंदर ही अंदर काँप रहा था। वह वार-वार पेंसिल के मोटे चिह्न से घिरे अति परिचित नंवर को देख रही थी। कहीं गलती तो नहीं कर रही? नहीं, ठीक ही है। उसी क्षण जैसे किसी जादू से सव कुछ लुप्त हो गया उसकी आँखों के सामने से। उभर उठा वहुत दिन पहले देखा और प्रायः विस्मृत चेहरा। उस पर थी विद्रूप-मिश्रित एक उपेक्षा की हँसी। अपनी आँखों को न देख पा कर भी निर्मला ने स्पष्ट अनुभव किया था, उनके भीतर से एक तीव्र ज्वाला निकल रही थी। उसकी इच्छा हुई, तुरंत भागी हुई जाकर उस वी० ए० पास गर्वित के मुँह पर यह अखवार फेंक कर मारे।

निमाई इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का कारण न समझ सका, विस्मय से अवाक् हो, उसके मुँह की ओर ताकता रह गया। उस ओर दृष्टि पड़ते ही निर्मला ने जल्दी से अपने को संयत कर हँसते हुए कहा, "थोड़ा मुँह मीठा कर लो।"

लड़के के विस्मय का अंत तव तक नहीं हुआ था। सूखे गले से वोला था, "क्या हुआ, भाभी?"

"होगा क्या। इतनी अच्छी खवर लेकर आये हो, थोड़ी मिठाई खिलाये विना छोड़ सकती हूँ क्या?"

निमाई अव प्रसन्न स्वर में वोल उठा, "सिर्फ मिठाई से नहीं चलेगा, उसके साथ एक चीज और देनी होगी।"

"क्या चीज ?"

"पहले कहो, दोगी।"

"मैं तो समझ नहीं पा रही, तुम्हें क्या चाहिए। अगर घर में हो, या...."

"है, मैं जानता हूँ। इसीलिए तो कह रहा हूँ।"

"फिर क्या झिझक ? मिल जायगी।"

"किसी से कहना नहीं, लेकिन।"

"ठीक है, यही सही।"

"नरेन दा को भी नहीं !"

"ना रे ना। किसी से नहीं कहूँगी। झटपट वता दे, वह क्या चीज है।"

निमाई थोड़ा और निकट खिसक कर दवे स्वर में वोला था, "एक कप चाय।"

"चाय !" जोर से हँस पड़ी थी निर्मला।

"ऐ, धीरे-धीरे," डरी दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ वोला था लड़का, "माँ को अगर पता चल गया कि मैंने चाय पी है तो जिंदा ही गाड़ देंगी।"

"किसी को पता नहीं चलेगा, चल" कह कर वह उसे रसोईंघर में लिवा गयी थी। वहाँ विठा कर पूरे एक कप चाय दी थी निमाई को और उसके साथ घर में वनी नमकीन भी।

परीक्षा के वाद से ही नरेन ने फिर खेत पर जाना शुरू कर दिया। उस दिन लौटते ही निर्मला ने सामने पहुँच कर गले में आँचल डाल पति के चरणों में प्रणाम किया। नरेन कुछ समझ न पाकर विस्मय से वोला, "वात क्या है ? कोई व्रत-उपवास लिया है क्या ?"

"लिया है नहीं, जो व्रत लिया था उसका अव उद्यापन हुआ है," कह कर गुड़ी-मुड़ी किया अखवार पति के हाथ में थमा दिया। पेंसिल-चिह्नित नंवर पर आँख जाते ही सोत्साह वोल उठा, "मैं पास हो गया, अच्छा तो मैं पास हो गया ! ओफ, कितना डर लगा हुआ था मुझे।"

"लेकिन मुझे कोई डर नहीं था।"

"वह तो जानता हूँ। तुम्हारे समान मजवूत कलेजा होता ही कितने लोगों का है ?"

पत्नी के कंधे पर हाथ रख थोड़ा खींचने पर निर्मला दो कदम पीछे हट गयी। फुसफुसा कर वोली, "क्या हो रहा है ? चारों ओर लोग नहीं हैं क्या ?....सुनो, स्कूल से आते समय मास्टर साहव को लिवा लाना। रात में थोड़ा यहीं खा लेंगे।"

"आज ही खिलाना चाहती हो ? किंतु इस समय आयोजन कर पाना...."

"उन्हें थोड़ा खिला दूँगी, उसके लिए कौन-सा वड़ा आयोजन करना होगा ? इतना तो मैं कर लूँगी।"

यह अच्छी तरह जानते थे। अड़ कर, एक प्रकार से गले के जोर से, प्रस्ताव पास करा लाये।

फिर भी तीन वर्ष का कठिन संग्राम था। इस बार निर्मला थोड़ा और आगे बढ़ी। खेती-बाड़ी के बारे में पूछताछ, नौकरों के साथ बातचीत, कब बीज चाहिए, कब किस जमीन को जोता जाना है, वर्षा होने से पहले निराई समाप्त करने के लिए कितने लोगों की जरूरत है, उनकी मजदूरी कहाँ से आयगी—सारी बातें उसने अपने हाथ में ले लीं। उसका यह 'सृष्टि-विपरीत कार्य' देख गाँव में जो प्रतिकूल मनोभाव बना था, वह भी अब काफी हद तक नरम हो चला था। मुहल्ले के एक-दो बुजुर्ग और नरेन के कुछ समवयस्क तथा अनुजस्तरीय मित्र भी स्वयं आगे आकर कामकाज में निर्मला की सहायता करने लगे। उसने कुंठा के साथ वह सहायता स्वीकार की, फिर भी पति के अंग पर आँच नहीं आने दी। नरेन भी सब कुछ पत्नी पर छोड़ केवल पढ़ने और पढ़ाने में लग गया।

बी० ए० पास होने की खबर पहले निर्मला को ही मिली। पड़ोस का एक लड़का निमाई कटोआ गया हुआ था। सुबह के अखबार में परीक्षाफल निकला देख कर एक खरीद लिया था और नरेन के रोल नंबर को मिलाने के बाद स्टेशन से सीधा निर्मला के पास पहुँचा, बोला, "भाभी, नरेन दा पास हो गये। यह देखो।"

निर्मला का दिल अंदर ही अंदर काँप रहा था। वह बार-बार पेंसिल के मोटे चिह्न से घिरे अति परिचित नंबर को देख रही थी। कहीं गलती तो नहीं कर रही? नहीं, ठीक ही है। उसी क्षण जैसे किसी जादू से सब कुछ लुप्त हो गया उसकी आँखों के सामने से। उभर उठा बहुत दिन पहले देखा और प्रायः विस्मृत चेहरा। उस पर थी विद्रूप-मिश्रित एक उपेक्षा की हँसी। अपनी आँखों को न देख पा कर भी निर्मला ने स्पष्ट अनुभव किया था, उनके भीतर से एक तीव्र ज्वाला निकल रही थी। उसकी इच्छा हुई, तुरंत भागी हुई जाकर उस बी० ए० पास गर्वित के मुंह पर यह अखबार फेंक कर मारे।

निमाई इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का कारण न समझ सका, विस्मय से अवाक् हो, उसके मुंह की ओर ताकता रह गया। उस ओर दृष्टि पड़ते ही निर्मला ने जल्दी से अपने को संयत कर हँसते हुए कहा, "थोड़ा मुंह मीठा कर लो।"

लड़के के विस्मय का अंत तब तक नहीं हुआ था। सूखे गले से बोला था, "क्या हुआ, भाभी?"

"होगा क्या। इतनी अच्छी खबर लेकर आये हो, थोड़ी मिठाई खिलाये बिना छोड़ सकती हूँ क्या?"

निमाई अब प्रसन्न स्वर में बोल उठा, "सिर्फ मिठाई से नहीं चलेगा, उसके साथ एक चीज और देनी होगी।"

"क्या चीज ?"

"पहले कहो, दोगी।"

"मैं तो समझ नहीं पा रही, तुम्हें क्या चाहिए। अगर घर में हो, या...."

"है, मैं जानता हूँ। इसीलिए तो कह रहा हूँ।"

"फिर क्या झिझक ? मिल जायगी।"

"किसी से कहना नहीं, लेकिन।"

"ठीक है, यही सही।"

"नरेन दा को भी नहीं !"

"ना रे ना। किसी से नहीं कहूँगी। झटपट बता दे, वह क्या चीज है।"

निमाई थोड़ा और निकट खिसक कर दबे स्वर में बोला था, "एक कप चाय।"

"चाय !" जोर से हँस पड़ी थी निर्मला।

"ऐ, धीरे-धीरे," डरी दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ बोला था लड़का, "माँ को अगर पता चल गया कि मैंने चाय पी है तो जिंदा ही गाड़ देंगी।"

"किसी को पता नहीं चलेगा, चल" कह कर वह उसे रसोईंघर में लिवा गयी थी। वहाँ बिठा कर पूरे एक कप चाय दी थी निमाई को और उसके साथ घर में बनी नमकीन भी।

परीक्षा के बाद से ही नरेन ने फिर खेत पर जाना शुरू कर दिया। उस दिन लौटते ही निर्मला ने सामने पहुँच कर गले में आँचल डाल पति के चरणों में प्रणाम किया। नरेन कुछ समझ न पाकर विस्मय से बोला, "बात क्या है ? कोई व्रत-उपवास लिया है क्या ?"

"लिया है नहीं, जो व्रत लिया था उसका अब उद्यापन हुआ है," कह कर गुड़ी-मुड़ी किया अखबार पति के हाथ में थमा दिया। पेंसिल-चिह्नित नंबर पर आँख जाते ही सोत्साह बोल उठा, "मैं पास हो गया, अच्छा तो मैं पास हो गया ! ओफ, कितना डर लगा हुआ था मुझे।"

"लेकिन मुझे कोई डर नहीं था।"

"वह तो जानता हूँ। तुम्हारे समान मजबूत कलेजा होता ही कितने लोगों का है ?"

पत्नी के कंधे पर हाथ रख थोड़ा खींचने पर निर्मला दो कदम पीछे हट गयी। फुसफुसा कर बोली, "क्या हो रहा है ? चारों ओर लोग नहीं हैं क्या ?....सुनो, स्कूल से आते समय मास्टर साहब को लिवा लाना। रात में थोड़ा यहीं खा लेंगे।"

"आज ही खिलाना चाहती हो ? किंतु इस समय आयोजन कर पाना...."

"उन्हें थोड़ा खिला दूँगी, उसके लिए कौन-सा बड़ा आयोजन करना होगा ? इतना तो मैं कर लूंगी।"

"अच्छा ।"

उस रात निर्मला की आँखों में एक क्षण को भी नींद नहीं आई । पति करवट बदले एकदम शांत सो रहा था । मुख पर उद्वेग का चिह्नमात्र भी नहीं था । इन कुछ दिनों में परीक्षाफल के संबंध में मन-ही-मन जो आशंका थी, उसके मिट जाने के साथ-ही-साथ जैसे सारी दुश्चिंता का अवसान हो गया था । पर निर्मला को फिर से नया सोच शुरू हो गया । पास कर लेने से ही तो नहीं होगा । उसके बाद ? जिस जीवन का स्वप्न उसकी आँखों में भरा है, यह पास होना तो उसका प्रवेशद्वार है, अभी अनेक सीढ़ियाँ पार करनी हैं । कहा जाय, तो यहीं से असली संग्राम शुरू हुआ है । यह कुछ बीघा खेत, जिससे सारे वर्ष अच्छी तरह पेट भरना मुश्किल है, उसके साथ थोड़े से रुपये की मास्टरी—दोनों मिला कर दोनों प्राणियों का किसी-न-किसी प्रकार गुजारा होता है, यह भी क्या कोई जीवन है ? अभी तो दो ही हैं, इसके बाद—बात मन में आते ही रंगीन लाज की एक झलक हृदय के एक कोने में फैल गयी—एक-दो अतिथि आयेंगे, क्या देकर उनका सम्मान करेगी ? समाज के दस लोगों के सामने उनका क्या नाम रह जायगा ? मँझली दीदी ने ठीक ही कहा था—परिचय होना ही सबसे बड़ी बात है । नरेन को अब अपने आप ही परिचय अर्जित करना होगा ।

हेडमास्टर साहब ने भरोसा दिया था, कुछ वर्ष बाद कुछ रुपये और बढ़वाने की व्यवस्था कर देंगे । फिर भी तो इसी ग्रामीण स्कूल के मास्टर रह जाना होगा । उसे कितना लोग मानते हैं ? जो मानते हैं वे भी किस दृष्टि से देखते हैं ? अवज्ञा-मिश्रित करुणा ! नहीं, अब यहाँ नहीं । नरेन को अब बाहर निकलना ही होगा । पहला काम है—कलकत्ता जाकर एक सम्मानित नौकरी पाने की कोशिश करना ।

ग्रेजुएट होने के बाद इस स्कूल में पड़े रहने की इच्छा नरेन की भी नहीं थी । कटोआ या आसपास के किसी स्थान पर अधिक वेतन की मास्टरी पाने की इच्छा हुई—इससे अधिक ऊँचा वह नहीं उठ सका । दूर जाने से नहीं चलेगा । परिवार का वह एकमात्र पुरुष है । एक भाई भी नहीं, जो उसकी अनुपस्थिति में पैतृक घर, बाग-बगीचा, तालाब और उसके साथ ही जमीन की देखभाल का भार सम्हाले । इन पर उसका एक हार्दिक लगाव था । इस शांत ग्राम्य-जीवन की छाया के कोने में बैठ कर जीवन बीत जाय, इससे अधिक वह कुछ नहीं चाहता था । इससे अपने को अलग कर, शहर जाकर भाग्य-परीक्षा करने की उच्च आकांक्षा ने उसके मन में कभी भी स्थान नहीं बनाया ।

निर्मला का प्रस्ताव सुन शुष्क मुख से बोला, "कलकत्ता में हमारा कोई नहीं । जा कर ठहरूँगा कहाँ ?"

"क्यों ? मेस में ।"

"इसमें तो भारी खर्च लगेगा । नौकरी कितने दिन में मिलेगी, क्या पता ?"

"चेष्टा करने पर कुछ तो जुटेगा ही। उतने दिन जो खर्च लगेगा, मैं दूँगी।"

"तुम अब कहाँ से दोगी ? गहने भी तो प्रायः समाप्त हो चुके हैं। बाकी पर हाथ डालने से नहीं चलेगा।"

निर्मला के कंठ से रोष फूट पड़ा, "जरूरत के समय पर ही अगर काम न आये, तो इस सोने की पिंडी से मेरा क्या बनेगा ?"

नरेन फिर भी उस ओर जाने का साहस नहीं कर सका, दूसरी युक्ति रखी, "तुम कहाँ रहोगी ?"

"और कहाँ ? घर में।"

"अकेली ?"

"अकेली क्यों ? इतने दिनों पुराना प्रसन्न जो रहेगा। इसके अलावा खटिक बुढ़िया से मैंने बात कर ली है। रोज रात को आ कर इस घर में सोयेगी। निमाई है, मणि देवर है, गोपी काका हैं, देखभाल करेंगे।"

समीप आ कर अंतरंग स्वर में बोली थी, "डरो नहीं, भाग नहीं जाऊँगी। बात ही कितने दिन की है ? नौकरी मिलने पर जब घर ले लोगे...." निर्मला ने बात पूरी नहीं की। बाकी संकेत से समझा दी थी उसकी सुंदर आँखों ने और उन पर फूट उठी थी अर्थपूर्ण दबी हँसी।

पढ़ने-लिखने से नौकरी और नौकरी से मिलती है स्वच्छंदता, स्वावलंबन, सम्मानपूर्वक जीवित रहने के सामान—साधारण व्यक्ति की यही सहज बात जानती थी निर्मला। विवाह से पहले अपने उसी छोटे देहाती शहर में और विवाह के बाद इस ठेठ गाँव में आकर उसने जो कुछ देखा और सुना था, सबमें इसी बात का समर्थन था। अपने गाँव और शहर को छोड़ विदेश जा कर ही उनका मूल्य बढ़ जायगा। दो-चार दिन के लिए जब आयगी, छोटे-बड़े सभी उनकी ओर एक विशेष दृष्टि से देखेंगे। एक दिन जिनके पास से उसने व्यंग और विद्रूप के मंतव्यों के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया था, वही उसका समादर कर बिठायेंगे, प्रसन्न करने के लिए व्यस्त हो उठेंगे। उसके चाल-चलन, वेश-भूषा, बातचीत—सबका एक वाक्य में उदाहरण देंगे, वही एक उच्च स्तर के व्यक्ति हैं। अर्थात् वह नौकरी करते हैं।

किंतु नौकरी पाने का दुःख कितना बड़ा है, और जो इसे पा चुके हैं उनका दुःख भी कम नहीं है, इसका कोई तथ्य निर्मला को ज्ञात नहीं था। नरेन भी कहाँ जानता था ? पहली बार जानने को मिला कलकत्ता पहुँचने के बाद और निर्मला को भी उससे ही पता चला।

बंगाल के ग्रामवासी मध्य-वित्त जीवन में तब बिखराव शुरू हो चुका था। स्कूल-कॉलेजों का प्रसार तेजी से हो रहा था। उसके साथ फैल रही थी विदेशी सभ्यता की चमक-दमक। सफेद, मोटे कपड़े और मोटा भात लेकर जीवन-यात्रा किसी को

खुश नहीं कर पाती । छोटे-मोटे जोतदार, तालुकेदार, उनसे भी बढ़ कर निचले स्तर के तालाव-वगानवाले साधारण गृहस्थ, हाट-बाजार के दूकानदार, पूजा-पाठ करके सीधा पाने वाले पुरोहित, चादर और टोपीधारी सामान्य वेतन के स्कूल मास्टर—सबके मुंह पर यही एक वात थी, लड़के को अंग्रेजी पढ़ाओ । जिन्हें शहर की हवा लग चुकी है—टीन की छत के नीचे, वाँस के वाड़े से घिरे 'शेड' में बैठ कर जो लोग मुवक्किलों को चराते थे, अर्थात् दिन भर में दो रुपये की आय वाले वकील-मुख्तार, उन पर निर्भरशील मुहर्रिर, दलाल, जमींदारों के नायव, गुमाश्ता, तहसीलदार,—इनकी तो वात ही नहीं—सभी के घर से झुंड के झुंड वच्चे दस वजे निकल कर स्कूल-कॉलेज के रास्ते पर जाते । पास होने का मन इच्छा करके ही नीचा कर रखा था । अंग्रेज कहते थे, तुम्हारी शिक्षा का स्तर इतना 'लो' है फिर किस मुंह से स्वराज्य चाहते हो? इसलिए शिक्षाविद लोग 'परसेंटेज ऑफ लिटरेसी' वढ़ाने के काम में लग गये थे । शिक्षा को सब स्तरों के सभी घरों में पहुँचाना उनका प्रयास हो गया था ।

जो पास हो कर स्कूल-कॉलेज से निकलते, वे गाँव में वापस नहीं लौटते, देहात में भी नहीं रहना चाहते थे । धावा वोलते कलकत्ता की ओर । नौकरी चाहिए । इतनी नौकरियाँ हैं कहाँ? विश्वविद्यालय अपना कारखाना वढ़ाते जा रहे थे । जितना माल निकलता, उसका चौथाई भाग भी नहीं खप पाता । 'सप्लाई' प्रचुर थी किंतु 'डिमांड' नहीं थी । कहाँ से पैदा हो 'डिमांड'? वही कुछ तो गिनी-चुनी सरकारी दफ्तरों की लचर कुर्सियाँ थीं, या फिर व्यापारिक दफ्तरों की पुरानी मेजें थीं । दोनों ही जगहों के मालिक अंग्रेज थे । गुप्त-वनर्जी-घोष-वागची को देखते ही दरवाजा दिखा कर वोलते, 'नो वैकेंसी', कोई-कोई आगे भी कह देता—"यहाँ क्यों आये हैं? तुम लोगों के जो सब जाति-भाई वम छोड़ते हैं, उन्हीं के पास जाओ ।"

एक के वाद दूसरे दफ्तर में धक्का खाये ग्रेजुएटों के दल ऊर्ध्व-श्वास के साथ भीड़ लगाते 'लॉ-कॉलेज' के दरवाजे पर । गाऊनों का वाजार चमक उठा, लेकिन मुवक्किलों के वाजार में मंदी रही । सत्रह वर्ष टोकरी-टोकरी भर अंग्रेजी की किताबें कंठाग्र करने के वाद वरगद के नीचे वैठ दो पैसे की चाय से गला तर करते । किसी-किसी नेता ने यही देख हुंकार दी थी, "तोड़ डालो दरभंगा विल्डिंग । और वकील नहीं चाहिए । क्या लाभ है वी० ए०, एम० ए० लोगों की भीड़ वढ़ा कर? कॉलेज में न घुस कर, घुस पड़ो वड़ा वाजार में । द्वार-द्वार पर कपड़े की गठरी लेकर फेरी लगाओ ।" किंतु वहाँ भी पहले से अड़े हुए थे विपुल-काय मारवाड़ी लोग ।

नरेन को नौकरी जगत का यह चित्र मानिकतल्ला के मेस में जाकर ठहरने के कुछ दिन वाद देखने को मिला । पर उसने अपनी पत्नी को पता नहीं चलने दिया । वहुत दिन वाद ही मालूम होने दिया । तव निर्मला ने अपनी आँख से देखना सीख लिया था और मनुष्य का जो 'दुःख' नामक परम शिक्षक है, उससे अनेक सवक मिल गये ।

हरिशंकर वावू के एक मित्र मानिकतल्ला अंचल के एक मेस में रह कर किसी व्यापारिक दफ्तर में काम करते थे। जिस दिन मास्टर साहब की चिट्ठी लेकर नरेन वहाँ पहुँचा, वह हँस कर वोले, "हरि तो सदा का पगला है। आप नहीं जानते, लेकिन वह तो जानता है नौकरी क्या चीज है। अच्छा नहीं किया, भाई! सोचता हूँ कहीं इस सोने के हिरन के पीछे भागने से आपका वर्तमान और भविष्य दोनों ही नष्ट न हो जायँ।"

सरकारी नौकरी के लिए आयु वीत चुकी थी। एकमात्र गम्यस्थल रह गया था 'मर्चेन्ट ऑफिस' नामक महातीर्थ, जिसका रास्ता और भी दुरूह था। मास्टर साहब के मित्र ने वहुत पहले ही एक जगह पा ली थी। उस समय उनकी हालत ठीक वीच के किसी जंक्शन पर रेल में चढ़ने वाले यात्री की-सी थी। अंदर भयंकर भीड़, वाहर वहुत से व्यक्ति। ठेलमठेल, अनुनय-विनय कर जिस-तिस प्रकार चढ़ सके थे। उसके वाद ही वाहर खड़े लोगों से कहने लगे थे, "और जगह नहीं है।"

एक जोड़ी इयरिंग को वेच कर मिले थोड़े से रुपये निर्मला ने पति के हाथ में दे दिये थे। देखते-देखते वे सव स्वाहा हो गये। इधर सारे दिन भाग-दौड़ ही करनी होती। किसी से आश्वासन मात्र तक नहीं मिल सका। मेस का पैसा भी चढ़ रहा था। मैनेजर एडवांस माँग रहा था, न मिलने पर गंभीर हो गया। नरेन लज्जित भाव से खाने की पंक्ति में जाकर वैठता। वीच-वीच में एक-दो वक्त गोल कर जाता। इससे भी विशेष सुविधा नहीं थी। खाना न लेकर भी रसोइये और नौकरों ने अवज्ञा शुरू कर दी। अन्य मेम्वरों की आँखों में कभी उपहास होता तो कभी विरक्ति का भाव। फिर भी किस मुंह से निर्मला से रुपये मँगाये? वह भेजेगी भी कहाँ से? उधर वरावर पत्र आ रहे थे—'कोई काम वना?' अन्त में पत्रों का उत्तर देना नहीं हो सका। एक ही वात कितनी वार लिखी जाय?

अंततः रुपये का उल्लेख किये विना नहीं रह सका। अव गहने नहीं वचे थे। एक-दो जो सामान्य जेवर वचे थे, उन्हें भी खलास कर देने से गृहस्थ का अकल्याण होता। फिर थोड़ी जमीन वेच कर रुपये भेजने पड़े। प्रसन्न ने वहुत आपत्ति की, गोपी काका ने भी सहमति नहीं देनी चाही। किंतु निर्मला ने किसी की नहीं सुनी। रुपये न होने पर परदेश में कैसे काम चलेगा? थोड़ा काम वन जाने पर जमीन वापस लेने में देर ही कितनी लगेगी? अगर नहीं भी ली जा सकेगी, तो भी कोई नुकसान नहीं। तव तो वे इस जमीन पर निर्भर रह कर गाँव के घर में रहेंगे नहीं।

कई माह वीतने के वाद एक मामूली ट्यूशन जुटा कर नरेन ने एक [illegible] छोड़ा। इससे भी पूरा खर्च नहीं चल पाता। फिर भी उसने निश्चय कर लिया— पत्नी के पास से और रुपये नहीं मँगाऊँगा। इससे पहले ही एक-एक कर [illegible] जमीन निकल चुकी थी। जो रह गयी थी, उससे अकेली निर्मला का [illegible]

था। उस पर भी भाग्य की बात यह कि जो जमीन बची थी, वह धर्मादे की थी, उस पर कर नहीं था। इस दुर्दिन में यह बात कम नहीं थी।

इतने दिन नरेन ने अपने कष्टों अथवा नौकरी की खोज के कष्टों का इतिहास पत्नी को थोड़ा भी नहीं बताया, बल्कि लगातार भरोसा ही देता रहा था। निर्मला आशा और आग्रह लिये एक-एक दिन गिन रही थी, उसके पत्रों की प्रत्येक पंक्ति ही उसका प्रमाण था। उत्तर देने में निराशा का स्वर होठों तक आकर अटक जाता, लेखनी से नहीं उतरता। किंतु वर्ष पूरा होने आया था, अब उसे ज्यादा दिन अँधेरे में नहीं रखा जा सकता। यह भी एक प्रकार का धोखा था। उद्देश्य चाहे जो हो, झूठ बोल कर पत्नी को अनिश्चित काल तक भुलावे में रखना अन्याय है। इसके अलावा निर्मला टूट जाने वाली लड़की तो नहीं है। जो सत्य है, उसका उसे पता चलना ही चाहिए, चाहे वह सत्य कितना ही कठोर क्यों न हो।

अगले पत्र में उसने सब कुछ खोल कर लिख दिया। उसके साथ ही बताया—नौकरी की कोई आशा नहीं, उसके पीछे अंधे की भाँति दौड़ते फिरना निरर्थक है। सोना और जमीन बेच कर उन रुपयों को कलकत्ता के मेस मैनेजर के हाथ में सौंप देना मूर्खता है। गृहस्थ के सामान्य संबल इस सोने और जमीन को खोकर जो क्षति पहले हो चुकी है, उसे और बढ़ने नहीं दिया जा सकता।

निर्मला की सम्मति पाते ही वह घर लौट जायगा, यह निश्चय किया। उसके बाद गांव में ही किसी स्कूल में नौकरी खोजेगा। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं। इसके लिए कुछ देर होने पर भी नुकसान नहीं होगा। घर का खाना खा कर चेष्टा करना ठीक रहेगा।

पत्र पढ़ कर निर्मला की आंखों के आगे अँधेरा छा गया। फिर धीरे-धीरे दृष्टि उठा कर देखने की चेष्टा की। एक मर्मान्तक हँसी फूट उठी होठों के कोने पर। घर का अन्न भी समाप्त हो चुका है, पति अभी तक जान नहीं पाये थे। जानने से लाभ भी नहीं। जिस पथ पर वे लोग इतना आगे बढ़ चुके हैं, वहाँ से अब पीछे नहीं लौटा जा सकता। आगे बढ़ना ही एकमात्र उपाय है। अन्त में जो भी हो, यह सोचने का अवसर नहीं है।

हरिशंकर बाबू मिलने आये। कुछ दिन से सेक्रेटरी के साथ उनका विरोध चल रहा था। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा था। अनेक दिन से नहीं आ पाये थे। निर्मला को देख भौंचक्के-से रह गये। बोले, "तुम तो पहचान में ही नहीं आतीं, बेटी! तबीयत खराब थी तो मुझे खबर क्यों नहीं दी?"

"बीमार कहाँ हूँ? मैं तो भली-चंगी हूँ, काका बाबू।"

'नहीं, नहीं, अच्छी नहीं हो, बिलकुल अच्छी नहीं हो।" कह कर बार-बार सिर हिलाने लगे। फिर बोले, "अवश्य अच्छी न रहने के कारण कई हैं, यह जानता

हूँ। किंतु तुम कोई साधारण लड़की तो हो नहीं जो व्यर्थ में चिंता कर तन-मन घुलाओ।"

"नहीं, काका बाबू, मैं चिंता नहीं करती। मुझे अभी भी आशा है, ये दिन कट जायँगे। यही बात मैं उन्हें बराबर लिखती रहती हूँ।"

"जरूर, जरूर, यही तो लिखना चाहिए। इसी को तो कहते हैं सहधर्मिणी, जो समय पर पास आकर खड़ा हो, साहस दे, भरोसा दे।"

निर्मला की तबीयत खराब होने का कारण सिर्फ दुश्चिंता ही नहीं, केवल मानसिक कष्ट भी नहीं, उससे बढ़कर कहीं ज्यादा शारीरिक था। यह बात किसी से कही नहीं जा सकती। मास्टर साहब के पास भी वह दबा गयी। कुछ दिन से खाने की थाली के सामने बैठते ही उसे पति की याद आ जाती। मुँह से कुछ न कहने पर भी, थोड़ा अच्छा खाने—दो-एक प्रकार के अच्छे खाने की ओर उनका जो विशेष रुझान था, वह निर्मला कुछ दिनों में ही जान गयी थी। सास ने भी उससे यह बात कही थी। बीमार होकर पड़ जाने के बाद उन्हें यही सबसे बड़ा सोच था—"ना-ना करने पर भी उसे दो मुट्ठी भात ज्यादा ही देना, बहू। बीच-बीच में बाजार से 'कई' मछली लाकर 'रसदार' बना देना। उसे यह मछली बहुत अच्छी लगती है। ढेर सारा रसा नहीं कर देना। वह खा नहीं सकेगा"—इसी प्रकार की अनेक बातें वह लेटे-लेटे कहतीं। निर्मला ने खुद भी देखा था, बिना पूछे ही समझ लिया था इस मुँहचोरे व्यक्ति का रुझान किस-किस चीज पर है। वह वही चीजें बीच-बीच में बना कर देती। नरेन एक बात भी नहीं बोलता। उसका यह स्वभाव ही नहीं था। किंतु आँखों और मुँह पर प्रसन्नता खिल उठती। केवल आनंद ही नहीं, कृतज्ञता भी। निर्मला का मन तृप्त हो उठता।

खाना बनाने जाकर, विशेषकर जब वह अपने लिए खाना लेकर बैठती, उसे वही दृश्य याद आ जाते। हाथ मुँह की ओर बढ़ना ही नहीं चाहता। थाली में उन्मन उँगलियाँ भात को इधर से उधर हिलाती-डुलाती रह जातीं। किसी दिन आधा पेट, किसी दिन अनाहार रह जाती। कोई सामान्य चीज बनाने जाकर भी हाथ नहीं चलता—पति को 'यह' बहुत अच्छी लगती है। खाना पड़ा रह जाता। दो मुट्ठी चावल बना लेती या कभी चूल्हे में पानी डालकर कमरे में जा पड़ रहती।

माँ का एकमात्र लड़का था, अभाव वाला परिवार होने पर भी नरेन को लाड़ मिला था। विवाह के बाद पहले कुछ दिन तक निर्मला मन को मना नहीं सकी। फिर उसने भी कभी पति का असम्मान नहीं किया। आज कहाँ क्या खा रहे हैं? मेस के रसोइये का बनाया खाना शायद मुँह में भी न दे पाते होंगे। इन सब बातों से मन बहुत बेचैन हो उठता।

अन्य दो-चार बातों के बाद हरिशंकर बोले, "नरेन लौट आना चाहता है।

वहाँ कोई काम नहीं वन रहा है। शायद तुम्हें भी वही वात लिखी है।"

निर्मला ने सिर हिला कर वताया, "हाँ।"

"स्कूल में जगह खाली है या नहीं, वताने को लिखा है। छह माह तक खाली रखी थी, फिर उन लोगों ने वात नहीं मानी। उनका कोई अपना आदमी था। उसी को ला विठाया है। नरेन के पास तो ऐसा कोई जोर नहीं है। किंतु जव तक खूँटे का जोर है, उसे हटा ही कौन सकता है। इसलिए सोचता हूँ, क्या लिखूँ। कुछ दिन प्रतीक्षा और की जा सकती है शायद...."

"आप लिख दें, आने की जरूरत नहीं। आने पर नौकरी नहीं मिल सकेगी। इससे अच्छा तो वहीं कोशिश करते रहना है। जव इतने दिन लग गये तो थोड़े दिन और देखा जाय।"

"किंतु पूरा वर्ष बीत गया। कलकत्ता शहर का खर्च-वर्च भी कम नहीं होता।"

"वह जैसे चल रहा है, वैसे ही चलेगा।"

"तुम कैसे चला लेती हो, मैं तो समझ ही नहीं पाता।"

"भगवान् चलाते हैं। आप आशीर्वाद दीजिए, काका वावू, यह सव सार्थक हो जाय।"

कहते-कहते निर्मला का गला रूँध गया। हरिशंकर वोले, "सार्थक क्यों नहीं होगा, वेटी? तुम्हारा इतना वड़ा त्याग वृथा जाय, यह कभी नहीं हो सकता।"

जाते-जाते वोले, "तो मैं यही वात लिख देता हूँ।"

संसार में कहीं कुछ अविच्छिन्न नहीं। जिस प्रकार लगातार सुख मनुष्य के भाग्य में नहीं, उसी प्रकार उसे चिरकाल तक दुःख भी नहीं सहना पड़ता। चहुँ दिशाओं में मेघाच्छन्न वर्षा के आकाश में भी वीच-वीच में सूर्य की रश्मियाँ देखने को मिल जाती हैं। नरेन का दीर्घ प्रयास भी एक दिन पूरा हो गया। किसी-न-किसी प्रकार जूट कंपनी के ऑफिस में एक नौकरी मिल गयी। वेतन तीस रुपये। यह कम है या ज्यादा, यह वात उस समय उसके मन में नहीं आयी। कुछ तो मिला। खड़े होने को एक जगह मिल गयी, इसी से मन को संतोष हो गया। उसी समय निर्मला को खवर भेज दी। फिर अपनी अवस्था का मन-ही-मन हिसाव लगाने वैठ गया। इन तीस रुपये में ट्यूशन के पन्द्रह रुपये मिलाकर जो वनेगा, उसमें ही खींच तानकर मेस का खर्च चलायेगा और वाकी हर महीने घर भेज देगा। पत्नी के जो गहने और पैतृक जमीन हाथ से निकल गये हैं, उन्हें वापस पाने का तो कोई उपाय नहीं, जो अभी तक वंधक है, धीरे-धीरे उन्हें छुड़ाना होगा।

उससे पहले एक वार निर्मला को देखने की इच्छा होने लगी, खुद भी दो दिन आराम की जरूरत थी। नौकरी का कार्यभार सम्हालने के लिए कंपनी ने सात दिन का समय दिया था।

जब आमना-सामना हुआ, तब दोनों जन एक दूसरे को ताकते भर रह गये। दोनों की आँखों में मौन शिकायत थी—स्वास्थ्य का यह हाल हो गया और मुझे खबर तक नहीं दी ? इस बारे में मुँह से कोई कुछ नहीं बोला। पड़ोसी पहले उद्वेग व्यक्त कर फिर प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

इस बार भी नरेन की हार हुई। इस स्वास्थ्य से मेस में रहने का प्रस्ताव रखते ही निर्मला ने अस्वीकार कर दिया। निश्चित हुआ, एक छोटा-मोटा घर ठीक कर नरेन खुद आयगा तो अच्छा है, वरना पत्र मिलते ही मणि देवर के साथ वह अपने आप पहुँच जायगी। यहाँ वह रहे भी तो किसके भरोसे ? हाथ में दो पतली चूड़ियों के अलावा देह पर सोने की कोई चीज भी तो नहीं रह गयी है। जो थोड़ी-सी जमीन है, उससे एक जन का भी पेट नहीं भर सकता। उसे भी छोड़ना पड़ेगा। नया घर बसाने का आयोजन भी तो करना होता है। वह खर्च भी मामूली नहीं।

मानिकतल्ला अंचल में ही एक अच्छा घर मिल गया। दो कमरे, रसोईघर और उसके साथ एक आँगन। भाड़ा दस रुपये। इससे भी कम भाड़े का एक मकान किसी गली में मिल रहा था। पर नरेन सदा से गाँव के खुले वातावरण में रहने वाला ठहरा, शहर की छोटी सी गली में उसका दम घुटने लगा था। निर्मला भी वहाँ नहीं रह पाती। जिस पत्नी ने इतना कुछ किया, उसे थोड़ी सामान्य स्वच्छंदता भी अगर नहीं दे सकता, तब वह क्या कर सकता है ? नरेन के मन में यही बात आयी। आवश्यकता पड़ने पर, न होगा, कोई एक छात्र और जुटा लेगा। इसके अलावा वेतन इसी रकम पर रुका नहीं रहेगा। क्रमशः बढ़ेगा। अनुभव बढ़ने के साथ-साथ भविष्य में दूसरी नौकरी मिलने की भी संभावना रहेगी।

मकान देखकर निर्मला की प्रसन्नता का अंत न रहा। बोली, "यह आँगन हमारे कितने काम में आयगा, देखना। यहाँ कुम्हड़े की दो बेल लगा दूँगी, बढ़कर छत तक पहुँच जायगी। उधर तोरई लगाऊँगी और इधर रहेगी मिर्च और भिंडी। हमें सब्जी नहीं खरीदनी पड़ेगी। बस, एक कुदाली मुझे ला देना।"

नरेन के चेहरे पर तृप्ति की हँसी फूट उठी। बोला, "ला दूँगा। कुछ दिनों में ही छोटे से संसार को सजा डालो, निर्मला।"

निर्मला को काम करते-करते याद आ जाते कटोआ के घर में छोड़कर आये वे छिटपुट दृश्य। किसी के मुँह से सुने व्यंग-विद्रूप और श्लेष। छत पर अंधकार में हुई अंतिम दिन की कुछ बातें अब भी कानों में बज उठतीं—"मेरी ही गलती हुई। जो जैसा है, उसे वैसा देखना ही उचित है।" दोनों आँखें फिर से सुलग उठतीं। इच्छा होती उसी दंभी व्यक्ति को बुलाकर दिखाये अपनी आज की यह जीवन-यात्रा। अगले ही क्षण स्वयं को संयत कर लेती—नहीं, अभी वह समय नहीं आया है। अभी और उठना है। उसके बाद।

उस दिन पति के ऑफिस से लौटते ही पूछा, "क्यों जी, तुम वेतन तीस रुपये बता रहे थे ना ?"

"हाँ।"

"और ?"

"और क्या ?"

"ऊपरी ?"

नरेन नाश्ता करते-करते पत्नी का मुंह विमूढ़ दृष्टि से देखने लगा। विस्मित स्वर में बोला, "ऊपरी का मतलब ?"

"वाह, नौकरी में ऊपरी नहीं होता क्या ?"

"घूस की बात कह रही हो !"

"घूस क्यों होगा ? ऊपरी। मेरे मंझले जीजा जी को जो वेतन मिलता है, उससे कहीं ज्यादा ऊपरी मिलता है। और मेरी उस शोभना के पति को....।"

"नहीं, मुझे ऊपरी कुछ नहीं मिलता...." बीच में ही नरेन गंभीर दृढ़ स्वर में बोल उठा।

पति का यह कंठ स्वर निर्मला ने इससे पहले कभी नहीं सुना था।

बहुत वर्ष बाद वही दिन याद आने से निर्मला की आँखें भर आयीं। इसी एक क्षेत्र में यह व्यक्ति अनमनीय था। किंतु जो व्यक्ति इतना कोमल, इतना दुर्बल था, पत्नी की इच्छा को जो सदा मौन रहकर मानता आया था, इस एकमात्र क्षेत्र में उसकी यह दृढ़ता उसे अनुचित जिद प्रतीत हुई उस दिन। निर्मला की क्या दुर्मति हो गयी थी उस दिन ? वह कुछ और मान ही नहीं सकी थी।

पटसन के दफ्तर में 'ऊपरी' का प्रचलन कम नहीं था। नरेन के सहकर्मी इसका पूरा लाभ उठाने से चूकते नहीं थे। उनमें से कोई बीच-बीच में उनके घर आता। ज्यादातर नरेन से उम्र में छोटे थे। निर्मला को भाभी कहते। बातचीत में किसी दिन ऊपरी आय का प्रसंग भी आ जाता, इसे लेकर निर्मला के सामने ही हँसी-मजाक भी करते। उन सबको जो सहज और स्वाभाविक था, वह एक व्यक्ति के लिए 'बुरी बात' होना नितांत अद्भुत नहीं तो और क्या था ? बीच-बीच में मन में आता, यह भीरुता मात्र है। नरेन की बात में ही जैसे उसकी स्वीकृति थी। 'यह मैं नहीं कर सकता, यह मुझसे नहीं हो सकता'—जोर देने पर यही उसका उत्तर होता।

एक-दो वर्ष बाद निर्मला की गोद में बेटा आया। इससे पहले और बाद में कितने ही बड़े खर्च करने पड़े, जो इस मामूली आय से पूरे नहीं पड़े। दिन-प्रति-दिन खींचतान बढ़ने लगी। निर्मला यदि समझती कि वेतन ही संबल है, इसी में उसे सारा खर्च निपटा लेना है, तब शायद इतने असंतोष का कारण न पैदा होता। किंतु अभाव दूर करने का उपाय जहाँ हाथ में हो, वहाँ केवल मूर्खता या भीरुता के वश हाथ समेटे

वैठे रहना वह सहन कर सकती थी क्या ? इसी मनोभाव से विरोध शुरू हुआ। गर्भ में वेटे के आने के वाद से उपयुक्त पौष्टिकता के अभाव में निर्मला का स्वास्थ्य और भी विखर गया था। दिमाग कावू में नहीं रख पाती थी। जव-तव कठोर वात निकल पड़ती, जो दो वर्ष पहले तक मुँह में आना तो दूर, मन में सोच भी नहीं पाती थी। पहले-पहले नरेन कोई जवाव नहीं देता था। किंतु मनुष्य के सिर पर जव रक्त चढ़ जाता है और उससे कटु उक्ति निकल आती है, तव उत्तर दिये विना उसे ठंडा नहीं किया जा सकता। रसना का यही धर्म है, वह जव विप उगलना शुरू करती है, तव उस विप को सिर झुका कर पी लेने से ही उसका स्रोत वंद नहीं हो जाता। विना प्रतिवाद के सिर झुका कर सह लेना भी सहज नहीं होता। नरेन के भी धैर्य का वाँध टूटना शुरू हो चुका था।

वही दिन अक्षय होकर निर्मला के जीवन में आ गये। जितने दिन जीवित रहेगी, तव तक ऐसी ही रहेगी।

माह पूरा होने में पूरा एक सप्ताह वाकी था। निर्मला के हाथ में एक पैसा नहीं रहा। सब्जी वगैरा नहीं खरीदी गयी। घर में दो आलू थे। वही उवाल कर सिर्फ नमक के साथ मिला भात के साथ पति के सामने रख दिये। नरेन ने आँख उठा कर देखा, थाली रखते समय उसकी आँखों में पानी भर आया है। पति अगर आधा पेट खा कर या न खा कर, गुस्सा करके चला जाता अथवा दो कठोर वात उसे सुना देता, तो शायद निर्मला मन-ही-मन खुश होती। मन में सोचती, उसका यह पावना है। किंतु नरेन कोई वात वढ़ाना नहीं चाहता, चुपचाप गर्दन झुकाये, जो मिला, उसे ही भात के साथ मिला कर खा लिया। यह देख निर्मला की आँखों का पानी सूख गया और वहाँ दिखायी दी ज्वाला। पति जव उठने जा रहा था, वह तिक्त कंठ में विप घोल कर वोली, "वहुत अच्छा लगा न ?"

नरेन ने चकित हो, एक वार आँख उठा कर देखा। कोई जवाव नहीं दिया। मुँह धोकर लोटा वरामदे के कोने में ला रखा।

"वोलते क्यों नहीं ?"

"छतरी दो।"

निर्मला छतरी लाने नहीं गयी। जहाँ की तहाँ खड़ी रही। इस उत्तर न देने में जो एक सदंभ अवज्ञा छिपी है, वह क्यों ? इतनी उपेक्षा किसलिए ? इतना अहंकार किसलिए ? पति ने जव जाने के लिए पैर वढ़ाया, लगा वह सामान्य रूप से जाना नहीं है, उसे ठोकर मार कर जाना है। निर्मला स्वर चढ़ा कर वोली, "जा रहे हो, मुन्ने के दूध के लिए पैसे नहीं दिये ?"

"मेरे पास तो हैं नहीं।"

"दूध कैसे आयगा ?"

"देखता हूँ, अगर अगले महीने के ट्यूशन के रुपये में से कुछ पहले मिल ज हैं या नहीं।"

"एडवांस के नाम पर भीख माँगने में लज्जा नहीं लगेगी ?" प्रश्न नहीं थ प्रश्न के रूप में कुछ श्लेष की अभिव्यक्ति थी।

नरेन चला जा रहा था, एक बार घूम कर देखा। प्रतिवाद के स्वर में बोल "भीख ! मतलब ? अपना पावना माँगूंगा, इसमें लज्जा की क्या बात है ?"

"ओह, वह पावना नहीं माँगा जाता न ? दुनिया भर के लोग उसे अपना अधिकार समझ कर ले लेते हैं। लज्जा तो बस तुम्हें ही लगती है।"

फिर वही पुराना प्रसंग ले कर कई बार वाद-विवाद हो चुका था, किंतु नरेन डिगाया नहीं जा सका। पर निर्मला भूल भी तो नहीं पाती। लोग उसे भूलने देते भी नहीं। कल ही उसका एक ऑफिसी देवर आ कर बता गया था, नरेन अब जिस स्थान पर नियुक्त किया गया है, दोनों हाथों से पैसा बटोरने की उस जैसी कोई अन्य जगह नहीं। झंझट नहीं, झमेला नहीं, बस आँख बंद करते ही जेब अपने आप भारी हो जाती है। इस पद पर जो पहले था, उसने इस बीच जादवपुर में मकान बनवा लिया है। किंतु हमारे नरेनदा ठहरे संत पुरुष, एकदम भगवान रामकृष्ण। कह कर हँस पड़ा था वह भला मानस। हँसी नहीं, जैसे अंजली भर कीचड़ उछाल दी थी उस अनुपस्थित अकर्मण्य व्यक्ति के मुंह पर। तब से ही वे वाक्य निर्मला के कानों में झनझना रहे थे। उस पर चारों ओर का यह हाल। प्रतिक्षण उसका हृदय जल रहा था। उसी की तीव्र ज्वाला निकल पड़ी उसकी भाषा और भंगिमा में।

नरेन ने पैर बढ़ाया था, थमक कर खड़ा हो गया। इस ओर देखे बिना ही बोला, "सब लोग क्या करते हैं, क्या नहीं करते, इससे मेरा कोई वास्ता नहीं। मैं नहीं कर सकता। यह बात मैं तुम्हें पहले भी कई बार बता चुका हूँ।"

"वह जानती हूँ। कर सकने का साहस नहीं है। वैसी चौड़ी छाती नहीं है तुम्हारी।"

"साहस की बात नहीं। यह अन्याय है। मेरा विवेक मुझे रोकता है।"

"विवेक ! जिसके घर में हांड़ी नहीं चढ़ती, जो दुधमुंहे बच्चे के लिए एक बूंद दूध नहीं जुटा सकता, फिर यह कैसा विवेक है। यह सब ढोंग छोड़ो। असल में तुम....।"

सर्पिणी के समान फुफकार उठी थी निर्मला। क्षण भर के लिए नरेन ने भी प्रदीप्त दृष्टि से उसकी ओर घूर कर देखा।

"असल में तुम भीरु, अक्षम, अपदार्थ हो। न जाने कितने जन्मों में मैंने पाप किया था, जो तुम्हारे समान एक कायर के साथ मेरा जीवन बँध गया।"

बोलते-बोलते रुद्ध कंठ हो, आंचल से आँखें दबा वहीं बैठ गयी वह। नरेन खड़ा

नहीं रहा। उसी दिन चरम सर्वनाश घटा।

थोड़ी आग निकल जाने के बाद, छाती के अंदर जव स्वाभाविक रूप से ठंडक आयी, तव अपना आचरण सोच निर्मला को जितनी लज्जा अनुभव हुई, उससे ज्यादा विस्मय हुआ। मन-ही-मन वोली—यह क्या किया मैंने ? इतनी कठोर वात तो पति को कभी नहीं कही थी! क्या उसका दिमाग एकवारगी ही खराव हो गया था ?

फिर भी उससे ज्यादा कौन जानता है कि यह एक भी वात उसके अंतर की नहीं थी। किंतु वह क्या यह समझेंगे ? वह शिशुसम व्यक्ति एकाकी रूप से उसी पर निर्भर है। पति के उसी अखंड विश्वास के मूल में वह अपने ही हाथों से चरम आघात कर वैठी!

शाम जा चुकी थी। और दिन तो ऑफिस से निकल ट्यूशन पढ़ा कर इससे कुछ पहले ही आ जाते थे। आज इतनी देर क्यों लग रही है ? दारुण दुश्चिंता से निर्मला घर-वाहर करने लगी।

पड़ोसिन वहू मुन्ना को वहुत प्यार करती थी। शाम होते ही रोज आकर ले जाती। किसी-किसी दिन खिला-पिला कर, उसे सुला कर गोद में लेकर पहुँचा देती। आज भी वह पहुँचाने आयी। निर्मला उस समय तक घर में नहीं गयी थी, वाती भी नहीं जलायी थी। पड़ोसिन के आते ही चिंतित स्वर में वोल उठी, "क्या करूँ, भई, अभी तक तो वह आये नहीं।"

"कहीं किसी काम में उलझ गये होंगे। अभी आ जायेंगे।"

उसी समय ऑफिस का एक वावू आँधी के समान उतर कर उस गली में घुसा। भागते-भागते आकर वोला, "जल्दी आइये, भाभी...।"

"कहाँ ?"

"अस्पताल में।"

"अस्पताल में ? क्यों ? वह कहाँ हैं ?"

"आइये मैं वताता हूँ सव। जल्दी चलिये।"

निर्मला के मुँह से और कोई वात नहीं निकली। पड़ोसिन के मुँह की ओर अपलक देखने लगी। वह वोली, "दीदी, तुम हो आओ। मुन्ना को मैं देखूँगी। उसके लिए तुम चिंता न करो।"

अस्पताल में जव पहुँची, उससे पहले ही सव खत्म हो चुका था। एक हाथ में पट्टी थी, दायाँ पैर एकदम नीचे से कटा हुआ था। निर्मला ने चादर उठा कर मुँह की ओर देखा। सव मिला कर वहाँ अपरिसीम क्लांति थी। उसी क्लांति का वोझ ढोते-ढोते कुछ क्षण पहले जैसे सो गया हो यह व्यक्ति। मर चुका है, इस पर जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था।

जो लोग वहाँ थे, उन्हीं से सुना—ट्राम में चढ़ते समय अचानक गिर गये थे।

दाहिना पैर गाड़ी के नीचे चला गया, उस पर से ट्राम निकल गयी। रास्ते के लोगों ने ही दौड़ कर उठा लिया था। जल्दी से गाड़ी नहीं मिल सकी। एंबुलेंस आते-आते बहुत देर हो गयी। तब तक खून बहता रहा। अस्पताल के इमरजेंसी वार्ड में जब ला हुआ, सारी देह में तब तक खून नाम को भी नहीं रह गया था। रहता भी कैसे ?-निर्मला मन-ही-मन बोली। सारा रक्त जो उन्होंने उसी के लिए पानी बना डाला था पत्नी होकर उसने अपने पति को तिल-तिल करके क्षय किया था।

एंबुलेंस करके जिन लोगों ने पहुँचाया था, उन्हीं में से एक बोला, "लगता शरीर वैसे ही बहुत दुर्बल था। एक्सीडेंट के बाद विशेष बातचीत नहीं कर पाये। उनका नाम और ऑफिस का पता ही बस किसी-न-किसी प्रकार से समझ में आया। खबर देते ही वे लोग आ पहुँचे।"

ऑफिस के कई सहकर्मी पास में ही खड़े थे। उस समय तो नहीं, कुछ दिन बाद उन्होंने निर्मला को एक अद्भुत कहानी सुनाई। वह नरेन भट्टाचार्य के प्रथम और अंतिम अधःपतन का इतिहास था।

पिछले कई माह से वह बिल क्लर्क का काम करते थे। धीर, स्थिर और ईमानदार व्यक्ति देख कर ही प्रबंधकों ने शायद अनेक कर्मचारियों को छोड़ यह दायित्व उनके हाथ में सौंपा था। उस जगह जो बैठता, उसका बड़े-बड़े बिलों पर पावना लिया जाना ऑफिस में शुरू से ही प्रायः नियम बना हुआ था। नरेन ऐसे रुपये छूता तक न था। उस दिन ऑफिस में आकर वह काफी देर तक चुप बैठा रहा था। किसी काम में हाथ नहीं लगाया। किसी के साथ बात भी नहीं की। फिर एक पार्टी आयी थी बिल पास कराने। नया व्यक्ति था। काम हो जाने पर दस रुपये का एक नोट फाइल के नीचे ठूंस गया था। नरेन पहले तो चौंक उठा था, फिर कुछ देर हिचकिचाने के बाद उसने नोट उठा कर जेब में रख लिया। पास की मेज पर बैठने वाला क्लर्क, पार्टी के आदमी के जाते ही पास पहुँच कर हँसा था और पीठ पर धौल जमा कर बोला था, "इतने दिन बाद सुबुद्धि आई, दादा! अब तो समझ में आया ना, कि इतने दिन भूल करते रहे थे?"

नरेन ने कोई जवाब नहीं दिया था। कुछ क्षण तक सूखा मुंह लिये बैठा रहा, फिर हठात् अस्थिर हो कुर्सी छोड़ उठ खड़ा हुआ था।—"कहाँ चले ?" पीछे से उसके एक सहकर्मी ने पूछा था। उसने जवाब नहीं दिया था। फिर ऑफिस में भी लौटकर नहीं आया। छुट्टी से थोड़ा पहले ही खबर मिली, वह अस्पताल में है।

प्रायः सात दिन बाद अस्पताल के मैनेजर का निर्मला के नाम पत्र आया—"मृत नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य को जब आउटडोर में लाया गया था, उनकी जेब से एक दस रुपये का नोट मिला था। वह रोगियों के प्राइवेट फंड में जमा है। आप खुद अथवा अपना लिखित अधिकार देकर किसी अन्य व्यक्ति को भेज रुपये ले जाने की व्यवस्था करें।"

पत्र उसने वहीं फाड़ कर फेंक दिया था।

वाद का इतिहास और भी संक्षिप्त है। ऑफिस के वावुओं ने आपस में चंदा एकत्र कर कुछ मामूली रकम उसके हाथ में ला रखी। उससे वकाया मकान-भाड़ा चुका तथा अन्य छिटपुट दायित्व चुकता कर वाकी थोड़ी-सी रकम हाथ में ले वस्ती के इस घर में आ गयी थी। मुन्ना उस समय दो वर्ष का था। कई भले लोगों ने जो किया, उसकी तुलना नहीं। किंतु सभी मामूली वेतनभोगी गरीब क्लर्क थे। निर्मला ने उन पर वोझ नहीं वनना चाहा। वाद में उसे लेकर वे और परेशान न हों, इसलिए उन्हें वताये विना वह चली आई थी।

निर्मला सारी रात वरामदे के उसी खंवे का सहारा लिये वैठी रही। कभी जागृत-चिंता तो कभी अर्द्ध-चेतन जड़ता के साथ वह अपने पीछे छूट गये दिनों पर गौर करती रही, जिस प्रकार लोग वहुत पुरानी किताव के पन्ने उलट कर देखते हैं। शायद इच्छा करके नहीं, दुःसह भार से वोझिल मन पर स्वतः ही वे चित्र उभर-उभर कर आने लगे थे। फिर कुछ देर तक सोचने तक की शक्ति नहीं रही। सूक्ष्म स्नायु-जाल के रंध्र-रंध्र में उतर आयी थी एक भीषण क्लांति। आँखें मुँद गयीं। अवसन्न शरीर फर्श पर फैल गया। कितनी देर वह ऐसे पड़ी रही, यह वह नहीं जान सकी। सहसा लगा, मुन्ना जैसे उसके पास आकर खड़ा हो गया है, कान के पास मुँह लाकर पुकार रहा है—'माँ उठो।' तंद्रा टूट गयी। हड़वड़ा कर उठ वैठी और चारों ओर देखने लगी, कहीं कोई नहीं था। दूर आकाश की गोद में अंधकार का आवरण वहुत पतला हो गया था। वस्ती में यहाँ-वहाँ जीवन-यात्रा के पुनः शुरू होने का आभास जाग उठा था।

तन और मन में इतना भारी अवसाद निर्मला के जीवन में पहले शायद कभी नहीं छाया था। जिस दिन पति की मृत्यु हुई, उस निदारुण दुर्दिन में भी चारों ओर इस प्रकार शून्यता नहीं छा गई थी। उस दिन उसके हृदय को मुन्ना का संवल था। उस छोटे शिशु ने ही जैसे उसकी सारी शून्यता भर दी थी। आज वही चला गया। आगे-पीछे कहीं कोई नहीं। इस चरम विपद की कहानी वह किसको जाकर सुनाये? कौन उसके मुन्ना को खोजकर लायेगा? इतने दिन वाद मन में आया, काश! आज माँ होती। माँ नहीं रही, यह खवर वहीं मिली थी, उनकी मृत्यु के काफी दिनों वाद। वस्ती के स्कूल के मास्टर ने वताया था मुन्ना को। उन्हें कहीं से पता चला था। सुनकर वह थोड़ा स्तब्ध होकर वैठ गयी थी। मुन्ने की ओर देखकर जैसे-तैसे दाँत-मुँह भींचकर रुलाई रोक पायी थी। किंतु निःश्वास नहीं दवा सकी थी। उस निःश्वास में उस दिन शोक से ज्यादा स्वस्ति अनुभव की थी। मन-ही-मन कहा था, यह अच्छा ही हुआ। जमाई का आश्रय और अन्न ज्यादा दिन भोगना नहीं पड़ा; छोटी वेटी का यह 'राज-

ऐश्वर्य' देख नहीं सकी। पर आज माँ का अभाव सबसे ज्यादा खला। शायद ऐसे दिन सभी को भोगने पड़ते हैं। जीवन के आकाश में जब रिक्तता का पूरा ग्रहण दिखाई देता है, उसी निस्सीम अंधकार में एक आलोक की रेखा तब भी बच रहती है। वह है माँ का मुख। जिसने सारा जीवन माँ को नहीं पुकारा, माँ की बात नहीं सोची, उसके भी मुंह से मृत्यु-शय्या पर अंतिम निःश्वास के साथ एक ही शब्द निकलता है—'माँ।'

माँ के साथ ही निर्मला को बहनों की भी याद आयी। दोनों में से कोई भी कलकत्ता में नहीं है। बड़ी दीदी की बदली कहीं कुमिल्ला या नोआखाली में हो गयी है। मँझली दीदी भी कुछ दिन पहले जीजा के साथ घूमने निकली है। रेल कर्मचारी ठहरे, अनेक दिनों तक अनेक प्रांत घूमेंगे। इन दोनों की खबरें भी मास्टर साहब ने ही दी थीं। मुन्ना को बुलाकर एक दिन कहा था। मुन्ना ठीक से समझ नहीं पाया था। मौसियों के बारे में वह नहीं जानता था। जो कुछ थोड़ा-बहुत बताया था, उसी से निर्मला समझ गयी।

मास्टर साहब की याद आते ही निर्मला के मन को जैसे स्वस्ति मिली। उनके कान में बात पहुँचते ही वह निश्चय ही बैठे नहीं रहेंगे। समय होते ही जैसे भी होगा, खबर पहुँचानी पड़ेगी—स्कूल आते ही वह दया करके एक बार यहाँ आयें। उनके सामने पहले वह कभी नहीं निकली है। वह भी कभी इस ओर नहीं आये हैं। मुन्ने के मुँह से ही सारा कुछ सुना है। किंतु आज तो उसे लज्जा करने का दिन नहीं है। आज उसे सामने निकलना ही होगा।

बैठे रहने की शक्ति नहीं थी उसमें। वहीं लेटे-लेटे, सुबह कब होगा, उसी ओर अधीर दृष्टि से ताकती रही।

उस समय तक दिन का प्रकाश स्पष्ट नहीं हुआ था। रास्ते की बत्तियाँ जल रही थीं। हठात् कई भारी-भारी गाड़ियों का शोर सुनाई दिया और साथ-ही-साथ जैसे सारी बस्ती आलोड़ित हो उठी। पुरुषों की दबी आवाजें, महिलाओं का रोना और शिशु-कंठों का आर्त-चीत्कार चारों ओर फैल गया। निर्मला समझ गई—पुलिस आई है। किंतु कहाँ, किस रूप में, किस पर आज का उत्पात शुरू होगा, इसी अज्ञात आशंका से कलेजा धड़कने लगा। हठात् तीन-चार वर्दीधारी लोग उसके मकान में घुस आये। एक अफसर जैसे व्यक्ति ने आगे बढ़कर पूछा, "यहाँ कौन रहता है?"

जैसे-तैसे निर्मला उठकर बैठते हुए बोली, "मैं।"

"और?"

"मेरा बेटा।"

"कितना बड़ा है?"

"नौ वर्ष में पड़ा है।"

"वह कहाँ है?"

"कल दोपहर से घर में नहीं है।"

"क्यों ?"

"गुस्सा हो कर चला गया है, फिर लौटा नहीं।"

कहते-कहते निर्मला का स्वर रुँध गया। इतने अनजाने-अपरिचित पुरुषों के सामने भी वह आँख का पानी दवा कर नहीं रख सकी।

अफसर ने संदिग्ध दृष्टि से कुछ क्षण उसे देखा, वरामदे में चढ़ कर कमरे के भीतर एक वार झाँक कर देखा, फिर इधर-उधर देखने के वाद खट-खट करता चला गया। वाकी जो लोग आँगन में खड़े थे, उन्होंने भी उसका अनुसरण किया। निर्मला सोचने लगी, क्या इन पुलिसवालों से कहने पर वे लड़के की खोज नहीं कर सकेंगे ? ऐसा सुअवसर फिर नहीं मिलेगा। लेकिन उसके कुछ कहने से पहले ही वे लोग चले गये।

करीव चार घंटे तक वस्ती पर जैसे प्रलय छायी रही। जहाँ भी संदेह हुआ, कथरी-कम्वल उलट-पुलट कर, थाली-लोटा-वाल्टी तहस-नहस कर, घोर आडंवर के साथ तलाशी का सिलसिला चलता रहा। उसके वाद थोड़ी देर तक कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ी। किसके भाग्य में क्या घटा, जानने के लिए निर्मला ने जव कोशिश की, तभी दो लड़कों ने आकर खवर दी, "मास्टर साहव को पकड़ ले गये हैं।"

"कौन से मास्टर साहव को ?"

"वड़े मास्टर साहव को। साइकिल से उतरते ही गिरफ्तार कर लिया।"

निर्मला के हृदय में उथल-पुथल मच गयी। वहुत मुश्किल से रुद्ध निःश्वास के साथ वोली, "क्यों ?"

"पुलिस कहती है, वह किसी 'स्वदेशी पार्टी' के हैं। नाम वदलकर वस्ती के स्कूल में नौकरी कर रहे थे। उनके साथ ही तीन दूसरे लड़कों को भी ले गये हैं।"

लड़कों का नाम भी वताया उन्होंने। निर्मला के कान में वह वात नहीं गयी। उस समय उसकी समस्त चेतना को एक ही वात घेर चुकी थी—मास्टर साहव भी चले गये। मन में आया, यह भी शायद उसका ही दुर्भाग्य है। संसार के पथ में उसे हर प्रकार से निराधार कर देना ही शायद विधाता का लक्ष्य है। इसी से उसका यह अंतिम सहारा भी हटा लिया गया।

● ● ●

चार

थाने की हवालात से अदालत और जेल हाजत में जव अभियुक्त का चालान किया जाता है तव उसकी कमर में रस्सी और हाथ में हथकड़ी पहनाने की व्यवस्था है। वकरा चुराने के मामले के अभियुक्त दिलीप भट्टाचार्य के अवसर पर दूसरी दफा

का प्रयोग नहीं किया गया। इसका कारण यह नहीं था कि कम उम्र देख कर सिपाही उस पर दयाभिभूत हो उठे हों या थाने के लोगों ने विशेष कृपा की आवश्यकता अनुभव की थी। इसका कारण था कि थाने के मालखाने में इतने छोटे नाप की हथकड़ी ही नहीं थी। जो लोग यह चीज बनाते हैं, उनमें शायद बुद्धि-विवेचना का अभाव है। उनकी नजर रहती है केवल बड़े-बड़े अपराधियों की मोटी कलाइयों पर। इस प्रकार के छोटे अपराधियों की बात उन्होंने सोची ही नहीं। फिर भी कई जोड़ी हथकड़ियाँ जाँच कर देखी गयीं। उनके बड़े-बड़े घेरों में मुन्ना के दोनों हाथ डाल कर अट्टहास कर उठे पुलिस कांस्टेबल। फिर उस बेढब वस्तु के प्रति एक ऐसी रोचक देहाती गाली दी, जिसे सुन कर लोहे की हथकड़ियों के भी कान लाल हो उठे। उन्हें अलग रख आखिर में मोटी डोरी से ही मजबूती के साथ बाँधा गया। मुन्ना की कमर झुकी जा रही थी। धमकी की सहायता से उसे यथासम्भव सीधा रखने की व्यवस्था कर डोरी का एक सिरा पकड़, कांस्टेबल वीर-दर्प से साथ चल पड़ा अदालत की ओर।

यह दृश्य थाना-इंचार्ज ने भी देखा। शायद वह कहने वाला था—इतने छोटे लड़के को हाथ पकड़ कर भी ले जाया जा सकता है। इस मोटी और भारी रस्सी को उसकी कमर में बाँधने की क्या जरूरत है? बोलते-बोलते रुक गया। यह आज्ञा गैर-कानूनी होगी; शायद कांस्टेबल न माने। मान भी जाय। और फिर अगर जान-बूझ कर छोड़ दे और लौट कर रिपोर्ट दे दे—अभियुक्त भाग गया, तो दरोगा बाबू की नौकरी पर आ बनेगी। जान-बूझ कर यह सब मुसीबत सिर पर लेने की क्या जरूरत है? पुलिस की नौकरी में हार्दिक भावना का कोई स्थान नहीं।

मुन्ना को जहाँ ले जाया गया, उसे चलती भाषा में बाल कारागार कहते हैं। वास्तव में वह जेल नहीं, हाजत है। अदालती निर्णय के पूर्व अल्पवयस्क अभियुक्तों को बन्द रखने का कटघरा है। उस जैसे और अधिकांशतः उससे बड़े बीस-बाईस लड़के एक कमरे में एकत्र किये गये थे। वहाँ एक ओर बाघ-बन्दी खेल चल रहा था। खेल तो दो रहे थे और उन्हें घेर कर हो-हल्ला कर रहे थे दस-बारह जन। दूसरी ओर दो लड़कों ने मिल कर लड़ाई शुरू कर दी थी। थप्पड़-घूंसे चल रहे थे। दोनों महारथियों का उत्साह बढ़ाने वाले भी प्रचुर थे। सहसा सब थम गये। 'बाघ-बन्दी' के खिलाड़ी बाघ को खुला छोड़ कर उठ खड़े हुए। भारी लड़ाई में जैसे अचानक दोनों पक्षों के बीच बिना शर्त संधि हो गयी। इतने कांड के चलते भी कमरे के एक कोने में लेटे जो दो लड़के कुछ कर रहे थे, वे भी हड़बड़ा कर उठ बैठे। सभी की दृष्टि द्वार की ओर थी। नवागंतुक की गंध मिली थी, सारा आग्रह उसी ओर उन्मुख हो गया था। इसी एक कमरे की चारदीवारों से घिरा जो जगत है, उसमें बीच-बीच में एक नया मुखड़ा आ जाता है। यह उनके लिए विचित्रता का स्वाद है। इसलिए सब छोड़ उसे लेकर ही मतवाले हो उठने की बारी आती है।

कमर भारी बन्धन से वैसे ही दर्द करने लगी थी, ऊपर से धूप में लम्बा रास्ता चलना पड़ा था। लोहे का दरवाजा खोल भीतर धकेले जाते ही मुन्ना धप्प से जमीन पर बैठ गया। सारा मुख लाल हो रहा था, उस पर पसीने के साथ मिल गया था आँख का पानी। उसने डरते हुए एक बार चारों ओर देख कर सिर झुका लिया। व्यंग और कौतुक भरे निष्ठुर चेहरों की भीड़। वहाँ स्नेह, मित्रता और ममता का कोई आभास दिखायी नहीं पड़ा।

दरवाजा बन्द कर सिपाही के जाते ही कई लड़कों ने आ कर उसे घेर लिया। एक छरहरा-सा लड़का उसके पास बैठ कर बनावटी सहानुभूति के स्वर में बोला, "आ हा! पसीने से नहा उठे हो। अच्छा, मैं हवा करता हूँ।" कह कर उसने एक मैला-सा रूमाल निकाल मुंह के पास हिलाना शुरू कर दिया। चारों ओर ठहाके लगने लगे। दूसरे एक लड़के ने उसकी ठोड़ी उठा कर अपना मुंह पतला कर कहा—"खोकार पुतुल टुकटुकटुक, दूध खाय चुकचुकचुक!" साथ ही एक बार फिर हँसी का दौर चला। उसके बाद जो आया, वह शायद सबसे रसिक था। जेब से एक बीड़ी निकाल मुन्ना के मुँह में ठूँस दी और रोते स्वर में बोला, "भूख लगी है? पियो, पियो, बीड़ी पियो।"

बीड़ी की गंध मुन्ना बिल्कुल नहीं सह पाता था। एक तो सुबह से पेट में कुछ नहीं पड़ा था, उस पर इस गंध के नाक में जाते ही उसका जी मिचला उठा। मितली उठते ही लड़कों का दल नाना प्रकार का कलरव कर छिटक कर पीछे हट गया। साथ-ही-साथ कमरे के कोने से भीड़ ठेल कर एक बड़े डील-डौल का लड़का आया। धमकी के स्वर में सबसे बोला, "ऐ, तुम लोग फिर नये लड़के के पीछे पड़े हो? ठहरो, चखाता हूँ मजा।" कहते ही, केवल मजा ही नहीं, हाथ के कमाल भी दिखा दिये, अर्थात् हाथ के पास जो भी पड़ा उसमें से किसी का कान, किसी के बाल खींचे और किसी के गाल पर भारी थप्पड़ जमा दिया। दो मिनट में जगह खाली हो गयी।

मुन्ना उस समय तक बैठा न रहने के कारण लेट गया था। उसके सिर के पास खड़े हो बड़ा लड़का बोला, "ऐई, क्या नाम है तेरा?"

मुन्ना ने क्षीण स्वर में कहा, "दिलीप।"

"क्या किया है?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ नहीं किया तो पुलिस ने पकड़ा क्यों?"

मुन्ना डरते-डरते बोला, "एक आदमी ने एक बकरा पकड़ लाने को कहा था...."

"ओह! आगे बताने की जरूरत नहीं। तू निरा गधा है। सुबह से कुछ खाया है?"

मुन्ना ने नकारात्मक सिर हिलाया।

"साले लोग।" बोल कर उसने दांत से दांत मिला कर जोर से चीख कर

पुकार लगायी, "ओ सिपाही जी।"

गेट के उस ओर अदृश्य स्थान से जवाब आया, "क्या हुआ ?"

लड़का मन-ही-मन बड़बड़ाया, 'क्या हुआ ! लाट साहब की औलाद !' प्रकट में बोला, "इधर आइये ना थोड़ी मेहरबानी करके।"

गेट के बाहर प्रकट हुए संतरी ने विरक्त स्वर में कहा, "क्या बोलता है ?"

"बोलता है इन छोटा-छोटा लड़का लोग को भूख लग गिया है। खाना कब देगा ?"

"देगा, जब टाइम होगा।"

"टाइम तो हो गिया है।"

"हो गिया है तो मिल जायगा। चुपचाप रहो। चिल्लाने से रिपोर्ट हो जायगा।"

"रिपोर्ट-विपोर्ट की मैं परवाह नहीं करता। मेरा नाम रतन सिकदार है। कई बार यहाँ आ चुका हूँ। जमादार को बुलाओ।"

"जमादार तुम्हारा नौकर है ?"

"अच्छा, अभी दिखाये देता हूँ, नौकर है या नहीं। सभी मिल कर ऐसा चिल्लाना शुरू करेंगे कि साहब तक भागे आ जायेंगे।"

"ऐ" कहते हुए दल-बल की ओर घूम कर वह शायद सबसे बड़ा अस्त्र प्रयोग करने की तैयारी कर ही रहा था, तभी जमादार साहब की आवाज सुनाई पड़ी, "क्या हुआ रे रतन ?"

"जी, कुछ नहीं," थोड़ा लज्जित भाव से रतन बोला, "बहुत भूख लग आयी है।"

"थाली-कटोरी लेकर चले आओ," फिर सिपाही की ओर घूम कर बोला, "जमादार, खोलो।"

क्षण भर में ऐसा लगा जैसे घर में डाका पड़ गया हो। बेलगाम हो उठे लड़कों के गिरोह की शोरगुल के साथ भागा-दौड़ी और उसके साथ ही आल्युमिनियम की थाली-कटोरी की तुमुल झंकार फैल गयी। दरवाजा खुलने का विलंब भी न सहा गया। कौन सबसे पहले निकले यही लेकर ठेलमठेल। जमादार बेटन ऊँचा करके आगे आया। किसी-किसी की पीठ पर एक-दो प्रहार भी हुए। किंतु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस झमेले के बीच हाथ जोर से खींचे जाने पर दिलीप उठ बैठा। रतन कड़क कर बोला, "ऐई छोकरे, इस समय लेटा पड़ा है। चल खायगा नहीं ?"

खाने का प्रबंध बरामदे में था। फर्श पर लाइन लगाये उकड़ूँ होकर लड़के बैठे थे। सामने थाली और पास में कटोरी में पीने का पानी रखा था। थाली में झनझन की आवाज के साथ भात का एक 'ढेला' गिरा। एक-एक दाना अलग था

(अर्थात् उसे भात न कह कर चावल कहा जा सकता था)। सब दाने अलग-अलग पड़े एक दूसरे की ओर जैसे आँखें फाड़े देख रहे थे। दूसरे एक आदमी ने आकर एक कटोरी दाल हड़हड़ कर उड़ेल दी। उसके भी दानों के साथ रसे का असहयोग था। तीसरी और अंतिम बार आया हर प्रकार के अनाजों से बना एक काले रंग का अर्द्धतरल रसमय पदार्थ। इसे कहा जाता है तरकारी।

परोसे जाने के साथ ही चारों ओर से निरंतर स्वर में शिकायत चल रही थी, "कम क्यों दे रहे हो? कटोरी भरी नहीं थी, एक कटोरी और डाल।" "हमको आलू नहीं दिया, सिर्फ रसा दिया है, तरकारी कहाँ है?" व्यवस्थापकों की ओर से भी उसका समुचित जवाब दिया जा रहा था, "चुप रहो", "हिश्श! लाट साहब! आलू चाहिए", "नहीं खाना हो तो उठ जा"—इत्यादि। कोई-कोई थाली उठाये पंक्ति तोड़ कर उठ रहा था, आगे बढ़ कर ज्यादा पाने के लिए। परोसने वालों का दल (वे भी उन्हीं के समान बाल कारागार के वासी थे) माप का डंडा उठा कर डाँटता, या फिर सिपाही आ कर गर्दन पकड़ बिठा देता।

इस झगड़ालू-अड़ियल दल के एक छोर पर सिर झुकाये दिलीप बैठा था। वह अपना भात लेकर उसके कौर बना-बिगाड़ रहा था। एक-दो ग्रास मुंह में डाले थे, ज्यादा नहीं दे पाया। भूख से पेट जल रहा था, फिर भी वह खाना उसके गले से नहीं उतर पा रहा था। इतना सख्त मोटा-मोटा भात, ऐसी दाल और तरकारी उसने कभी आँख से देखी तक न थी, विशेषकर ऐसा खाना। घर पर वह जो खाता था, वह भी सामान्य दाल-भात होता और उसके साथ होतीं एक-दो साधारण तरकारियाँ। कभी-कभी एक टुकड़ा मछली भी होती। पर उसके लिए वही अमृत था। वही स्वाद मुंह को लगा था। जेल का अन्न परमान्न होने पर भी उसके मुंह में नहीं जा पा रहा था।

उसने चारों ओर एक बार कनखियों से देखा—सभी बड़े-बड़े कौर मुंह में गड़प रहे थे। जिनका खाना खत्म हो चुका था, वे खाली थाली में उँगलियाँ प्राणपण से घिस रहे थे और एक अनोखे शब्द के साथ उन्हीं उँगलियों को चाट रहे थे। कोई-कोई थाली ही उठा कर जीभ निकाल कर चाट रहा था। जो लड़का मुन्ना की एकदम बगल में बैठा था, वह लोलुप दृष्टि से कई बार उसकी थाली देखने के बाद फुसफुसा कर बोला, "तू खायगा नहीं?"

मुन्ना ने सिर हिला कर अस्वीकृति जतायी। फिर उस लड़के ने किसी अनुमति की आवश्यकता न समझ झट से उसकी थाली से थोड़ा भात और तरकारी उठा ली। बायीं ओर बैठा लड़का भी इसी ओर देख रहा था। वह भला क्यों पीछे रहता? किंतु उसने जैसे ही हाथ बढ़ाया, दायीं बगल वाले दावेदार की ओर से बाधा दी गयी। उसके शरीर में ज्यादा ताकत थी। बायीं ओर वाला चीख उठा। खींच-तान शुरू हो

गयी और पल भर में ही वहाँ मारामारी का दृश्य पैदा हो गया ।

दो सिपाही बेटन उठाये भागते हुए आये और विना कई हाथ जमाये दोनों दावेदारों को अलग करना संभव नहीं हुआ ।

मुन्ना पर भी उनके दो-चार घूँसे-थप्पड़ पड़ गये थे । साथ ही आ लगा था दाल मिला भात । जब वह एक ओर खड़ा होकर दाल-भात छुड़ाने की कोशिश कर रहा था, तब रतन कहीं से आकर बोला, "दोनों बंदरों ने तुझे खाने नहीं दिया ना ? चल जमादार से कह कर तुझे दूसरा दाल-भात मँगा देता हूँ ।

दिलीप सिर हिला कर बोला, "मैं नहीं खाऊँगा ।"

"नहीं खायगा ? क्यों ?"

दिलीप ने कोई उत्तर नहीं दिया । रतन हँस कर बोला, "हट पागल ! बिना खाये सारे दिन कैसे रहेगा ?"

मुन्ना का हाथ पकड़ कर खींचने पर भी जब उसने हिलना नहीं चाहा, तब स्वाभाविक कठोर स्वर को यथासम्भव मृदु बना कर बोला, "जेल में आकर पहले-पहल ऐसा ही लगता है । फिर देखना, सब सह जायगा ।"

कुछ ही माह में दिलीप भट्टाचार्य का अभियोग तैयार हो गया । सीधा मामला था । चोरी के माल सहित रँगे हाथों पकड़ा गया था आसामी । उसके बाद कोई जटिलता नहीं । साची-सबूतों का बाहुल्य नहीं । फिर भी दारोगा ने कुछ दिन का समय लिया— ं कसाइयों को पकड़ा जाय या नहीं, तय करने में । वह चेष्टा यथारीति व्यर्थ हो । दिलीप ही एकमात्र अभियुक्त बना । उसके विरुद्ध धारा ३७९ के साथ धारा १ लगा कर रिपोर्ट भेज दी ।

मजिस्ट्रेट एक महिला थी । विभिन्न प्रकार के सामाजिक कार्यों अर्थात् समाज- में नेतृत्व करती रहतीं । प्रश्न उठेगा, उन पर ही निर्णय करने का भार क्यों पड़ा ? अन्य किसी विचारमंच पर तो नारी का आविर्भाव हुआ नहीं । 'बार' में कोई घुसी हैं, 'बेंच' तक नहीं पहुँच सकी हैं । यहाँ जो यह व्यवस्था हुई, उसका कारण शायद अभि-युक्त की उम्र थी । यहाँ जिनके मामलों की सुनवाई होती, ये सब 'छोकरे' होते— शिशु और किशोर । मातृजाति के हाथ से वे संतान-सुलभ व्यवहार पायेंगे, कदाचित् ऐसा ही कोई उद्देश्य रहा होगा शासकों के मन में । किन्तु कानून बनाना तो न्यायाधीश के हाथ में नहीं होता, रहता है केवल उसका प्रयोग । केवल इतने से ही उनको 'मातृत्व' प्रकट करने में कितनी छूट है ? महिला-डॉक्टर के अपने हाथ से प्रिस्क्रिप्शन लिखने मात्र से ही क्या कुनैन की कड़ुवाहट समाप्त हो जाती है, या कम हो जाती है ? नारी हाथ के स्पर्श से कानून की कठोर धाराएँ मुलायम हो जायेंगी, यह भी वैसी ही दुराशा-मात्र है ।

मान लें, यदि हो जाय, तो क्या यह वांछनीय है ? शल्य-चिकित्सा करने जाकर

पुरुष-सर्जन जिस प्रकार छुरी चलाता है, महिला सर्जन को भी क्या उसी प्रकार नहीं चलानी होगी ? वहाँ अगर तत्परता का अभाव दिखे, द्विविधा पैदा हो, ममता या करुणा का आविर्भाव हो, तो निश्चय ही उसे अक्षम चिकित्सक समझा जायगा। नारी-सुलभ दुर्बलता दिखा कर वह चिकित्सा की विधि की अवहेलना करती है। जहाँ कठोरता की आवश्यकता है, वहाँ कोमलता का प्रयोग अवांछनीय है। कानून के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसलिए मजिस्ट्रेट का नारी या पुरुष होना कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं रखता। कानून की व्यवस्था का यदि यथावत प्रयोग करना है, अवसर के अनुकूल ही कठोर या मृदु होना पड़ेगा। एक महिला को न्याय के आसन पर बैठाने के मूल में अगर कोई विशेष उद्देश्य रहा हो, तो वह महत्वपूर्ण होकर भी न्याय-सम्मत नहीं।

एक प्रश्न और है। यह धारणा कैसे बनी कि बाल अपराधी पर नारी की दृष्टि पुरुष की अपेक्षा मृदुतर होती है ? कौन कहता है कि पुरुष जाति को अपेक्षानारी जाति कम निष्ठुर है ? इतिहास ने क्या अनेक क्षेत्रों में इसके विरुद्ध प्रमाण नहीं दिये हैं ? प्रतिदिन की संसार-यात्रा क्या इसके विपरीत बात नहीं कहती ? शायद एक दृष्टांत यथेष्ट हो। बालक-भृत्य पर गृहस्थ द्वारा, जो अवहेलना, उत्पीड़न अथवा निर्मम व्यवहार होता है, वह प्रायः सभी देशों और सभी युगों की साधारण घटना है। मालूम करने पर पता चलेगा, उसमें गृहस्थ के हाथ से अगर कुछ होता है तो उसमें प्रेरणा गृहणी की रहती है। किंतु ये बहुत दिनों के बद्धमूल संस्कार हैं कि नारी का हृदय कोमल होता है। इस क्षेत्र में भी इसीलिए कोर्ट बाबू बहुत ज्यादा सतर्क हैं। कितनी ही विदुषी और बुद्धिमती क्यों न हो, फिर भी तो होती महिलाएँ ही हैं। क्या पता क्या संकट खड़ा कर दें ? फिर दिखा दें अपनी दुर्बलता। पुरुष हाकिम होने पर ऐसी कोई चिंता नहीं। अनेक अवसर पर सख्त हाथ से मामला पकड़ना होता है। जितना आवश्यक हो, उससे अधिक कठोरता का मनोभाव ले आगे बढ़ना होता है। दिलीप के मामले में भी उसका व्यतिक्रम नहीं हुआ।

अभियुक्त के कटघरे में आकर खड़े होते-न-होते, कोर्ट बाबू ने कर्कश स्वर में धमकाया, "इससे पहले कितनी बार चोरी की थी ?"

जवाब देते समय दिलीप का स्वर काँप गया। उसकी बात ठीक से समझ में नहीं आयी।

"क्या कहा ?" हुंकार दी कोर्ट बाबू ने। क्षीण स्वर में उत्तर मिला, "मैंने चोरी नहीं की।"

"चोरी नहीं की ? बुद्धू !"—मुंह चिढ़ा कर इतना बोलने के साथ ही वह हाकिम की ओर घूमे और हाथ-पैर हिलाते हुए वक्तृता की भंगिमा से समझाने की चेष्टा की, "अभी से सावधान न होने पर यही सब क्षुद्र अपराधी भविष्य में विपदा-जनक समाज-विरोधी तत्व बन जायँगे। बकरा छोड़ कर कपड़े-लत्ते, थाली-कटोरी और

धीरे-धीरे हाथ सध जाने पर रुपये-पैसे, गहना-आभूषण तक चुराने लगेंगे। भले घर में जन्म होने पर भी जिस वर्तमान स्तर पर उतर आया है, वहीं से अभी से इसे कठोर निगरानी में रखे जाने की जरूरत है। अगर ऐसा न हुआ, तो यह दिलीप भट्टाचार्य और भी अनेक दिलीपों को संक्रामित कर देगा। रोग का यह बीज क्रमशः समाज के उच्च-स्तर पर भी पहुँच जायगा। इसलिए...."

वक्तृता के बीच में ही मुन्ना हाकिम की ओर मुंह कर बोल उठा, "मैंने चोरी नहीं की। मुझे मेरी माँ के पास पहुँचा दो। अब कभी बाहर नहीं जाऊँगा।"

बोलते-बोलते उसकी आँखों से आँसू चू पड़े! जल्दी से उन्हें धोती के पल्ले से पोंछ फिर कुछ कहने जा रहा था, उसी समय हाकिम कोर्ट बाबू की ओर उन्मुख हो बोले, "इसकी माँ की कोई खोज की गयी ?"

"कोशिश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी, युअर ऑनर! किंतु पता न बता पाने के कारण कलकत्ता शहर में, एक महिला को खोज पाना संभव नहीं है।"

"किस बस्ती में रहता है, यह भी नहीं बता पाता ?"

"किधर रहता है, यह भी ठीक से नहीं दिखा पाया। ओ० सी० के बहुत पूछ-ताछ करने पर भी अता-पता नहीं बता पाया। इसकी रिपोर्ट में भी यही लिखा है युअर ऑनर मे हेव ए लुक।"

मजिस्ट्रेट ने और कोई प्रश्न नहीं किया, सामने रखे संलग्न कागजों को देखन शुरू कर दिया।

कोर्ट बाबू अपने अपूर्ण भाषण पर लौट कर बोले, "संबंधित अधिकारी की रिपोर्ट से पता चलता है, इस अभियुक्त का एकमात्र माँ के अलावा और कोई अभिभावक नहीं है। माँ किसी बस्ती में एक मकान लेकर रहती है और संभवतः दासी अथवा इस प्रकार का कोई और काम कर उसे अपना और अपने बेटे का भरण-पोषण करना पड़ता है। बेटे को बस्ती-जीवन की कुसंगति से बचाने का उसके पास समय नहीं, सामर्थ्य नहीं। इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण हम देख रहे हैं। इसलिए माँ को खोज कर अभियुक्त का वहाँ लौट जाना भी उसके हित में ठीक नहीं। साथ ही समाज के लिए भी वांछनीय नहीं है। बंगाल चिल्ड्रन ऐक्ट का प्रयोग करने के लिए इस प्रकार का मामला एकदम उपयुक्त है।"

मजिस्ट्रेट ने अपने अनुभवी कोर्ट ऑफीसर से सहमत न होने का कोई कारण नहीं समझा। उसी दिन 'निर्णय' सुना दिया और उसमें विशेष रूप से उल्लेख किया —'देखने में चोरी सामान्य होने पर भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कालांतर में बड़े अपराध की संभावना निहित है। इसे दृष्टिगत रखते हुए अभियुक्त के कल्याण और समाज के हित को विचारगत रख उसे सोलह वर्ष की आयु पूरी न होने तक इंडस्ट्रियल स्कूल में रखने का आदेश दिया जाता है।'

डॉक्टर की साची के अनुसार अभियुक्त की आयु तब दस वर्ष थी। उसे जब समझाया गया, "जेल नहीं, छह वर्ष तक उसे किसी स्कूल में रख पढ़ाई-लिखाई और कामकाज सिखाया जायगा, तब दिलीप कुछ देर तक फटी-फटी आँखों से देखते रहने के बाद बोला, मैं उस स्कूल में नहीं पढ़ूँगा। हमारी बस्ती में स्कूल है। वहाँ मास्टर साहब बहुत अच्छा पढ़ाते हैं। मुझे खूब प्यार करते हैं।"

जो लोग कोर्ट में उपस्थित थे, सभी की आँखों और चेहरों पर हँसी की झलक फैल गयी। हाकिम ने गंभीर भाव से पेशकार को दूसरा मामला पेश करने का निर्देश दिया।

एक कांस्टेबल ने आकर जब उसे डेक से उतर आने का इशारा किया, मुन्ना की असहाय, भयातुर दृष्टि नाना मुखों पर होती हुई हाकिम पर पहुँच गई। और जो आवेदन वह जन-जन के आगे करता रहा था, किंतु उत्तर नहीं पाता था, उसकी पुनः एक बार पुनरोक्ति उसके करुण कंठ से सुनी गयी—"मैं माँ के पास जाऊँगा।"

महिला मजिस्ट्रेट तब दूसरी फाइल में व्यस्त हो चुकी थीं। बात कान में जाने पर भी शायद ध्यान देने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।

● ● ●

पाँच

वस्ट्राल स्कूल। कुछ दिन पहले तक यही फर्स्ट क्लास जिला जेल थी। चारों ओर चौदह फुट ऊँची दीवार से घिरा है। बीच में लोहे की मोटी-मोटी छड़ें लगा कर बैरकें बनायी गयी हैं। उनकी बगल में हैं: सेल, वर्कशाप, किचेन और गोदामों की लंबी कतारें। यह चार-पाँच सौ विभिन्न अवधि वाले कैदियों को रखने का स्थान है। सिर्फ 'क्रिमिनल प्रिजनर', चोर, डाकू, खूनी, जालसाज ही नहीं, बाकी बैरकों में बीच-बीच में 'स्वदेशी' बंदियों को भी रखा जाता था। एक बार कुछ दिनों के लिए इस जेल में सुभाषचंद्र बोस को भी आना पड़ा था। दूसरी मंजिल पर पश्चिमी छोर की एक छोटी-सी कोठरी उनके अनेक सपनों की साची है। कोठरी के आगे छोटी खुली छत है। वह सुबह-शाम उस पर चहलकदमी करते थे। कभी-कभी स्तब्ध होकर देखते रहते थे नदी को और उसके पार के घने वृक्षों के कुंज को। जेल के आगे थोड़ी खुली जगह थी, उसके आगे थी गंगा। वहाँ से होकर जो लोग गुजरते, ठिठक कर वहीं से उस सौम्य मूर्ति को देखने लग जाते। प्रशस्त ललाट पर अस्तमान सूर्य की [illegible] पड़तीं। लोग अवाक् होकर सोचते, यह किस ज्योतिर्मय पुरुष का [illegible] हुआ है।

गेट के अन्दर घुसते ही मैदान है। उसके पूर्व में [illegible]

धीरे-धीरे हाथ सघ जाने पर रुपये-पैसे, गहना-ग्राभूपरण तक चुराने लगेंगे। भले घर मे
जन्म होने पर भी जिस वर्तमान स्तर पर उतर आया है, वहीं से अभी से इसे कठो
निगरानी में रखे जाने की जरूरत है। अगर ऐसा न हुआ, तो यह दिलीप भट्टाचा
और भी अनेक दिलीपों को संक्रामित कर देगा। रोग का यह वीज क्रमशः समाज वे
उच्च-स्तर पर भी पहुँच जायगा। इसलिए...."

वक्तृता के बीच में ही मुन्ना हाकिम की ओर मुँह कर बोल उठा, "मैंने चो
नहीं की। मुझे मेरी माँ के पास पहुँचा दो। अब कभी वाहर नहीं जाऊँगा।"

बोलते-बोलते उसकी आँखों से आँसू चू पड़े! जल्दी से उन्हें धोती के पल्ले
पोंछ फिर कुछ कहने जा रहा था, उसी समय हाकिम कोर्ट वावू की ओर उन्मुख
बोले, "इसकी माँ की कोई खोज की गयी?"

"कोशिश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी, युग्रर ऑनर! किंतु पता
वता पाने के कारण कलकत्ता शहर में, एक महिला को खोज पाना संभव नहीं है।"

"किस वस्ती में रहता है, यह भी नहीं वता पाता?"

"किधर रहता है, यह भी ठीक से नहीं दिखा पाया। ओ० सी० के बहुत पू
ताछ करने पर भी अता-पता नहीं वता पाया। इसकी रिपोर्ट में भी यही लिखा है
युग्रर ऑनर मे हैव ए लुक।"

मजिस्ट्रेट ने और कोई प्रश्न नहीं किया, सामने रखे संलग्न कागजों को देख
शुरू कर दिया।

कोर्ट वावू अपने अपूर्ण भाषण पर लौट कर वोले, "संवंधित अधिकारी
रिपोर्ट से पता चलता है, इस अभियुक्त का एकमात्र माँ के अलावा और कोई अभि
भावक नहीं है। माँ किसी वस्ती में एक मकान लेकर रहती है और संभवतः दार
अथवा इस प्रकार का कोई और काम कर उसे अपना और अपने वेटे का भरण-पोप
करना पड़ता है। वेटे को वस्ती-जीवन की कुसंगति से वचाने का उसके पास सम
नहीं, सामर्थ्य नहीं। इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण हम देख रहे हैं। इसलिए माँ को खो
कर अभियुक्त का वहाँ लौट जाना भी उसके हित में ठीक नहीं। साथ ही समाज
लिए भी वांछनीय नहीं है। वंगाल चिल्ड्रन ऐक्ट का प्रयोग करने के लिए इस प्रका
का मामला एकदम उपयुक्त है।"

मजिस्ट्रेट ने अपने अनुभवी कोर्ट ऑफीसर से सहमत न होने का कोई कार
नहीं समझा। उसी दिन 'निर्णय' सुना दिया और उसमें विशेप रूप से उल्लेख कि
—'देखने में चोरी सामान्य होने पर भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कालांत
में वड़े अपराध की संभावना निहित है। इसे दृष्टिगत रखते हुए अभियुक्त के कल्या
और समाज के हित को विचारगत रख उसे सोलह वर्प की आयु पूरी न होने त
इंडस्ट्रियल स्कूल में रखने का आदेश दिया जाता है।'

डॉक्टर की साक्षी के अनुसार अभियुक्त की आयु तब दस वर्ष थी। उसे जब समझाया गया, "जेल नहीं, छह वर्ष तक उसे किसी स्कूल में रख पढ़ाई-लिखाई और कामकाज सिखाया जायगा, तब दिलीप कुछ देर तक फटी-फटी आँखों से देखते रहने के बाद बोला, मैं उस स्कूल में नहीं पढ़ूँगा। हमारी बस्ती में स्कूल है। वहाँ मास्टर साहब बहुत अच्छा पढ़ाते हैं। मुझे खूब प्यार करते हैं।"

जो लोग कोर्ट में उपस्थित थे, सभी की आँखों और चेहरों पर हँसी की झलक फैल गयी। हाकिम ने गंभीर भाव से पेशकार को दूसरा मामला पेश करने का निर्देश दिया।

एक कांस्टेबल ने आकर जब उसे डेक से उतर आने का इशारा किया, मुन्ना की असहाय, भयातुर दृष्टि नाना मुखों पर होती हुई हाकिम पर पहुँच गई। और जो आवेदन वह जन-जन के आगे करता रहा था, किंतु उत्तर नहीं पाता था, उसकी पुनः एक बार पुनरोक्ति उसके करुण कंठ से सुनी गयी—"मैं माँ के पास जाऊँगा।"

महिला मजिस्ट्रेट तब दूसरी फाइल में व्यस्त हो चुकी थीं। बात कान में जाने पर भी शायद ध्यान देने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।

• • •

पाँच

वस्ट्राल स्कूल। कुछ दिन पहले तक यही फर्स्ट क्लास जिला जेल थी। चारों ओर चौदह फुट ऊँची दीवार से घिरा है। बीच में लोहे की मोटी-मोटी छड़ें लगा कर बैरकें बनायी गयी हैं। उनकी बगल में हैं : सेल, वर्कशाप, किचेन और गोदामों की लंबी कतारें। यह चार-पाँच सौ विभिन्न अवधि वाले कैदियों को रखने का स्थान है। सिर्फ 'क्रिमिनल प्रिजनर', चोर, डाकू, खूनी, जालसाज ही नहीं, बाकी बैरकों में बीच-बीच में 'स्वदेशी' बंदियों को भी रखा जाता था। एक बार कुछ दिनों के लिए इस जेल में सुभाषचंद्र बोस को भी आना पड़ा था। दूसरी मंजिल पर पश्चिमी छोर की एक छोटी-सी कोठरी उनके अनेक सपनों की साक्षी है। कोठरी के आगे छोटी खुली छत है। वह सुबह-शाम उस पर चहलकदमी करते थे। कभी-कभी स्तब्ध होकर देखते रहते थे नदी को और उसके पार के घने वृक्षों के कुंज को। जेल के आगे थोड़ी खुली जगह थी, उसके आगे थी गंगा। वहाँ से होकर जो लोग गुजरते, ठिठक कर खड़े हो उस सौम्य मूर्ति को देखने लग जाते। प्रशस्त ललाट पर अस्तमान सूर्य की स्वर्णिम किरणें पड़तीं। लोग अवाक् होकर सोचते, यह किस ज्योतिर्मय पुरुष का जेल में आविर्भाव हुआ है।

गेट के अन्दर घुसते ही मैदान है। उसके पूर्व में इधर-उधर कितने ही बरगद

ओर अशोक के वृक्ष लगे हैं। मोटे-मोटे तनों के चारों ओर मिट्टी और ईंटें लगाकर सिपाहियों ने घेरा बना दिया है। उन्हीं में से किसी एक घेरे पर बैठ कर काजी नजरुल इस्लाम ने उद्दीप्त स्वर में अपनी स्वरचित विद्रोह गाथा सुनाई थी—

"कारार एई लौहकपाट, भेंगे फेलो कोरेरे लोपाट"

(कारागार के इस लोह द्वार को तोड़ कर सब मटियामेट कर डालो।)

शायद उन्होंने विद्रोह की सजा भी पाई थी। यह बात सच है या किंवदंती, पता नहीं। अगर सच है तो कहाँ किस पेड़ की वेदी-मूल पर यह गंभीर मधुर बलिष्ठ स्वर उस दिन ध्वनित हुआ था, आज उसे जानने का कोई उपाय नहीं। कवि केवल स्तब्ध ही नहीं, आच्छन्न-मानस भी होता है।

वही जिला जेल अचानक एक दिन जेल रूप त्याग कर बन गयी स्कूल—बस्ट्राल स्कूल। बाहर से रूप वैसा ही रह गया। वही काली दीवारें, बैरकें, सेल, वही आउटर और इनर गेट। परिवर्तन इतना ही हुआ कि गेट बन्द न रह कर उनके पल्ले सूर्योदय से सूर्यास्त तक खुले रहने लगे और गेट पर विशाल बोर्ड लगा दिया गया—'बी मैन' (इंसान बनो)।

कहा जाता है कि बरनार्ड शॉ ने एक बार जेल अथवा ऐसे ही किसी प्रतिष्ठान के फाटक पर इसी प्रकार के साइनबोर्ड को देख अपनी स्वाभाविक तिर्यक भंगिमा में मंतव्य व्यक्त किया था—उपदेश शायद मुझ जैसे विजिटरों के लिए है। जो लोग अंदर रहते हैं, वे तो इसे देख नहीं पाते।

बस्ट्राल के व्यवस्थापकों ने इस प्रश्न की गुंजाइश नहीं रखी थी, उन्होंने एक साइनबोर्ड अन्दर भी मेन बैरक पर लगा दिया था। नवागत आवासी 'इनर गेट' पार करते ही देख सकता था—बी मैन। देख कर अवश्य अनुप्रेरित होगा, बशर्ते कि उसे अंग्रेजी आती हो!

दोनों गेट खोल कर और उस पर बोर्ड लगा कर कारा विभाग के व्यवस्थापकों ने स्पष्ट कर दिया है—यही जेल नहीं, स्कूल है। पर स्थानीय नागरिकों की इससे धारणा नहीं बदली। उनकी दृष्टि में अभी तक वही उद्धत दीवार सिर उठाए खड़ी है। इसीलिए उसे कोई स्कूल नहीं कहता। सब कहते हैं बोरोस्टाल जेल। इस गिटपिट भाषा का अर्थ समझने की उन्हें जरूरत नहीं। इंग्लैण्ड में कहीं किसी स्थान पर बस्ट्राल नाम का एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ कब, किसने, कितने मामूली अपराधियों को जोड़-बटोर कर नये ढंग का कैदखाना शुरू किया था; किस आदर्श से और किस उपाय से उन्हें इंसान बनाया था, ये सब लेकर किसी को सिरदर्द नहीं था। बस, वे तो इतना ही जानते हैं कि पहले यह बड़े कैदियों की जेल थी, अब छोटे कैदियों की है।

असली परिवर्तन यही था। करीब पाँच सौ बालिग कैदियों को अन्यत्र भेज कर इतने बड़े भवन में जिन्हें स्थान दिया गया, उनकी संख्या अस्सी-बयासी थी और उम्र

अधिक-से-अधिक इक्कीस थी। उनमें भी दो श्रेणियाँ थीं—इंडस्ट्रियल वॉयज, जिसमें से सोलह वर्ष के होते ही लड़के निकल जाते; दूसरी 'वस्ट्राल वॉयज', जिसमें सोलह वर्ष के न होने तक प्रवेश न मिलता। कानून की भाषा में और सरकारी परिचय से ये भी 'कनविक्ट' अर्थात् कैदी थे। किसी विशिष्ट अथवा सुनिर्दिष्ट फौजदारी कानून की किसी धारा में जिसे उपयुक्त कोर्ट दंड देता है, सिर्फ वही इस स्कूल का 'छात्र' वनने योग्य है। इसके अलावा और किसी को यह अधिकार नहीं।

वहुतों की धारणा है, यह दुष्ट और विगड़े लड़कों को सजा देने की जगह है। उनके पास से प्रायः प्रतिदिन नाना प्रकार के आवेदन आते। विपन्न-धनी अभिभावक अपने विगड़े लड़के या निकट सम्वन्धी को कड़े शासन में रख कर सीधा कर देने का अनुरोध लेकर अध्यक्ष के द्वार पर पहुँचते। कोई पत्र लिख कर प्रॉस्पेक्टस मँगाता, कितने वर्ष का कोर्स है, क्या-क्या सिखाया जाता है, इन्हीं सव तथ्यों को जानने के लिए। कोई-कोई अल्पवयसी विगड़े लड़के का गरीव वाप यह भी जानना चाहता कि यहाँ प्रवेश पाने के लिए कितनी शिक्षा की आवश्यकता है और यहाँ से निकल कर नौकरी-चौकरी सुलभ होगी या नहीं।

इस प्रकार की पूछताछ का अलग-अलग जवाव कैसे दिया जाय? इसलिए यहाँ के ही प्रेस से एक साधारण उत्तर छपवा कर अध्यक्ष के दफ्तर में रख लिया गया है—"इसके द्वारा आपको सूचित किया जाता है कि उपयुक्त कोर्ट के वारंट विना इस विद्यालय में किसी वालक को भरती नहीं किया जाता।" अर्थात् लड़के को पहले पुलिस में सौंपो, और जव तक पुलिस केस में पड़ने लायक विद्या उसके पास नहीं हो पाती, तव तक प्रतीक्षा करो।

किसी-किसी अभिभावक ने ऐसी राय ग्रहण की थी, इसके भी उदाहरण हैं। घर से वर्तन चोरी किये हैं, कह कर वाप ने वेटे के नाम पर थाने में रिपोर्ट लिखवा दी। वहाँ से अदालत गये हैं। पुकार लगने पर कटघरे में खड़े हो हलफ लेकर गवाही दी है, तदवीर की है कि जिससे उनके लड़के को सजा हो। पहले तो इतना झमेला करके लड़के को वस्ट्राल स्कूल में भरती कराया फिर फल और मिठाई का झोला हाथ में ले पहुँचते हैं उससे मुलाकात करने।

दिलीप कलकत्ता की छोकरा जेल से वस्ट्राल भेजा गया। जीवन में वही पहली वार रेलगाड़ी में चढ़ने का अवसर मिला था। इससे पहले रेल की सीटी सुनी थी, आवाज भी सुनी थी और इस आश्चर्यजनक दैत्य के नाना कीर्ति-कलापों की रोमांचकारी कहानी भी हारू तथा दूसरे साथियों से सुनने को मिली थी। मन में प्रवल आकांक्षा थी, एक दिन वह रेल पर चढ़ेगा। पर माँ से ऐसी आकांक्षा प्रकट करने का साहस उसे नहीं हुआ था। माँ घर का खर्च किस तरह चलाती है, यह जानते हुए ही नहीं वोला था। वही गुप्त आकांक्षा इस प्रकार पूरी होगी, उसने स्वप्न में भी नहीं

सोचा था कभी।

दो पुलिस जवान उसकी कमर में डोरी बाँध, उसका एक सिरा पकड़े, उसे लेकर थर्ड क्लास कंपार्टमेंट की भीड़ में चढ़े। लेकिन रेलगाड़ी और उसको घेरे जगत के प्रति मुन्ना के कल्पना-रंजित मन में उस समय कोई विस्मय अथवा आनंद पैदा नहीं हो सका। भले ही इस चीज के साथ उसकी आजन्म पालित साध और स्वप्न जुड़े थे।

चारों ओर एक बार नजर डालते ही दिलीप समझ गया, इस समय वही इतने सारे लोगों की दृष्टि का केन्द्र-बिंदु है। उस दृष्टि में केवल घृणा और कौतुक है। बगल से कोई एक यात्री बोल उठा, "देखो तो, कितने छोटे-से लड़के ने चोरी की थी। जेल में ले जाया जा रहा है शायद।" किसी दूसरे ने कहा, "जेल न ले जाकर चाबुक मार कर ही हड्डी-पसली तोड़ डालनी चाहिए थी।"

दिलीप का सिर झुक गया। वह चोर है, यही तो उसका एकमात्र परिचय है, कमर की इस डोरी ने और दो पुलिस जवानों ने वही बात सबके सामने स्पष्ट कर दी है।

काफी देर खड़े रहने के बाद एक सज्जन थोड़ा खिसक कर पुलिस जवान को लक्ष्य कर बोले, "खड़ा क्यों रख छोड़ा है लड़के को? बैठने दो ना?"

दोनों कांस्टेबल पहले ही बैठ चुके थे। एक कांस्टेबल ने उसकी ओर घूर कर डाँटा, "देखता क्या है, बैठ जा।"

जैसे इतनी देर न बैठना भी उसका अपराध हो गया।

भलामानस थोड़े श्लेष के स्वर में बोला; "यह तो एकदम बच्चा है, उसके पीछे दो कांस्टेबल, उस पर भी ऊपर से जहाज जैसी डोरी बाँध रखी है कमर में। इससे अच्छा तो लोहे के संदूक में पैक करके ले जाते।"

आसपास के एक-दो यात्री हँस पड़े। एक कांस्टेबल पेशे-सुलभ गरमी के स्वर में बोला, "भाग जाने पर कौन जिम्मेदार होगा? तुम लोग?"

"कहते क्या हो! चलती गाड़ी से भाग जायगा? तुम लोग किसलिए हो?"

अनावश्यक समझ कर पुलिस जवान ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया।

नवागंतुक लड़कों को आने के दूसरे दिन ही अध्यक्ष अर्थात् सुपर साहब के सामने पेश किया जाता है। दिलीप शाम हो चुकने के बाद आया था। अगले दिन सुबह लप्सी खा चुकने के बाद उसे दोनों गेट के बीच ला बिठाया गया। एक तरफ सुपर साहब का ऑफिस था, दूसरी तरफ अन्य सब बाबुओं का। करीब आठ बजे आसपास में हलचल हुई और साथ ही गेट के बाहर लटके घंटे पर किसी ने उस पर रखी लकड़ी की मुँगरी का एक आघात कर दिया। कुछ ही सेकेण्ड में मिलिटरी जैसी खाकी वर्दी पहने एक विपुलकाय व्यक्ति अपने आकार के विपरीत एक छोटी और पतली छड़ी बगल में दबाये आँधी के समान अंदर आया और 'लेफ्ट टर्न' की भंगिमा से बायीं ओर की

दीवार से सटी लंबे पैरवाली मेज की ओर बढ़ गया। वहाँ एक सिपाही खड़ा था। उसने बूट-से-बूट ठोक कर सलाम की और तत्परता से एक मोटी कलम आगे बढ़ा दी। वह कलम साधारण कलम से तीन गुनी बड़ी थी।

भलेमानस ने कलम जैसे झपट कर पकड़ ली और मेज पर रखे मोटे रजिस्टर के पन्ने पर न जाने क्या थोड़ा लिख कर आँधी के ही समान तेजी से ऑफिस में घुस गया। गेट पार करने पर सबको ही इस गेट-बुक पर हस्ताचर करने होते हैं।

दिलीप के पास एक और लड़का बैठा था, जो उससे काफी बड़ा था और पिछले कई वर्ष से वस्ट्राल में था। उसने कान के पास मुँह लाकर दिलीप से फुसफुसा कर कहा, 'बड़े साहब' और न जाने फिर क्या सोच कर ही-ही कर हँस पड़ा। दिलीप की आँखों में तब भी क्षण भर पहले देखी वही विशाल मूर्ति डोल रही थी, जिसके मुँह को एक बार देखते ही उसने आतंकित हो आँखें झुका ली थीं।

मनुष्य की आकृति और उसकी प्रकृति में समता होती है, यह कोई निश्चित कसौटी नहीं। अनेक मामलों में नहीं रहती। कारण, आकृति पर मनुष्य का कोई वस नहीं होता, दूसरी पर काफी हद तक उसका नियंत्रण होता है। फिर भी इन दोनों के बीच घनिष्ठ साम्य खोज निकालना ही साधारण व्यक्ति का स्वभाव है। किसी को बाहर से देखते ही उसके अंतर के संबंध में हम मन-ही-मन धारणा बना डालते हैं। वह यदि शिशु-मन हो, तो यह धारणा जिस सरलता से जन्मेगी, वैसी ही गहराई से उसके दिल पर स्थायी हो जायगी।

रोगियों के बारे में भी यही बात है। डॉक्टर का चेहरा उसकी औषधि से अधिक प्रभाव करता है। अच्छी प्रसिद्धि बनाने के लिए जिन सब गुणों की आवश्यकता है—विद्या, दक्षता, अनुभव इत्यादि उनमें एक प्रधान गुण है आकर्षक मुखश्री। कुरूपा नर्स कितनी ही करुणामयी क्यों न हो, रोगी का मन नहीं जीत पाती। जीत भी सके तो समय लगेगा। फ्लोरेंस नाइटेंगेल जब घोर रात में वार्डों की परिक्रमा को निकलती थी, मोमबत्ती की मृदु रश्मि से आलोकित उसकी उसी आनत देह और शांत-मधुर मुख की ओर देखते ही रोगी अपनी आधी पीड़ा भूल जाते थे। उनकी अर्द्ध-सुप्त चेतना में विचरण करती—एक निःशब्दचारिणी 'लेडी विद दि लैंप", नारी तन में मिनिस्ट-रिंग एंजेल।

दिलीप प्रथम दृष्टि में ही वस्ट्राल के प्रति विरक्त हो उठा था और बहुत दिन तक मन नहीं लगा सका तो इसके मूल में काफी हद तक उसके अध्यक्ष की आकृति थी, जिसके साथ उनकी प्रकृति की समानता बहुत सामान्य थी। यह अनुभव अकेले दिलीप का ही नहीं, उसके समान अन्य अनेक का भी था। बालकों और किशोरों को इंसान बनाने की प्राथमिक आवश्यकता—जहाँ वे रहते हैं और बड़े होते हैं, उस गृह और परिवेश के साथ उनका हार्दिक मेल होना है। इंसान बनाने का गुरुभार जिन [illegible]

के हाथ में है उनके सभी प्रयास उस समय व्यर्थ रहेंगे, जब वे शुरू से ही बच्चों के प्रिय न बन सकें। किंतु प्रियदर्शन न होने पर प्रिय होना बहुत कठिन है, विशेषकर बच्चों के पास।

दिलीप के पास जो लड़का बैठा था। उसकी आयु सोलह-सत्रह वर्ष थी किंतु देखने में छोटा लगता। कुछ देर बाद उसकी पुकार हुई। रुआँसा चेहरा बना कर वह बड़े साहब की मेज के सामने जा खड़ा हुआ। पिछले दिन दोपहर के समय एक देगची भात अधिक गल जाने से तली में लग गया था। जली हुई बास के कारण अनेक लड़कों ने भरपेट नहीं खाया था और डिप्टी सुपरवाइजर को रिपोर्ट कर दी थी। इसके लिए यह लड़का जिम्मेदार था। उस दिन 'ग्रीन हाउस' की खाना बनाने की बारी थी। यह लड़का उनका सरदार अर्थात् 'स्टार बॉय' था। कुछ दिन हुए कामकाज और स्वभाव-चरित्र से प्रसन्न हो साहब ने उसे 'स्टार' बना दिया था। साधारण लड़कों से उसका पद बढ़ गया था और उसके साथ ही कई सुविधाएँ व सुयोग भी। जहाँ एक साधारण लड़के की दैनिक सीमा आधी छटाँक मछली अथवा मांस था, वहाँ 'स्टार' का प्राप्य ढाई छटाक मछली-मांस या दो अंडे था। उसके साथ ही महीने में एक रुपया वेतन जिससे वह पूजा-पर्व के अवसर पर मिठाई खरीद सकता था। सबसे बड़ी सुविधा यह कि उसके इधर-उधर घूमते फिरने पर और लड़कों की भाँति कोई बंधन नहीं था। आवश्यकता पड़ने पर वह अहाते की दीवार के बाहर भी जा सकता था। इस अतिरिक्त पावने के बदले उस पर थोड़ी अधिक जिम्मेदारी भी लादी गयी। वह ग्रीन हाउस का कैप्टेन था और वहाँ के लड़कों को जब किसी काम में दलबद्ध ढंग से लगाना हो, वह काम ठीक से हुआ या नहीं, यह सब देखने का भार भी उसी पर था। कहीं कोई त्रुटि होने पर सजा पाने का भी पात्र वही होता। दो-दो सप्ताह बाद एक-एक 'हाउस' पर रसोईघर की जिम्मेदारी आती।

'हाउस' विभाग उम्र के हिसाब से हैं। वस्ट्राल स्कूल में जो सबसे छोटे हैं उन्हें रखा जाता ग्रीन हाउस में। जब इन छोटे बच्चों पर खाना बनाने, परोसने आदि का काम पड़ता है, तब स्कूल प्रबंधकों की दुश्चिंता बढ़ जाती है। उसके साथ काफी अधिक झमेला भी सहना पड़ता है। किंतु उन्हें इससे छुटकारा देने की क्षमता उनके हाथ में नहीं। कानून का शासन है। उसकी आंतरिक भावना शायद यही है कि बाँस को इच्छानुसार आकार देने के लिए कच्चेपन से ही सम्हालना होता है। एक बार पक जाने पर उसे आसानी से नहीं मोड़ा जा सकता।

छोटे बच्चों से सख्त काम कराने जा कर त्रुटि-बिगाड़ होता ही है। उसके लिए सुपरसाहब तैयार थे। लड़के से एक बार पूछा, "भात उतारने में देरी क्यों की? बाघ-बंदी खेल चल रहा था, ना, ?"

"नहीं, सर! सिपाही बाबू से पूछ लीजिए।"

सिपाही पास ही खड़ा था। कैफियत के स्वर में वोल उठा, "छोटे-छोटे वच्चे....।"

"चुप रहो," सुपरसाहव गरज उठे, "हाँड़ी में दोनों ओर वाँस किसलिए वँधा रहता है। चार नहीं उतार पाये तो दो और क्यों नहीं लगाये?"

'सिपाहीवावू' की अंतरात्मा काँप उठी। फिर मुंह खोलने का साहस नहीं किया। सुपरसाहव अपने मन में वड़वड़ाने लगे, "रोज यही एक वात—छोटे लड़के, छोटे लड़के। जैसे मैं इन्हें शौक से पकड़ लाया हूँ। सव मेरे अपने तालुके की प्रजा हैं जैसे।"

कलमदान से एक मोटी कलम उठा कर, सामने रखी एक मोटी सजिल्द कापी—लड़के का हिस्टरी टिकट—पर कलम को जोर से चलाते हुए वोले, "डिग्रेडेड फॉर वन मंथ।" चीफ ऑफीसर पास में खड़े थे। आसामी की ओर देख घोषणा के स्वर में वोले, "एक मास के लिए डिग्रेडेड किया गया। सलाम कर।"....कह कर पास जा, उसके कंधे पर लगा स्टार मार्क पीतल का वैज खोल कर, सैनिक ढंग से सेल्यूट कर लड़के को ले वाहर निकल गये। सिपाही ने भी उनका अनुसरण किया। निरापद दूरी पर पहुँच चीफ ऑफीसर ने सिपाही को डाँटा, "तुम्हें वीच में दलाली करने को किसने कहा था? वेकार में ही लड़के की सजा वढ़वा दी।"

सिपाही सिर नीचा किये खड़ा रहा। अपराध अस्वीकार नहीं कर पाया। क्या वे नहीं जानते, इन छोटे-छोटे वच्चों के संवंध में, कहीं किसी पर सुपरसाहव को एक गुप्त आक्रोश था। इनकी भलाई-वुराई का भार उनके हाथ में था। किन्तु इस वारे में वह कितने असहाय और अक्षम है, उन्हें यही वार-वार दिखाई दे जाता। उनके अधीनस्थ कर्मचारी ही जैसे आँख में उँगली डाल कर उन्हें दिखा देते। उसी क्षोभ की आँच लड़कों को लगती। अनजाने में ही ज्यादा कठोर हो उठते। इस दुर्वल स्थान पर आघात न लगता तो शायद सिर्फ चेतावनी दे कर छोड़ देते।

लड़का गेट के पास एक कोने में खड़ा सिसक-सिसक कर रो रहा था। चीफ ऑफीसर पीठ पर हाथ फेर कर सांत्वना देने की चेष्टा करने लगे, "रो क्यों रहा है? सिर्फ एक ही महीने की तो वात है। देखते-देखते कट जायगा। अच्छा, डिग्रेड हो जाने पर भी तेरा खाना उतना ही रहे, यह प्रवंध मैं कर दूँगा।'

फिर आश्वासन के ढंग से चुपचाप उसके कान के पास मुंह ले जाकर कुछ समझाया चीफ ऑफीसर ने। लड़के ने इस वार जोर से सिर हिला कर प्रतिवाद जताया। वह तुच्छ दो अंडे या दो टुकड़े गोश्त की परवाह नहीं करता। उसकी क्षोभ और वेदना कहीं अधिक है, कहीं ज्यादा गम्भीर है। प्रौढ़ चीफ ऑफीसर यह कैसे समझते। यह उम्र तो वह वहुत पीछे छोड़ आये थे। किशोर सव आघात सह सकते हैं, सिर्फ एक नहीं सह सकते—जो आघात उनके मान और मर्यादा पर होता है। इन दो के

प्रति वे अधिक भावुक होते हैं। जिन पर वह इतने दिन तक नेतृत्व करता रहा था, आज कौन-सा मुंह ले कर उनके पास जा कर खड़ा हो। वे मुंह से तो कुछ नहीं कहेंगे, फिर भी उनकी आँखों की ओर कैसे ताकेगा! इसके अलावा भी एक बात और थी। किशोर के मन में अति उग्र अभिमान होता है। चीफ ऑफीसर ने जब सजा की घोषणा की थी, तब उसकी तीव्रता लड़का ठीक से समझ नहीं पाया। किंतु उसके बाद ही जब दो उद्यत हाथ उसके सीने से बैज उतारने के लिए आगे बढ़े, तब उसके दिमाग में गुस्सा सुलग उठा। उसकी इच्छा थी पीतल के इस टुकड़े को वह खुद ही उतार फेंके। अगले ही क्षण दिल दुर्जय अभिमान से भर गया। सुपरसाहब के मुख की ओर देख उसका क्षुब्ध मन अनुच्चरित स्वर में बार-बार कहने लगा—"एक दिन जो गौरव आपने स्वयं ही दिया था, आज अपने हाथ से ही छीन लिया, साहब! ठीक है।"

कृतित्व के लिए जो पद व सम्मान प्राप्त हुआ, उससे अपराध करने पर नीचे उतर जाना पड़ता है, इसमें वेदना चाहे जितनी हो, क्षोभ का कारण नहीं होता। व्यक्ति को क्षोभ तब होता है, जब क्षमता के दंभवश उसे सम्मान के पद से प्रतिशोध या प्रतिहिंसा के कारण हटा दिया जाता है। जो पद तुम्हें दिया गया था, उससे तुम्हें विच्युत किया जाता है—इतना आदेश ही क्या यथेष्ट नहीं है। पिछली पदोन्नति के उस विशेष चिह्न को सबके सामने छीन कर उसे अपदस्थ करने की क्या आवश्यकता है? जो सम्मान खो चुकता है, उसे खुद ही वह चिह्न धारण करने में लज्जा होगी। वह खुद ही उसे वापस अपने हाथ से लौटा देने को व्यस्त हो उठेगा। वह मौका उसे नहीं दिया गया। यदि दिया गया होता, तो वह यहीं तक सम्मान खोता, किन्तु असम्मानित न होता। इन दोनों में बहुत अन्तर है, विशेषकर बच्चों के लिए। वे स्वभाव से नासमझ होते हैं, न्याय-विचार के न्यायत्व को समझना नहीं सीखे होते।

दो और लड़कों के नाम रिपोर्ट थी। एक लड़का बुकबाईंडिंग सेक्शन में काम करता था। बाईंडिंग का कागज चुरा कर पतंग बनायी थी। सबूत में पतंग भी पेश की गयी थी। साहब ने एक हाथ में उसे ले कर देख कर कहा, "कागज, सूत और लेई, तीनों चीजें वहीं से ली हैं, लेकिन बांस की तीलियां कहाँ से आयीं?"

उत्तर की अपेक्षा में डिप्टी सुपरवाइजर की ओर देखा। उन्होंने देखा चीफ ऑफीसर की तरफ। चीफ ऑफीसर ने आसामी से ही प्रश्न किया, "तीलियाँ कहाँ से मिलीं?" लड़के ने उत्तर न दे कर अपने 'मास्टर' अर्थात् बाईंडिंग इंस्ट्रक्टर के चेहरे की ओर देखा और हँस पड़ा। सभी समझ गये, इसमें कुछ रहस्य है। साहब ने डाँटा, "बोलो, कहाँ मिलीं?"

"उन्होंने दी थीं, सर!" मास्टर की ओर इशारा कर निर्विकार भाव से आसामी ने उत्तर दिया।

इंस्ट्रक्टर भोलानाथ बाबू तुरन्त फट पड़े, "मैंने! मैंने दीं तुझे?"

साहब के हाथ उठा कर चुप रहने का निर्देश देते ही स्थान-काल भूल कर और भी जोर से चीख उठे, "झूठ बोल रहा है, सर! एक नम्बर का बदमाश छोकरा है। उसी दिन तो इसने गोदाम से गुड़ चुराया था।"

"सो तो कर सकता है," सहज शांत भाव से सुपरसाहब बोले, "गुड़ का गोदाम तो मिल सकता है पर बाँस की खपच्ची तो वस्ट्रल स्कूल में होती नहीं है।"

हठात् स्वर बदल कर लड़के को डाँटा, "कान पकड़।" वह जैसे इसके लिए तैयार था, उसने तुरन्त दोनों कान पकड़ लिये। साहब बोले, "पच्चीस बार उठ-बैठ।"

इस पर भी उसमें तनिक-सी दुविधा या संकोच अथवा झिझक दिखायी नहीं दी। जरा-सी भी देर किये बिना उठक-बैठक शुरू कर दी। चीफ ऑफीसर जोर-जोर से गिनते रहे—एक, दो, तीन, चार....।

लड़के को वापस वाइंडिंग सेक्शन में भेज मास्टर की ओर घूम कर साहब कृत्रिम गंभीरता से बोले, "उसे डाँट कर अच्छा नहीं किया, भोलानाथ! चुप रह जाना ही उचित था।"

"जी, सर....।"

"ठहरो, एक झूठ को छिपाने जा कर बहुत से झूठ बोलने पड़ते हैं। यह पुरानी बात है। यह काम उसने आज कोई नया नहीं किया, पहले भी कर चुका है। तुम्हारे लड़के जो पतंग उड़ाते हैं, वह किसी भी बाजार में नहीं मिलती। मिलने पर भी तुम खरीद कर नहीं दे सकते, यह मैं जानता हूँ। नेक्स्ट....।"

अंतिम निर्देश का लक्ष्य-स्थल डिप्टी सुपर थे। उन्होंने तत्क्षण तीन नंबर केस पेश कर दिया। इस बार के आसामी का नाम था केशव सिकदार—इंडस्ट्रियल बॉय। काला, तोंदियल, बैंगन जैसा गोल-मटोल। यहाँ तीन वर्ष से था। जब आया था, तो खपच्ची था। तब से लंबाई में आधा इंच भी नहीं बढ़ा, उससे चौड़ाई में दसगुना बढ़ गया। वह चल कर नहीं, बल्कि लुढ़कता-सा साहब की मेज के सामने आ कर खड़ा हुआ। मुंह पर हँसी थी।

"इसने फिर क्या किया?" साहब ने विस्मय प्रकट किया।

कताई विभाग के इंचार्ज मधुसूदनबाबू ने आगे बढ़ कर अभियोग पेश किया, "जी सर, इसने काम पूरा नहीं किया।"

"ऐसा क्यों? सुना है यह तो बहुत अच्छा सूटर बुनता है।"

डिप्टी सुपर ने बताया, सूत की कमी के कारण इस समय सूटर की बुनाई बंद रखनी पड़ी है और वहाँ के लड़के 'सूत कमान' में भेजे गये हैं।

साहब ने पूछा, "क्यों रे, सूत अच्छा नहीं लगता?"

केशव ने सिर हिला कर जताया, लगता है।

"तो फिर काम क्यों नहीं किया ?"

"फुटवाल खेल कर पैर में दर्द हो रहा था, सर !"

सभी के मुंह पर दबी हँसी खेल गयी। सुपर बोले, "इससे क्या हुआ ? करघा तो हाथ से चलाते हैं। पाँव का काम ही क्या है ?"

"खड़े होने में तकलीफ होती है, सर !"

साहव ने वात समझ में न आने पर मधुसूदनवावू के मुख पर जिज्ञासु दृष्टि डाली। वह मृदु हँसते हुए बोले, "वैठ कर हाथ नहीं पहुँचता। खड़े हुए विना माकू की डोरी नहीं पकड़ी जाती।"

इस वार साहव भी हँस पड़े। मेज के पास खड़े घोर कृष्ण-वर्ण सचल तकिए की ओर देख उसके हिस्टरी टिकट पर लिखते-लिखते बोले, "लीलीपुट से उसके लायक जब तक स्पेशल करघा न आ जाय, तव तक रंदा चलायगा। अव से लकड़ी छीलने का काम करेगा, समझा ?"

"वहाँ जाने पर मारेगा, सर !"

"कौन मारेगा ?"

"दिनेश।"

"क्यों ?"

केशव ने उत्तर न देकर डिप्टी सुपर की ओर देखा। उन्होंने आश्वासन दिया, "नहीं, नहीं, मारेगा नहीं। मैं उसे डाँट दूँगा। जा।"

केशव विशेष आश्वस्त प्रतीत नहीं हुआ। अप्रसन्न मुख खड़ा रहा। डिप्टीसुपर तव दिनेश-घटित मामले को स्पष्ट करने लगे थे। दिनेश वस्ट्राल का वॉय है, स्टार और फुटवाल का कैप्टन है। केशव को खेल में लेने पर उसे भीषण आपत्ति है और यही लेकर झगड़ा होता है। दिनेश ने कहा था कि फुटवाल समझ कर अगर खिलाड़ियों ने उसे ही ठोकरें लगानी शुरू कर दीं तो उन्हें रोक सकना संभव नहीं होगा। इस पर भी जब जिद करने लगा कि खेलेगा ही, तब दिनेश बोला था, "हमारी फुटवाल जिस दिन लीक-वीक हो जाय, उस दिन आना। तुझे ले कर ही खेला जायगा।" यह कहना बेकार है कि प्रस्ताव केशव को पसंद नहीं आया। यह वात लेकर जब सभी हँसी-मजाक कर रहे थे, अपमान हजम न कर पा सकने पर वहाँ से हट आया और आड़ से पत्थर फेंक कर प्रतिशोध लेने की चेष्टा की थी। दिनेश ने तुरंत कुछ नहीं किया। फिर भी धीर भाव से हिदायत दे रखी है, समय और अवसर के अनुसार उपयुक्त उत्तर देने में चूक नहीं होगी। ईंट मारने पर पत्थर खाना पड़ता है, यह सनातन नियम केशव को विदित है। इसीलिए तब से भागा-भागा फिरता है और अपनी सुरक्षा के संबंध में निश्चिन्त न रह सकने पर अंत में डिप्टीवावू से फरियाद की है।

उसने आशा की थी कि साहव उसकी विपद को समझेंगे और आसन्न विपद से

रक्षा करने की व्यवस्था करेंगे। लेकिन उनकी आँखों की ओर देख वह निराश हो गया। स्पष्ट न समझने पर भी संदेह हुआ, सबके समान वह भी इतने बड़े मामले को निहायत हलका करके देख रहे हैं। साहब सख्त आदमी थे। गलती करने पर, उनके पास किसी की खातिर नहीं चाहे वह स्टार हो या कैप्टन। किंतु दिनेश के विरुद्ध इतना गुरुतर अभियोग सुनकर भी उन्होंने कुछ नहीं किया। एक बार गुस्सा भी नहीं हो उठे। एक-एक कर सभी के मुख की ओर देख केशव के मन में बाल-मन का वही चिरंतन क्षोभ भर गया—सब बड़े एक जैसे हैं। छोटों पर कोई दया-माया नहीं।

और कोई रिपोर्ट न थी। अब नवागंतुकों की बारी आई। दिलीप को जब लाया गया, तब उसके दिल में एक प्रकार की हथौड़ी चल रही थी। डिप्टी बाबू ने उसका नाम, बाप का नाम और साथ में क्या-क्या कपड़े हैं, पूछा। सुपरसाहब की ओर दृष्टि जाते ही उसने देखा कि वह उसे ही तीक्ष्ण दृष्टि से लक्ष्य कर रहे थे। उसने तुरंत भयभीत हो आँखें झुका लीं। कुछ मिनट बाद उन्होंने प्रश्न किया, "पिता कब मरे ?"

"पता नहीं, तब मैं बहुत छोटा था।"

"माँ है ?"

दिलीप ने सिर को एक तरफ हिला कर बोलना चाहा, 'है', पर स्वर नहीं निकला। दोनों आँखें छलछला उठीं। साहब ने पूछा, "तुम्हारे और कौन-कौन है ?"

उसने सिर हिला कर बताया और कोई नहीं है। अब आँख का पानी रुक न सका। दो बड़ी-बड़ी बूँदें बह कर निकल पड़ीं। हाथ के उलटी तरफ से उसने जल्दी से आँखें पोंछ लीं। सुपर ने पूछा, "लिखना जानते हो ?"

"जानता हूँ।"

"बस, फिर क्या है ? माँ को खूब लंबी-सी एक चिट्ठी लिख देना।"

"मेरे पास कागज जो नहीं है।"

सबके चेहरों पर हल्की हँसी छा गयी। साहब ने बनावटी गंभीरता से कहा, "कागज नहीं है ? इसलिए इतना दुःख। अच्छा वह हम ही दे देंगे। घर का पता तो जानते हो ?····कहाँ रहती है तुम्हारी माँ ?"

"बस्ती में।"

"किस बस्ती में ? रास्ते का नाम क्या है ?"

"पता नहीं।"

सुपर साहब हाथ में तह किया वारंट खोल कर अपने मन में बोले—"लो और देखो। 'एड्रेस अननोन'। इसका मतलब यह कि वह भी बस्ट्राल ही खोजे। वे हैं सिर्फ 'डम्प' करने वाले।"

उसके बाद डिप्टीबाबू की ओर उन्मुख हो बोले, "खूब कड़ाई से [illegible]

जिस लड़के को तुमने एक माह से अधिक समय तक अटका कर रखा, उसका पता भी नहीं खोज सके ? फिर इतने दिन क्या करते रहे, हम जानना चाहते हैं। पत्र की एक कॉपी आई० जी० को भेज कर उन्हें सूचित कर दो, इसके बाद इस प्रकार के 'इन्कंप्लीट केस' हम वापिस कर देंगे।"

"यह बात हमने पहले भी कई बार लिखी है, सर ! आई० जी० ने कोई उत्तर नहीं दिया है।"

"हूँह, अच्छा ! देख लूंगा।" कह कर वह उत्तेजित भाव से उठ खड़े हुए। वहीं छोटी छड़ी उठा कर बगल में दबा, इस बार बहुत नरम स्वर में बोले, "इसके साथ ही कलकत्ता पुलिस को लिख दीजिए कि वह लोग कोई पता दे सकते हैं या नहीं। सब जिम्मेदारी जैसे हमारी ही है। इतना सब...."

अस्पष्ट अंग्रेजी में किसी के बारे में न जाने क्या बड़बड़ाते हुए, किसी ओर देखे बिना तेजी से बाहर चले गये—मिलिटरी के भूतपूर्व लेफ्टीनेंट और वर्तमान छोटी-सी छोकरा जेल के सुपरिंटेंडेंट जे० के० घोष।

सुबह की नींद उस समय भी दोनों आँखों में भरी थी। अचानक कमरे के एकदम बाहर से बाँसुरी की अद्भुत प्रकार की जोर से किंतु मीठी आवाज सुन दिलीप हड़बड़ा कर उठ बैठा। केशव का बिछौना पास में ही था। उसकी तरफ देख भयभीत हो पूछा, "यह क्या बज रहा है ?"

केशव भी उठ बैठा था। बुजुर्ग के समान बोला, "कभी शायद सुना नहीं है ? इसे कहते हैं 'बिगुल'। हमसे उठने के लिए कह रहा है—उठ जाओ।"

दिलीप ने देखा कि कमरे में जैसे डाका पड़ गया है। इतने सारे लड़कों ने, जो प्रायः उसी की उम्र के या थोड़ा छोटे-बड़े थे, भारी शोर मचाना शुरू कर दिया। उनकी पोशाक विचित्र थी। कोई लंगोट पहने था तो कोई हाफ-पैंट और कोई चादर को ही लुंगी की तरह कमर में बाँधे था। तीनेक छोटे बच्चों के तन पर कुछ भी नहीं था। एक ओर खड़ा एक सरदार लड़का (सरकारी पद—कैप्टन) जोर-जोर से नाना निर्देश दे रहा था। वह एक लड़के को डाँटने लगा, "ऐ पटोला, तुझे सौ बार कहा न, पैंट पहन कर सोया कर। बेशर्म कहीं का, नंगा होने में शर्म नहीं आती, तुझे ?"

पटोला ने नाक के स्वर में प्रतिवाद किया, "वाह रे, पैंट की क्रीज खराब नहीं हो जायगी क्या ?"

कैप्टन तब एक और के पीछे पड़ा था, "जाँघिया कहाँ से जुटाया, बच्चू ?"

वह लड़का सफेद रंग के घुटन्ने पर जल्दी-जल्दी पैंट चढ़ाते हुए बोला, "जाँघिया कहाँ है ? क्या गलत देखने लगे हो आजकल ?"

"अच्छा, आने दे डिप्टीबाबू को। ठीक देखता हूँ या गलत, तलाशी लेते ही

पता चल जायगा।"

"नहीं भाई, तेरे पैर पड़ूँ, उन्हें नहीं बताना।"

पास आ कर कंधे पर हाथ रखे जाते ही वह कैप्टन के हाथ से एक झटके से निकल गया। साथ ही उसका स्वर भी बदल गया। तर्जनी उठा कर बोला, "अच्छा, तो मैं भी बता दूँगी, तुम्हारी जेब में बीड़ी रहती है।"

"जा जा, जो कर सके, कर ले," कह कर कैप्टन ने प्रतिपक्षी की तर्जनी के बदले उसे अँगूठा दिखा दिया।

'घुटन्ने वाले' ने तब एक और अस्त्र का प्रयोग किया। दबे आदेश की भंगिमा में बोला, "दर्जी कमान में कभी जाना नहीं हो सकेगा। नहीं तो जा कर देख लो।"

कैप्टन इस बार सिर उठाते नहीं देखा गया। ढोल के समान पैंट और तकिये के खोल के जैसी कमीज को कटवा-छँटवा कर अपने लायक बनवाने के लिए और साथ ही बंडी या कम-से-कम रूमाल ही पाने के लिए बीच-बीच में प्रायः सभी को दर्जी कमान में धरना देने की जरूरत पड़ती थी। तब इसी लड़के या वहाँ काम करने वाले दूसरे लड़कों की खुशामद किये बिना कोई उपाय नहीं होता।

वस्ट्राल स्कूल की यूनिफॉर्म खाकी हाफ पैंट और हाफ शर्ट है। उसके नीचे पहनने के लिए बनियान के ढंग की छोटी कमीज मिलती है, वह भी खाकी। इस रंग पर यहाँ के लड़कों (शायद सभी लड़कों) को सहजात वितृष्णा है। बालक और किशोर मन विविधता चाहता है। सिर्फ खाने में ही नहीं, पोशाक में भी। इसके अलावा रंग-बिरंगी चीजों के प्रति उनका आकर्षण सदा रहता है। वर्ष के बाद वर्ष में उसी एक खाकी पोशाक के कर्कश आलिंगन से मुक्ति पाने के लिए उनका मन छटपटाता है। जेल के कैदियों के समान इन्हें चौबीसों घण्टे दीवार की सीमा में नहीं काटने पड़ते। खेल-कूद, वन-भोजन (पिकनिक), नव-वर्ष का रूटमार्च, पूजा देखने आदि उपलक्ष्य में ये बाहर घूम सकते हैं। वहाँ बहुत से लोगों की भीड़ में यह पोशाक ही इन्हें सबसे अलग रखती है। मंदिर अथवा रथ के मेले में इनके समवयसी लड़कों का दल जब रंग-बिरंगे कपड़े पहने तितलियों के समान घूमता फिरता है, तब वस्ट्राल के खाकी-मार्का लड़के उन्हें तृपित दृष्टि से निहारते हैं। पूछने पर पता चलेगा, उस दृष्टि में स्वतंत्र जीवन की जितनी आकांक्षा है, रंग की तृष्णा उससे कम नहीं है।

इस प्रतिष्ठान के लिए खाकी भूषा का चयन किसने किया था, उसका उल्लेख शायद सरकारी रेकॉर्ड में है। वह जो भी हो, जो भी मनोभाव लेकर इस रंग का चुनाव किया हो, उसने बालकों के मन की ओर जरा-सा भी ध्यान नहीं दिया था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने बालकों के प्रति स्नेह अथवा ममता-बोध का परिचय दिया। अपने शिशु अथवा किशोर पुत्र के पोशाक-चयन में शायद उसने खाकी रंग वर्जित ही रखा होगा। दो-चार मिलिटरी-भाव वाले परिवारों को छोड़ कर, इस देश

के साधारण गृहस्थ खाकी रंग को विशेष प्रीति की दृष्टि से नहीं देखते। इस रंग के प्रति पक्षपात के दृष्टांत और भी विरल हैं।

वस्ट्राल और इंडस्ट्रियल स्कूल के लड़के पुलिस या मिलिटरी में भेजे जाने के विचार से पाले जायँ, प्रबंधकों के मन में ऐसा कोई उद्देश्य रहा होगा, यह बात भी नहीं मानी जा सकती। जीविका के क्षेत्र में इनमें से किसी भी विभाग में उनको प्रवेश का अधिकार नहीं है। किसी सरकारी नौकरी के सब रास्ते उनके लिए हमेशा को बंद हो चुके हैं। अपराध कैसा भी हो और किसी भी उम्र में किया गया हो, दोनों ही यहाँ समान हैं। सिर्फ एक ही बात प्रासंगिक है—'दे वेअर कनविक्टेड इन ए कोर्ट ऑफ लॉ'—अदालत ने उन्हें दंडित किया है। इस प्रकार ये साधारण जेल के कैदियों के समगोत्री हैं।

उनके सामने अगर यह बाधा न भी रहती, तो भी इतने सारे लड़कों को जंगी-आदर्श में इंसान बनाने से क्या लाभ है? एक छोटे लड़के में अगर सचमुच समाज-विरोधी प्रवृत्ति दिखायी दे, तो उसे समाजोन्मुखी बनने का अवसर देना ही असली काम है। शैशव पार न करते ही जो घर से छुड़ाया गया है, उसे अगर एक दिन फिर गृह-जीवन की छाया में लौटा दिया जाय, जो संसार के पथ से फिसल गये हैं, उन्हें अगर उठा कर उसी पथ पर खड़ा कर दिया जाय और उसके हाथ में एक अच्छा अवलंबन थमा दिया जाय, तो भी ठीक है। इससे बड़ा और क्या काम हो सकता है? इन्हें राष्ट्र से, समाज से इतनी ही प्रत्याशा है। इसमें फिर खाकी का क्या काम?

यूनिफार्म का मुख्य उद्देश्य शायद पोशाक की एकरूपता रख कर एक सामूहिक मनोभाव बनाये रखना था। यह हुई आंतरिक संपर्क की बात। बाहर की दुनिया में यह पोशाक ही उनका परिचय बन कर रहती है। कौन से ढंग की अथवा किस प्रकार की पोशाक है, इसी पर काफी हद तक समूह का मूल्यांकन निर्भर होता है। इस पहलू से देखने पर वस्ट्राल की इस खाकी-मार्का बदरंगी भूल लोकदृष्टि में उसकी मर्यादा बढ़ाने में सहायक नहीं हुई, बल्कि इन लड़कों को जैसे सहानुभूति का पात्र बना कर रख दिया था। कहा जा सकता है, अ-स्थान और अ-पात्र के हाथों में पड़ कर खाकी कपड़े ने अपना महत्व खो दिया। इसके अलावा बच्चों की पोशाक के रूप में वह न केवल असुन्दर और अनुज्ज्वल है, काफी हद तक उनके अनाथ और असहाय होने का प्रतीक भी है।

तर्क उठेगा, कपड़े-कपड़े का रंग बदल जाने से ही क्या उनके बारे में हमारा आपका दृष्टिकोण बदल जायगा? पूरी तरह नहीं बदलेगा, क्योंकि इसके साथ और भी अनेक जटिल प्रश्न जुड़े हैं, फिर भी काफी बदल जायगा, इसमें संदेह नहीं। रंग व्यक्ति, वस्तु अथवा वृत्ति-निरपेक्ष नहीं होता, उसका एक अपना अर्थ और संज्ञा है। हर किसी को हर कोई रंग नहीं भाता। संन्यासी को हरे और अधिक उम्र को हिंदू

विधवा को यदि गाढ़े लाल रंग से सज्जित देखा जाय, तो उन्हें जो महत्व और सम्मान मिलता है, वह नहीं मिलता। संन्यासी का गेरुआ और विधवा का शुभ्र वेश अर्थहीन बहिः आवरण की नहीं, उनके आदर्श और जीवनधारा की प्रकट अभिव्यक्ति हैं।

इससे भी बड़ी बात यह कि केवल दूसरों की दृष्टि में ही नहीं, अपनी दृष्टि में भी हमारा एक रूप है, जिसे देख कर कभी हम लज्जित होते हैं तो कभी गर्व अनुभव करते हैं। वह रूप कई मानों में हमारे परिधान और उसके रंग से संबंधित होता है। वह यदि हमारे मन के माफिक होगा, हम अपनी आँखों में सुन्दर होंगे, यही नहीं, हमारे पास अपनी मर्यादा भी बढ़ जायगी। जीवन में बड़ा होने का प्रथम सोपान यही है, अपने निकट अपनी इसी मर्यादा का बोध।

बस्ट्राल की यूनिफॉर्म उसकी अपनी दर्जीशाला तैयार करती है। खाकी कपड़े के थान बाहर से आते हैं। एक दर्जीमास्टर है, जिसका वेतन प्रारंभ में शायद तीस रुपये था, कई वर्षों के अंतर पर एक रुपया वृद्धि मिलते रहने से जीवन के अंत में आ कर पैंतीस रुपये हो गया। उसकी कमान में करीब पाँच लड़के रहते। दो लड़के सगर्व कैंची चलाते हैं, वे 'कटर' हैं। बाबा आदम के जमाने से मोटे कागज के कई नाप बना रखे हैं मास्टर साहब ने। उस पर कपड़ा फैला कर निशानों के अनुसार लड़के काट डालते हैं। एक उस पर मशीन चलाता है। तीन नाप हैं—एक, दो, तीन अर्थात् बड़ा, मझोला और छोटा। किसी की कितनी ही लंबाई हो, इन्हीं तीन में से कोई फिट बैठा लेना होगा। यदि फिट न बैठे अर्थात् हाफ शर्ट की आस्तीन कुहनी से झूल कर कलाई के आसपास तक आ जाय, या हाफ पैंट घुटनों के नीचे तक धावा करे, तो यह दोष उसके बेव्योंत गठन का है। इसके लिए दर्जीमास्टर अथवा उनके दोनों 'कटर' जिम्मेदार नहीं। तुम्हारी कमर अगर बेहद बढ़ गयी हो जिसके फलस्वरूप पैंट के बटन लगाने जा कर प्राण निकल जायँ तो उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। दर्जीमास्टर विश्वकर्मा तो हैं नहीं जो ठीक फरमाइश के मुताबिक माल जुटायेंगे।

किंतु संसार में कोई काम रुका नहीं रहता। सब समस्याओं का समाधान है। ठिगने अथवा लंबे होने पर भी तुम्हारे नाप के अनुसार पोशाक जुट जायगी, बशर्ते कि 'दर्जी कमान' को दक्षिणा लाभ करा सको। विनिमय में कुछ देना होगा। दया के साथ दक्षिणा का घनिष्ठ संबंध है। दक्षिणा के अनेक रूप हैं। कभी दो बीड़ी, कभी रसोईघर से उड़ाया हुआ मछली का एक टुकड़ा अथवा हाथ की सफाई से गोदाम से उपार्जित थोड़ा गुड़। पैसों का आदान-प्रदान भी एकदम अनोखी बात नहीं। इसके लिए एक व्यक्ति अनुकूल होना चाहिए—जो कि बड़े विनिमय के लिए जरूरी है। उस व्यक्ति का नाम है पेटी ऑफीसर, लड़के उसे कहते हैं मास्टर—लकड़ीमास्टर, लोहामास्टर तथा और तरह के मास्टर। इनका सरकारी काम होता है पहरेदारी और खबरदारी।

एक अन्य कारण से भी लड़कों पर दर्जीशाला का प्रचुर प्रभाव था, उसके साथ

जुड़ा है यूनिफॉर्म का खाकी रंग और उसके प्रति व्यापक अरुचि।

दोपहर के समय सुपर और उनके डिप्टी जब अनुपस्थित होते हैं, दर्जी कमान तब थोड़ा गैर-सरकारी काम करता है। वस्ट्राल के वाशिन्दों की संख्या कितनी ही नगण्य क्यों न हो, स्टाफ अर्थात् कर्मचारी दल छोटा नहीं है। सात-आठ इंस्पेक्टर, वारेक हेडमास्टर और उनके सहायक शिक्षक, डॉक्टर, कम्पाउण्डर, क्लर्क, उन पर चीफ और उपचीफ सहित अनेक सिपाही और पेटी ऑफीसर हैं। वेतन के मामले में उनमें ज्यादातर दर्जीमास्टर के निकट पड़ोसी हैं। सभी का घरवार है और वहाँ लक्ष्मी के बदले माँ षष्ठी (संतानदात्री देवी) की विशेष अनुकंपा है। सरकार भी इन पर यथेष्ट दयावान है। पेटी ऑफीसरों सहित प्रायः सभी को वासगृह दान किया था। उसका भाड़ा नहीं लगता। यह क्या कम अनुग्रह है? 'वासगृह' शब्द का प्रयोग आक्षरिक नहीं, सरकारी सम्मान की रक्षा के लिए प्रयुक्त है। वास्तव में वे 'गृह' नहीं हैं 'वास' करने के लिए भी नहीं बनाये गये हैं। जिला जेल रहने के जमाने में वे 'डेड स्टॉक आर्टिकल्स' अर्थात् लोहा-लक्कड़ के गोदाम थे, अब वे एक झुंड 'हाफडेड' पुरुष-महिलाओं को सिर छिपाने की गुफाएँ हैं। जिनके सिर वहाँ ज्यादा दिनों से घुसे हुए थे, वे शीघ्र ही पूरे डेड (मृतकों) के दल में जा मिलेंगे, इस बारे में अधिकारियों को छोड़ और किसी को संदेह नहीं था।

गोदामों के पीछे की दीवार ही जेल की प्राचीर है। छिद्रहीन, मजबूत-ठोस दोनों ओर की दीवालों में भी एक दरार तक नहीं। सामने बस एक ही दरवाजा। भरी दोपहर में भी रोशनी किये बिना कुछ देखा जा सके, ऐसी देखने की ताकत वन्य-जंतुओं में हो सकती है, इंसान में नहीं होती। इसलिए दिन-रात बत्ती जलती है। वह बत्ती होती है कैरोसिन का डिब्बा या वस्ट्राल की रद्द की हुई टूटी लालटेन। उससे जितनी रोशनी निकलती है, उससे दसगुनी कालौ निकलती है। उसका सांघातिक प्रभाव जानने के लिए डॉक्टरी ज्ञान की जरूरत नहीं।

प्रत्येक घर अर्थात् क्वार्टर के आगे घिरा हुआ एक कम्पाउंड है। पाठक यह जानना चाहेंगे किससे घिरा हुआ है? कैरोसिन के डिब्बे काट-काट कर उन्हें पीट कर सीधा बनाये जाते हैं छोटे-छोटे पत्तरे। उन पर अलकतरे लगा, पास-पास में बांसों की खपच्चियाँ ठोक कर वस्ट्राल के लड़कों ने घेरा लगा दिया है। उन्हीं को जोड़ कर खड़ी की गयी है कंपाउंड की दीवाल। सरकार ने एक पैसा नहीं दिया, इस तरह की उद्भट स्कीम को मंजूरी भी नहीं मिली है। यह सब घोष साहब का पागलपन है। पी० डब्ल्यू० डी० के इंजीनियरों ने बीच-बीच में आपत्ति उठायी। अपनी बिल्डिंग में इतने सारे 'डर्टी अनअथोराइज्ड स्ट्रक्चर' हम 'एलाउ' नहीं करेंगे। पुल देम डाउन'। साहब अपनी पतली छड़ी को बगल में दबाये दौड़े-दौड़े आये। पत्तरों के कट-घरे में शौचालयों को दिखा कर बोले, 'इस आवश्यक कार्य के लिए अभागी महिलाओं

को एक आड़ की जरूरत है। निश्चय ही ज्यादा दिन इनकी जरूरत नहीं रहेगी। जो हालत है, उससे शीघ्र ही शायद ये भी गाय-घोड़ों जैसी हो जायँगी। तव परदा जरूरी नहीं रह जायगा। उस समय मैं खुद ही इन्हें तुड़वा दूँगा। आपको कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। थोड़े दिन सब्र कीजिए।"

एक्जीक्यूटिव इंजीनियर हँस कर चले जाते हैं। मित्र हैं, इसलिए प्रश्रय के स्वर में कहते हैं, "आप से पार नहीं पाया जा सकता, महाशय! किंतु आपका डिपार्टमेंट क्या कर रहा है? स्टाफ क्वार्टरों की व्यवस्था न होने पर आप लोग यहाँ आये ही क्यों? ये बातें तो पहले देखने की हैं।"

"कौन देखे?" घोष ने उत्तर दिया। "मैं जव कहने गया कि स्कूल तो खुल रहा है, इतना स्टाफ है, इसे कहाँ जगह दूँगा? 'वास' ने अपने पके बालों वाले पी० ए० की ओर देखा था। उन्होंने कहा था, "उसके लिए चिंता नहीं है साहव। 'दे केन लिव ऐनीव्हेयर'।"

"वस, फिर लौट कर आते-न-आते आदेश मिला 'यू आर दी मैन ऑन दि स्पॉट' कोई प्रवंध कर लीजिए।' कर लिया। विना पैसे के इस प्रकार कैरोसिन के डिब्बों की इतनी अच्छी दीवार बना सकते हैं आप?"

ये गिने-चुने गोदाम सब लोगों के लिए काफी नहीं पड़े। जो वच रहे, उनके लिए सस्ती लागत से कितने ही झोपड़े तैयार कराये गये। चटाई की वाड़, शाल की चौखट और ऊपर धान के फूस का छप्पर तना। एक ही वर्षा में वे गल कर ढह गये। अगली वर्षा से बहुत पहले ही मरम्मत का एस्टीमेट वना कर भेजा गया था इंस्पेक्टर-जनरल के दफ्तर में। मंजूरी आते-आते सरदी आ गयी। वस्ट्राल के वावुओं ने ऊपर तिरपाल लगा कर वर्षा काट ली।

किंतु इनके मन में भी इच्छा-आकांक्षाएँ हैं। बच्चों के मुंह में अन्न न दे पाने पर भी तन पर एक भद्र आवरण न देने से कैसे चल सकता है? ईश्वर के आशीर्वाद से सभी घरों में, कहना नहीं चाहिए, बच्चों का दल ही खूब तगड़ा है। निषिद्ध वृक्ष का फल खाने पर आदि दंपत्ति को स्वर्गोद्यान से विदा करते समय ईश्वर ने उसे आदेश दिया था—'गो एण्ड मल्टीप्लाई'। ईसाई न होने पर भी ये लोग वह आदेश निष्ठापूर्वक पालन करते आ रहे हैं। केवल ये ही क्यों, इनके समान इस देश में अगणित मनुष्य हैं, जिनके घरों में भोजन की अपेक्षा भोजनार्थियों की भीड़ दसगुनी है।

इन सब वावुओं के बच्चों के कपड़ों की समस्या आंशिक रूप से वस्ट्राल के दर्जी-मास्टर हल कर देते हैं। किसी-न-किसी प्रकार कपड़ा जुटा लेने से ही काम वन जाता है। उसे काट-छाँट कर कपड़े तैयार कर डालने का भार उन पर है। यह मामला खैरात का नहीं है। फिर भी थोड़ा-सा ही पारिश्रमिक देने पर ये खुश हो जाते हैं। उन्हें भी तो यही करके चलाना पड़ता है। कारीगर लड़कों को भी लाभ है। नाप लेते

केशव ने तुरंत आगे बढ़ कर उसके हाथ से दोनों कंवल ले लिये। उन्हें अलग-अलग तहा कर एक के ऊपर एक रखकर सजा दिया। उसके ऊपर अतिरिक्त पैंट, शर्ट, चादर और तकिया रखकर बोला, "इस तरह रखा करो। देखो न, उन सबने कैसे किया है। ठीक से न रखने पर डिप्टी बाबू डाँटते हैं, साहब के पास रिपोर्ट कर देते हैं।"

'रिपोर्ट' शब्द का अर्थ उसे आते ही मालूम हो गया था। बात सुनते ही दिलीप मन-ही-मन संत्रस्त हो उठा। उनके पल्ले कभी न पड़ना पड़े। उसने डरते-डरते पूछा, "रिपोर्ट हो जाने पर क्या सजा मिलती है?"

"उसका कोई ठीक है क्या? ऐसे सब छोटे-छोटे अपराध करने पर ज्यादातर ड्रिल कराते हैं।"

'ड्रिल' से दिलीप अनजान नहीं था। उसे अपने बस्ती के स्कूल में भी करनी पड़ती थी। अच्छी ही लगती थी उसे। ये लोग उसे सजा क्यों कहते हैं, यह वह नहीं समझ पाया। बोला, "ड्रिल तो अच्छी चीज है। मैं तो कितनी ही करता था।"

"ओ-ओ, वह ड्रिल जानता है?" मूर्ख लड़के का अज्ञान देख केशव चकित हो गया। "इसका नाम बस्ट्राल स्कूल है। दो दिन रहकर देखना, ड्रिलमास्टर के जूते की ठोकर खा कर बाप का नाम भूल जायगा। यही देख ना।" यह कह उसने नीचे झुककर दायें पैर की एड़ी पर एक इंच से ज्यादा बड़े जख्म का दाग दिखाया। फिर ठीक से खड़े होकर बोला, "पैर ठीक से न मिला पाते ही ठोकर पड़ती है। दो-चार को छोड़ कर सभी के पैर में है।"

कैप्टन की पुकार सुनाई दी, "ऐई, तुम लोग वहाँ खड़े क्या कर रहे हो?"

तब सब लड़के निकल गये थे। आसपास के अन्य कमरों से भी कई दल निकल पड़े। वे इनसे ज्यादा लंबे थे। केशव ने दिलीप को धक्का देकर कहा, "चल, चल। देर हो जाने पर चीफ मार ही डालेगा।"

दरवाजे के पास आकर ठहर जाना पड़ा। नौ वर्ष के आसपास की उम्र का एक पतला-दुबला लड़का बहुत मुश्किल से दोनों कंवल बगल में दबाकर बाहर निकलने की कोशिश कर रहा था। कैप्टन ने पीछे से रोका, "कंवल लेकर कहाँ जा रहा है?"

लड़के ने जवाब नहीं दिया। अपराधी के समान सिर झुकाए खड़ा रहा। आस-पास खड़े लड़कों की आँखों में कौतुक की हँसी फूटी पड़ रही थी। एक लड़के ने पास जाकर कंवल को सूंघा और नाक-मुंह विकृत कर बोला—'उफ!' चारों ओर हँसी की लहर फैल गयी। कैप्टन भी उसमें योग दिये बिना नहीं रह सका। हँसते हँसते ही बोला, "मारो, मारो, सब मिलकर चपत लगाओ।"

कोई एक बोला, "नहीं-नहीं, सिर पर मारने से और भी ज्यादा करेगा।"

कैप्टन बोला, "तो फिर जोर-जोर से उसके गाल पर दो थप्पड़ लगाओ। बुड्ढा हो गया, फिर भी रोज-रोज बिछौना गीला करता है।"

लड़का आँसू भरी आँखें उठाकर रुआँसे स्वर में बोला, "मैं जानकर करता हूँ क्या ?" और मुंह फाड़कर रो पड़ा।

मुंह धोने आदि से निवटते-निवटते खाने का घंटा पड़ गया। अर्ली मॉर्निङ्ग मील—प्रातः का नाश्ता। साधारणतया खिचड़ी मिलती है, चावल ज्यादा और दाल कम। देखने में जेल जैसी ही होती है, उतनी काली नहीं (वहाँ लोहे की देगची होती है, यहाँ पीतल की), खाने में भी बेस्वाद नहीं कही जा सकती। फिर भी कोई पसन्द नहीं करता। इसी कारण शायद इस पदार्थ का प्रचलित नाम है लप्सी। शब्द में ही कैसी एक 'जेल-जेल' गंध मिली है। सिर्फ गंध ही नहीं, लप्सी के पीछे एक इतिहास भी है। यहाँ के बाशिंदे उसे पूरी तरह नहीं जानते, फिर भी जितना जानते हैं या सुना है, वह इसके विरुद्ध कठोर मनोभाव बना देने के लिए यथेष्ट है।

आज लप्सी नहीं थी, उसके बदले चिवड़े और गुड़ की व्यवस्था थी। लड़कों के झुंड ने प्रायः हाथ उठाकर नाचना शुरू कर दिया। उम्र ही ऐसी थी, बहुत सरलता से खुश किया जा सकता है और बहुत ही सरलता से रुष्ट हो उठते हैं।

टीन के एक शेड में खाने की जगह है। यही 'डाइनिंग हॉल' है। पहले सब उकड़ू होकर बैठते थे। छोटे लड़कों को बहुत कष्ट होता था। साहब ने लंबी-लंबी बेंचों का इंतजाम किया। एक बेंच पर चार-चार लड़के बैठते। उससे पहले एक लाइन में खड़े होकर प्रार्थना या भजन गायन होता, सहज स्वर में। इसीलिए सबको प्रार्थना करनी नहीं आती थी। अनेक तो मतलब भी नहीं जानते थे। इससे कुछ आता-जाता नहीं। जो भी हो, एक तान खींचनी ही पड़ती थी। नहीं तो किसी और के स्वर-से-स्वर मिला लिया। इस संबंध में चीफ ऑफीसर अत्यन्त उदार थे। किन्तु चुप नहीं रहा जा सकता था। भगवान का नाम लिए बिना पेट पूजा करना कितना गर्हित काम है, यह इसी उम्र में नहीं सीखेंगे तो कब सीखेंगे।

साहब को यही भजन सुनाने के लिए एक दिन चीफ ऑफीसर बुला लाये थे। विशेष रूप से चुना गया भजन गाया गया। साहब मन लगा कर सुन रहे हैं, यह देख कर चीफ कितने खुश हुए थे। भजन समाप्त होते ही लंबा सेल्यूट देकर सविनय पूछा, "कैसा लगा, हुजूर !"

साहब गम्भीर स्वर में बोले, "बहुत बढ़िया। एक काम कर सकते हो। कृष्ण भगवान के इन जीवों को बेकार में कष्ट न देकर गंगा पार से कुछ सियार लाकर छोड़ दो। इससे एक सुविधा होगी। समय पर वे खुद ही गाना शुरू कर देंगे। धर-पकड़, हाँक-पुकार कुछ भी नहीं करना पड़ेगा।"

दिलीप ने जीवन में कभी नहीं गाया था। इसलिए चुप खड़ा था। केशव

हठात् नजर पड़ते ही, वह उसकी पीठ में चिकोटी काटकर बोला था, "होंठ हिला।" दिलीप घबड़ाकर इधर-उधर देखने लगा। होंठ हिलाना भी सीखना पड़ता है, बेमतलब हिलाने से नहीं चलेगा। कुछ दिन बाद उसने अवश्य ही यह विद्या सीख ली। उसे यह देख ताज्जुब हुआ कि उसका मुखिया केशवचंद्र तीन वर्ष में भी इससे आगे नहीं बढ़ सका। शायद कोई-कोई पहले से ही होंठ हिलाने की क्लास में जाता रहा है। चीफ पकड़ नहीं पाते।

लप्सी अथवा चिवड़ा-परवल के बाद ही ड्रिल और बैंड की प्रैक्टिस होती है। बैंड पार्टी का दल अलग है। उसमें ज्यादातर बड़े लड़के होते हैं, बस्ट्राल के कानून में जिन्हें सजा मिली है। कुछ इंडस्ट्रियल भी हैं। शहर में इनका काफी नाम है। रूट-मार्च या दूसरे राष्ट्रीय उत्सवों में पुलिस बैंड के पीछे 'बस्ट्राल जेल' का क्षुद्र बैंड भी योगदान करता है। दर्शक-वृन्द आनन्द उठाते हैं, कोई-कोई आँखें बड़ी-बड़ी कर तारीफ करता है, देखा, कितना बढ़िया सीखा है। कोई नहीं कहता कि इन छोटे-छोटे बालकों में इतने बड़े-बड़े ढोल छाती पर ढो कर ले जाने की क्षमता की आशा की जा सकती है या नहीं, अथवा ये बालक जो विशाल बैगापाइपों को एड़ी-चोटी का जोर लगा कर, गाल फुला-फुला कर बजाते हैं, उनकी फूंक में इतना जोर होना चाहिए या नहीं।

बस्ट्राल की म्युजिक ड्रिल की ख्याति भी कम नहीं है। बैंड पार्टी बाँसुरी बजाती है, उसकी ताल में ताल मिला कर छोटे बच्चे पैरों और हाथों की नाना कसरतें दिखाते हैं। कभी एक जगह खड़े रह कर, कभी मार्च करते हुए। किसी-किसी दिन बाँसुरी के स्वर और उसके साथ ड्रम पर मृदु गम्भीर आवाज उठा कर डी० एल० वाई०, अतुल प्रसाद अथवा काजी नजरुल के गीत गाते हैं—'धन धान्य पुष्प भरा।' बोलो सोलो, बोलो सभी। 'ऊर्ध्व गगने बाजे मादल'।

बैंड-मास्टर वीर बहादुर ने बहुत दिन के बहुत परिश्रम से सिखाया था। कभी वह गोरखा रेजिमेन्ट में बैंड बजाता था। एक बंगाली दोस्त के मुंह से बँगला गीत सुन कर अच्छा लगा था। उन्हीं में से कई बाँसुरी के स्वर पर ले लिये थे। तब नहीं जानता था वह कि उसे कभी बस्ट्राल जेल में आ कर मास्टरी करनी पड़ेगी। स्वास्थ्य बिगड़ जाने से असमय में ही पेंशन लेकर काम खोज रहा था। मिल गयी यही नौकरी। उस दिन की अतिरिक्त विद्या भी काम में आ गयी। जीवन का धन कुछ भी बेकार नहीं जाता।

बस्ट्राल के विजिटर लोग, बीच-बीच में सपत्नी आने वाले उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी इनकी ड्रिल देख और संगीत सुन मुग्ध हो जाते। शत-शत कंठों से वीर बहादुर की प्रशंसा करते। बैंड-मास्टर विनीत स्वर से हीं-ही कर, बीच-बीच में इसका थोड़ा आभास भी दे देते कि उनका काम कितना कठिन है। वह अपनी भाषा को मुलायम कर बोलते, "मैं भला क्या जानता हूं! सब आपकी 'कद्रदानी' है। लेकिन

गधों को ठोक-पीट कर घोड़े वनाना…।"

इसमें कितना कष्ट होता है, यह अनुग्रहकर्ताओं ने अवश्य ही अनुभव किया था। किन्तु कितनी मार खाकर गधे को घोड़ा वनना पड़ता है, यह इतिहास अंतराल में छिपा है। यह वात कोई भूले से भी नहीं सोचता। इस 'म्युजिक' के पीछे दीर्घकाल से कितने वाल कंठों का रुदन छिपा हुआ है, यह भी कोई नहीं पूछता।

लड़के जो वहादुरी दिखाते हैं उसका 'सिंहभाग' निश्चय ही नेता या अध्यक्ष को प्राप्त होता है। विशिष्ट अतिथियों के मुंह से उन्हें ही अनेक शावाशियाँ मिलती हैं। ऊपरवाले जव सराहना प्रकट करते हैं, घोष साहव के चेहरे पर तव एक प्रकार की गद्‌गद् मृदु हँसी खिल कर कृतज्ञता का भाव दिखाती है। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं। यही सरकारी दस्तूर है। लेकिन जव साथी पीठ ठोक कर अथवा थपकी दे कर वाहवाही देते हैं, तव उनके मोटे-मोटे होठों के कोनों पर वाँकी हँसी फैल जाती है। वीच-वीच में ऐसे एक-दो मंतव्य तिक्त ढंग से प्रकट कर देते हैं, जो इस क्षेत्र में अत्यन्त वेमानी होते हैं। एक वार एक से वोले थे, "तुम्हारी प्रशंसा सुनकर अपने मामा के घर के गाड़ीवान की याद आ जाती है। मेरी हालत भी वहुत कुछ उसी की सी है।"

"क्या कह रहे हो!" साथी स्वाभाविक रूप से अवाक् होते हैं।

"सुनो तो। कुछ वर्ष पहले की वात है। मामा के घर जा रहा था, मजा लूटने नहीं, एकदम मजवूर होकर। मामा वहुत दिन से वीमार थे। एकवारगी ही अंतिम वार देखने जाना था। वचपन में उन्होंने ही पाल-पोसकर वड़ा किया था। अगर ऐसा न होता, तो वर्षा के एकदम वाद वहाँ हरगिज नहीं जाता। स्टेशन से पूरे पन्द्रह मील का फासला था। शुरू से आखिर तक कीचड़-ही-कीचड़। वर्दवान का सीताभोग मिहिदाना देखा है। नहीं देखा, तो वह कीचड़ कैसी थी तुम निश्चय ही नहीं समझ सकोगे। जगन्नाथ पुरी के पंडों से भी ज्यादा गले पड़ जानेवाली चीज होती है। जितना ही छुड़ाने जाओ, उतना ही लिपट कर रहेगी।

प्लेटफॉर्म से निकलते ही देखा, सिर्फ एक वैलगाड़ी खड़ी थी। गाड़ीवान पास खड़ा वीड़ी पी रहा था। वह मामा का आसामी था। वरना पन्द्रह सौ रुपये में भी उस पन्द्रह मील का दुर्गम मार्ग लाँघकर कोई नहीं आता। इसके अलावा उससे कहा गया था, 'एक वावू आ रहे हैं। साथ में सामान-वामान कुछ नहीं होगा।' 'एक' भी 'वहु' हो सकता है, उपनिषद का यह गम्भीर तत्त्व वह भला कैसे जानता? मेरी इस विशाल काया की ओर देख वह ऐसे ही ताकता रह गया, जैसे दिन-दहाड़े भूत देख रहा हो। वीड़ी हाथ से कव गिर पड़ी, यह वह जान ही नहीं सका। मेरी दृष्टि दोनों वैलों की ओर गयी। हड्डियों पर चमड़े का एक खोल मात्र चढ़ा था। उसके आर-पार ये लंवे-लंवे दाग।

"पर वह आदमी बहुत हिम्मतवाला था। जिस तरह से बेलगाम गालियाँ देता और उनके साथ बेधड़क चाबुक लगाता हुआ ६ घंटे में वह वही पन्द्रह मील का रास्ता पार कर मुझे अपने मामा के दरवाजे तक ले आया, वह देख उस दिन सिर्फ एक ही बात मन में आयी थी—यह इंसान गाड़ी न चला कर सरकस में क्यों नहीं चला जाता? इससे ज्यादा आश्चर्यजनक कसरत किस सरकस में दिखायी जाती है?"

"फिर, जिस तरह तुम लोग मुझे कांग्रेचुलेट करते हो, मैंने भी उसे उसकी बहादुरी के लिए पीठ ठोक कर शाबाशी दी थी। बैलों के मुंह से उस समय झाग गिर रहे थे, पीठ खून के दागों से भरी थी। उस ओर ध्यान ही नहीं दिया।"

लड़कों का चिवड़ा चबाना समाप्त होते-न-होते मैदान की ओर से सुनाई दिया बाँसुरी का स्वर। पूरे हॉल में हलचल मच गयी। बाकी बचा नाश्ता किसी ने उठा कर रख दिया, किसी ने एक बार में ही मुंह में भर लिया और हड़बड़ करते निकल पड़े। ड्रिलमास्टर जदुनाथ बाबू बहुत कठोर आदमी थे। एक मिनट की देरी होने पर खैर नहीं। डबल मार्च करा-करा कर जान निकाल लेंगे।

दिलीप भी खाना छोड़ कर अन्य सबके साथ उठ खड़ा हुआ। निकलते-निकलते उसने इधर-उधर देखा, केशव दिखाई नहीं दिया। और किसी को वह पहचानता न था। वह मन-ही-मन असहाय हो उठा। नये जुटे मित्र पर थोड़ा गुस्सा भी आया अभी तो उसके पास ही था, इस बीच कहाँ हवा हो गया। वह एक कोने में खड़ा हो अपरिचित चेहरों की ओर आँखें फैला-फैला कर देखने लगा। तभी एक गोरा-सा जवान लड़का जाते-जाते उसके पास ठहर गया। दोनों आँखें छोटी-छोटी, चपटी नाक, नौकर के जैसा मुंह। हंस कर बोला, 'लगता है तुम नये आये हो?' बातचीत में न जाने कैसा एक खिंचाव था। दिलीप ने सिर हिला कर जताया, 'हाँ'। लड़के ने हाथ आगे बढ़ा कर कहा, 'आओ। मेरा नाम मानबहादुर है। सभी 'बहादुर' कह कर पुकारते हैं।"

बहादुर उसका हाथ पकड़ कर ड्रिलमास्टर के पास ले जा कर बोला, "नया लड़का है, सर। एकदम शांत है।"

"शुरू में सभी ऐसे शांत रहते हैं," जदुबाबू झंकार दे उठे, "दो दिन बीतते-न-बीतते ही उनके दुम निकल आती है। क्या नाम है, तेरा?"

दिलीप के पूरा नाम बोलते ही मुंह बिगाड़ कर बोले ड्रिलमास्टर, "भट्टाचार्य! साधुओं की भाषा बोल रहे हैं बेटा! भट्टाचार्य ब्राह्मण का लड़का है तो फिर जेल में कैसे आया? क्या चोरी की थी?"

डर के मारे दिलीप का कलेजा कांप उठा। डरते-डरते बोला, "चोरी नहीं की।"

"क्या किया फिर? डाका डाला?"

दिलीप सोच नहीं पाया कि क्या कहे। उसकी ओर से मानवहादुर ने जवाव दिया, "कुछ न करके भी यहाँ आना पड़ता है, सर।"

ड्रिलमास्टर उसकी ओर घूर कर वोले, "तुझे वीच में दलाली करने को किसने कहा, वे ! वहुत लायक हो गया है, ना !"

मानवहादुर और कुछ नहीं बोला। विरक्त मुँह वहाँ से चला गया। वह वैंड पार्टी का सदस्य था। उसकी प्रैक्टिस शुरू होने वाली थी।

ड्रिलमास्टर ने दिलीप से पूछा, "कभी ड्रिल की है ?"

"की है।"

"कहाँ ?"

"अपने स्कूल में।"

"स्कूल में ! कौन से स्कूल में ?"

"अपनी वस्ती के।"

"वस्ती के !" हो-हो करके जदुवावू हँस पड़े। वैंडमास्टर वीरवहादुर उसी समय मैदान में पहुँचे थे। उन्होंने पूछा, "क्या हुआ, जदुवावू ? इतनी हँसी किसलिए ?"

"यह लड़का क्या कह रहा है, जानते हो ? कहीं की किसी वस्ती में ड्रिल करता था। वस, और क्या चाहिए ? अव मेरी पोस्ट इसे दे देनी चाहिए।"

इतना कहने के साथ ही एक वार फिर अट्टहास किया। वीरवहादुर कोई उत्तर न देकर अपने लड़कों की ओर चल पड़ा। जदुवावू की दोनों आँखों में भृकुटि दिखी। एक झलक से मुँह घुमा कर दिलीप से वोले, "उधर जा कर खड़ा हो। फिर देखा जायगा कि कैसी ड्रिल सीखा है ? तेरे ज्ञान की दौड़ कहाँ तक है ?"

फिर एक वार वाँसुरी पर फूंक पड़ते ही ड्रिल के लड़के लाइन वना कर खड़े हो गये। उनकी ओर एक तीक्ष्ण दृष्टि डालते ही ड्रिलमास्टर गरज उठे, "वह कहाँ गया ?....वह कोला मेंढक कहाँ गया ?"

लाइन में ऊँची हँसी का रेला आया। कोई एक वोल उठा, "भाग गया, सर।"

"भाग कर जायगा किस चूल्हे में ? तू जा, चीफ ऑफीसर को वता आ। निश्चय ही कहीं छिपा हुआ है, नहीं तो पाखाने में घुस गया है।"

आगे की पंक्ति में खड़े एक सवसे लंवे लड़के की ओर उन्होंने इशारा किया। वह तत्क्षण भाग कर गया और लौट कर वताया, "चीफ ऑफीसर ने कहा, होगा कहीं। तुम लोग शुरू करो। मैं उसे खोज कर भेज रहा हूँ।"

जदुवावू ने विरक्ति प्रकट की, "इसका मतलव, आज भी छूट गया। इसी तरह वदमाश लड़के सिर चढ़ते हैं। साधुओं के हाथ कहीं जेल का काम चलता है।"

इधर समय बीता जा रहा था। आखिर में बाकी सब को लेकर ही ड्रिल शुरू करवा दीं।

चीफ ने एक पेटी ऑफीसर को हुक्म देकर केशव को खोज लाने कहा। वह पूरी जेल में घूम आया। केशव कहीं नहीं मिला। चीफ झल्ला पड़े, "नहीं मिला का मतलब? उड़ तो सकता नहीं है।" कह कर वह खुद ही खोजने निकल पड़े। सब जगह छान-छान कर देखा गया, तो भी नहीं दिखा। तब क्या भाग गया? तब तो 'पगली' घंटी देनी पड़ेगी। इससे पहले डिप्टीबाबू को रिपोर्ट देनी होगी। इसी उद्देश्य से वह ऑफिस की ओर चले। मुख्य बैरकों के सामने से रास्ता था। उनके पास चार-पाँच अमरूदों के पेड़ थे। हठात् लगा, जैसे एक ऊँची डाल हिल रही है। अच्छी तरह से देख कर चीफ चिल्ला उठे, "ऐ बंदर, तू वहाँ चढ़ा बैठा है? ठहर, अगर तेरी आज टाँग न तोड़ी''''उतर आ''''।"

केशव के उतरने का कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ा। चीफ तथा एक-दो पेटी ऑफीसर कुछ क्षण लाठी हिलाते रहे। जिसे लक्ष्य कर यह किया गया, वह एकबारगी ही निर्विकार बैठा था, जैसे उसने सुना ही नहीं कि ये लोग क्या कह रहे हैं। दो डालों के बीच वह और भी दुबक कर बैठ गया। बाध्य होकर चीफ ने दूसरा रास्ता अपनाया। नरम स्वर में बोले, "अगर तू अभी उतर आयगा, तो कुछ नहीं बोलूंगा। देर की तो तेरी खैर नहीं।"

अब केशव ने धीरे-धीरे उतरना शुरू कर दिया। जमीन पर पैर रखते ही चीफ गरज उठे, "पेड़ पर क्यों चढ़ा था?"

कोई जवाब नहीं।

"बोल, वहाँ क्या कर रहा था?"

केशव का मुंह और भी नीचे झुक गया। पेटी ऑफीसरों में से कोई एक बोला, "अमरूद खा रहा था, और क्या करता?"

"अमरूद हैं कहाँ? यह क्या अमरूद होने का समय है?"

सभी की नजर पेड़ों पर गयी। नये पत्ते भरे थे। फल का नाम तक नहीं।

चीफ को जब अपना प्रश्न दुहराने पर भी कोई जवाब नहीं मिला, तब उन्होंने आगे बढ़ कर दन्न से एक थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिया। साथ-ही-साथ मुंह के अंदर से एक गोल-गोल कच्चा अमरूद निकल कर गिर पड़ा। तब तक और भी कई लोग वहाँ आ जुड़े थे। सभी अवाक् रह गये। इस समय अमरूद कहाँ से आया?

"यही एक था," धूल में लिपटे अमरूद की ओर करुण दृष्टि टिकाये रुआंसे स्वर में केशव बोला।

चीफ बहुत मुश्किल से हँसी दबा कर बोले, "यह तो समझ गया। पर तेरी

राक्षसी भूख कैसे मिटेगी वता सकता है ? अभी-अभी तो एक कटोरी चिवड़ा खा चुका था।"

इससे प्रायः एक-डेढ़ वर्ष वाद चीफ ऑफीसर का यही प्रश्न केशव ने खुद ही एक अन्य ढंग से अपने मित्र दिलीप से पूछा—"इतना खाता हूँ, फिर भी पेट नहीं भरता। क्यों, वता सकता है ?" तव दोनों में खूब प्रेम हो चुका था। उस दिन वस्ट्राल स्कूल में एक छोटा-मोटा मेला लग गया था। छोटे-वड़े सभी की आँखों में उत्तेजना थी। मामला क्या है ? कुछ नहीं, वैगन की पकौड़ी वन रही है। जेल के वगीचे के वैंगन, पालक का शाक, शलजम और मूली के साथ घोट कर रोज जो एक प्रकार का काला रसायन तैयार होता था, और जिसे देख कर सवकी नाक सिकुड़ जाती थी, उससे अलग आज उन्हीं वैंगन को वेसन में मिला कर पकौड़ियाँ वनेंगी। वेसन भी ज्यादा नहीं था। जो चने की दाल उन्हें सप्ताह में तीन दिन गले से उतारनी पड़ती है, और वहुत कोशिश करके भी जिसका मिलन पानी के साथ कराने में सफलता नहीं मिलती, उसी दाल को थोड़ा-थोड़ा वचा कर आज इमामदस्ते में कूट कर वेसन का रूप दिया गया था। तेल भी रोज के राशन से थोड़ा-थोड़ा वचाया गया था। अर्थात् सरकार का कोई भी अतिरिक्त खर्च नहीं था। फिर भी यह सारा काम गैरकानूनी था। प्रति व्यक्ति चावल, दाल, तेल, नमक से लेकर हल्दी-मिर्च तक सव वँधा हुआ है स्कूल कोड में, और इससे एक रत्ती भी इधर-उधर करने की क्षमता सुपर को नहीं दी गयी है। प्रत्येक दिन का राशन उसी दिन खर्च करना होगा। उसका कोई भी अंश वचाकर रखना विशेष रूप से निषिद्ध है। जिन्होंने खाद्य सामग्री का स्केल वनाया था, उन्होंने यह काम मनमर्जी से या अंधाधुंध नहीं किया था, "प्रत्येक चीज का खाद्य-मूल्य कस कर, कैलोरी के हिसाव से उसका परिमाण निर्धारित किया। उसके वाद उसे कोडीफाई अर्थात् कानूनवद्ध किया गया। उसमें इधर-उधर करना सिर्फ कानून का उल्लंघन ही नहीं, कैलोरी का तारतम्य तोड़ लड़कों के स्वास्थ्य की हानि करना भी था।

लेकिन मिलिटरी में रह चुके सुपर वीच-वीच में कानून और कैलोरी—दोनों को ही अमान्य करते रहते हैं। वात नहीं, चीत नहीं, अचानक एक दिन चीफ ऑफीसर को वुलाकर वोले, "अगले रविवार को लड़के मठरी खायेंगे। प्रत्येक लड़का चार-चार।"

"जो आज्ञा, हुजूर," कह चीफ सलाम करके चले आये। यह हुक्म राशन-स्टोर के क्लर्क को वता दिया। उसके चेहरे पर अंधेरा छा गया। ढेर सारा काम वढ़ गया। उसके साथ वहुत-सा हिसाव भी। इतना आटा और तेल रोज के राशन से काट कर रखो, आटे के वदले चावल इश्यू करो, उसी परिमाण से 'विहार डायट' अर्थात् जो लोग एक समय चावल खाते हैं और दूसरे समय रोटी, उनकी संख्या कम करके 'वंगाल डायट' अर्थात् दोनों वक्त चावल खानेवालों की संख्या वढ़ा दो, जिनका

अतिरिक्त चावल निकल रहा है, उसे अलग कर एक जगह नोट करो, दो माह बाद सुपर उसे 'राइट ऑफ' कर देंगे। तेल के लिए भी ऐसा ही सब जटिल दायों और बायों ओर का काम चल रहा था। यह निर्देश पहले से ही दिया हुआ था। पालन किये बिना कोई उपाय नहीं। साहब ने सावधान कर रखा है—"हिसाब-किताब ठीक रखो, ताकि ऑडिट कुछ पकड़ न पाये। और अगर पकड़ ही ले, तब मैं तो हूँ ही, तुम्हें कोई डर नहीं।" फिर भी होशियार होकर चलना पड़ता। 'मूडी' होने पर भी साहब का दिल है! दिल बहुत बड़ा है—क्लर्क आपस में बातें करते हैं। ऐसे बॉस 'खिन्न' न होने पायें, यह ध्यान रखना ही पड़ता है।

'मूडी' बॉस का अत्याचार सिर्फ कर्मचारी ही नहीं सहते, कांट्रक्टरों को भी सहना पड़ता है।

लड़कों के खाने की 'पंगत' के समय उपस्थित रहना निश्चय ही सुपर का कर्त्तव्य नहीं था। कभी-कभी चक्कर लगा देना ही काफी था। किन्तु घोष साहब का नियम अलग था। शाम के समय ऑफिस नहीं होता, फिर भी अवसर आ उपस्थित होते और सीधे 'डाइनिंग शेड' में पहुँच जाते। दोपहर में उससे भी ज्यादा रहते। एक दिन 'फीडिंग परेड' से लौटकर डिप्टी को बुलाकर बोले, "बंदगोभी खाते-खाते लड़के ऊब गये लगते हैं। इसे बदल डालिये।"

"इस समय बाग में तो और कुछ नहीं है।" संतोषबाबू ने गंभीरता से उत्तर दिया।

यह काम भी सरकारी कानून में निषिद्ध था। बाग की तरकारी जब तक समाप्त न हो जाय, अथवा कम न पड़ जाय, तब तक बाहर से एक छटाँक भी खरीदने की अनुमति ऊपरवाले नहीं देते। इसे लेकर हेड ऑफिस से बहुत अप्रिय पत्र-व्यवहार हो चुका था। सुपर ने समझाने की चेष्टा की थी कि ज्यादातर समय जेल के बगीचे में एक या दो प्रकार की सब्जी ही रहती है। हालांकि परिमाण में प्रचुर होती है, लेकिन खाद्य सामग्री को ठीक से देने के लिए उसके साथ दो-चार दूसरी तरकारी मिलानी पड़ती है। मनुष्य को, खासकर इन छोटे मनुष्यों की रसना अत्यधिक स्वादप्रिय होती है। कहना बेकार है कि इन हास्यास्पद युक्तियों का ऊपरवालों पर कोई असर नहीं हुआ। सरकारी धन के अपव्यय के लिए वे किसी तरह राजी नहीं हो सके।

डिप्टी का जवाब सुन घोष साहब कुछ देर तक चुप रहे। फिर अचानक सिर उठाकर बोले, "विष्टु को गेट पर देखा था। बुलाओ तो।"

विष्टु सरकारी कांट्रक्टर था। डरा-डरा आकर साहब के सामने खड़ा हो गया। वह कुछ लिख रहे थे। लिखते हुए ही बोले, "कल एक मन आलू तो देना विष्टु!"

विष्टु आकाश से गिरा। वह चूना, अलकतरा और नारियल की रस्सी का ठेकेदार था। आलू का ठेकेदार दूसरा था। वह हाथ जोड़कर बोला, "जी हुजूर,

आलू तो मेरे काम में नहीं है। वह ठेका तो शायद भुवन शाह को मिला है।"

"जानता हूं। तुम्हें दो मन चूने का ऑर्डर देता हूं। उसके बदले तुम एक मन आलू दोगे।"

विष्टु बगले झाँकने लगा। समझौते के अनुसार वह बाध्य नहीं था। किंतु इस व्यक्ति के सामने ऐसी बात कहने का साहस किसी को नहीं था। झिझकते हुए, सिर खुजियाते-खुजियाते बोला, "दो मन चूने के दाम में क्या एक मन आलू मिल सकता है, हुजूर ?"

"अच्छी तरह से हो सकता है। न होने पर कुछ अपनी टेंट ढीली कर सकते हो, इतने सारे बाप के ठुकराये, माँ के खदेड़े बच्चों के लिए। इन्हीं की कृपा से तो तुम खा रहे हो।"

विष्टु नमस्कार कर चला गया। डिप्टी मामला नहीं समझ सके। साहब ने समझाया, ऑर्डर चूने का जायगा, गेट बुक और स्टॉक बुक में चूना लिखा जायगा; ठेकेदार को दाम भी उसी का मिलेगा। असल में आयगा, एक मन आलू, जिससे बनाया जायगा आलूदम।

"लेकिन यह क्या सब इररेगुलर (अनियमित) नहीं है सर ?" डिप्टी सुपर ने विस्मय के स्वर में थोड़ी ऊष्मा के साथ पूछा।

"हाँ इररेगुलर नहीं तो और क्या है।" अत्यंत सहज भाव से घोप साहब ने लिखने से सिर उठाये बिना तत्क्षण उत्तर दिया।

डिप्टी साहब कुछ देर हतबुद्धि की भाँति खड़े रहने के बाद बोले, "इसके अलावा मुझे लगता है कि यह सब स्पेशल खाना खिलाकर हम लोग लड़कों को बिगाड़ रहे हैं।"

सुपर साहब ने इस पर सिर उठाया। कुछ देर तीक्ष्ण दृष्टि से अपने डिप्टी का मुंह ताकते रहे। फिर बोले, "आपके कितने बच्चे हैं, संतोप बाबू ?"

"तीन।"

"उनकी उम्र क्या है ?"

"बड़े की सोलह, छोटे लड़के की सात वर्ष।"

"क्या उन्हें रोज-रोज एक ही चीज खाने को देते हैं ?"

संतोप बाबू ने तुरंत जवाब नहीं दिया। क्षण भर प्रतीक्षा करके साहब बोले, "शायद आपको पता नहीं। अपनी पत्नी से पूछने पर जान लेंगे कि देते हैं या नहीं। अपनी इसी सामान्य आय में उनके लिए आज इसकी कल उसकी व्यवस्था करते हैं। ऐसा न होने पर वे खायेंगे नहीं। खाना छोड़कर उठ जायेंगे। याद रखिए, हम जिन्हें लेकर काम कर रहे हैं, उनकी उम्र भी आपके लड़कों के समान है। भाग्य की मार से जेल में आ जाने पर स्वभाव नहीं बदल जाता। बदल सकता भी नहीं है।"

चीफ खुद खड़े होकर बैंगन की पकौड़ियाँ बनवा रहे थे। किचन के लड़के तो थे ही, और कई फालतू लड़के चारों ओर भीड़ लगाये हुए थे। किचन अंचल का पेटी ऑफीसर बीच-बीच में बेटन ऊँचा करके जब डाँटता, तब वे भाग जाते, फिर आहिस्ते-आहिस्ते खिसक कर चूल्हे के पास आ जुटते। बैंगन की पकौड़ियों के पहरे पर कई 'स्टार बॉय' तैनात थे। हठात् उनमें से एक चिल्लाकर बोल उठा, "अरे वह उठा रहा है, वह उठा रहा है।" लड़कों का एक झुंड धड़-धड़ करता दौड़ा और चोर को माल सहित पकड़ लिया। वह केशव सिकदार था। एक बड़ी-सी पकौड़ी उसके मुँह में थी। चारों ओर से मुक्के-थप्पड़ चलने लगे और होने लगी मुट्ठी खोलकर चोरी का माल जब्त कर लेने की कोशिश। वह क्या आसानी से छोड़ने को तैयार था? दो-तीन जनों ने मिल कर जब बहुत मुश्किल से उसका उद्धार किया, तो वह खाने लायक नहीं रह गया था, गुड़ी-मुड़ी होकर बेढंगा हो चुका था। मुँह में दबी पकौड़ी को केशव ने नष्ट नहीं होने दिया। धींगा-मुश्ती के बीच ही वह उसे खट से निगल गया था।

चीफ के हुक्म के मुताबिक एक पेटी ऑफीसर ने केशव का कान पकड़ सेल में ले जाकर उसे बंद कर दिया। उस वक्त का खाना भी बंद। चीफ ऑफीसर ने फैसला दिया, "तू जैसा अभागा भुक्खड़ है, वैसे ही भूखा भी रह।" लड़कों ने भी समर्थन किया, "ठीक हुआ। खा खाकर मुटिया गया है, फिर भी लोभ तो देखो!"

प्रत्येक लड़के को दो-दो पकौड़ियाँ मिलीं। दिलीप के पत्ते में पकौड़ियाँ पड़ते ही उसने इधर-उधर देखकर झट से उन्हें छिपा लिया। अगल-बगल जितने बैठे थे, उनकी एकाग्र लोलुप दृष्टि उस समय परोसने वाले की टोकरी पर लगी थी। क्या पता, अगर बचे तो और एक पकौड़ी मिल जाय।

खाना समाप्त कर उठते समय के शोरगुल में दोनों पकौड़ियों को गोद से हटा कर जेब के हवाले करने में भी विशेष कठिनाई नहीं हुई। सर्दी के दिन थे। खाने के बाद जब ज्यादातर लड़के मैदान में धूप खाने चले गये, तब सबकी दृष्टि बचा कर दिलीप सेल की ओर चला। वहाँ एक पेटी ऑफीसर का पहरा रहने की बात थी। पर वहाँ कोई नहीं दिखाई दिया। सेल ब्लॉक के सामने कटहल के पेड़ों का झुंड था। दो-पहर में भी अंधेरा-सा छाया रहता। सर्दी के दिनों में बहुत ठंडी रहती। शायद इसीलिए वहाँ सिपाही नहीं था, उधर मैदान के सिरे पर खुली जगह में धूप में बैठा आराम कर रहा था। सेल के सामने दीवार से घिरा आँगन था, घुसने के लिए लकड़ी का दरवाजा लगा था। वह खुला था। दिलीप निःशब्द पैर दबा-दबा कर दरवाजे में घुसा और छड़दार दरवाजे पर फुसफुसा कर आवाज लगाई, "केशो....।" केशव दोनों हाथ मिलाकर उन पर सिर टिकाये ठंडे फर्श पर लेटा था। आवाज सुन हड़बड़ा कर उठ बैठा। आँखों की कोर से बही पानी की दो धाराएँ उस समय भी सूखी नहीं थीं। केशव के चेहरे पर हँसी की झलक फूट पड़ी। भागा हुआ आकर बंद छड़ों के पास

खड़ा हो गया। उसने पूछा, "तुम लोगों का खाना हो चुका?"

दिलीप ने दोनों पकौड़ियाँ जेब से निकाल सींखचे में हाथ डाल कहा, "हाँ। यह ले।"

केशव की आँखें चमक उठीं, मुंह में पानी आ गया। दायें हाथ को उठाते हुए अचानक सम्हल कर बोला, "नहीं भाई, यह तेरा है, तू ही खा।"

"जा, मेरी क्यों होंगी? वह तो मैंने तभी खा लीं। ये दो तेरे लिए लाया हूँ।"

"सच कह रहा है?"

"वाह रे, झूठ क्यों बोलूंगा?"

"कैसे लाया?"

"यह सब तुझे सोचने की जरूरत नहीं। ले पकड़। झट से खा डाल। वरना कोई आ जायगा।"

केशव ने और आपत्ति नहीं की। दोनों पकौड़ियाँ लेकर मुंह में भर लीं। फिर चबाते-चबाते बोला, "बहुत अच्छी बनी है, रे।"

दिलीप ने जवाब नहीं दिया, अवाक् हो उसके मुंह की ओर देखता रहा। शायद कोई इस तरह अमृत भी नहीं खाता। कुछ देर देखते रहने के बाद अनुयोग के स्वर में बोला, "अच्छा, तू टोकरी में हाथ डालने क्यों गया, बता तो? खाने की इच्छा हुई थी तो बहादुर से कह देने से हो जाता। वह तो तुझे कितनी ही चीजें ला देता है।"

"यह सब क्या उस समय याद रहा था? गरम-गरम पकौड़ियाँ देखते ही लालच आ गया। तू क्या जानेगा भाई, मेरा दिल तो हर समय सिर्फ खाना-खाना ही करता है। न जाने क्यों?"

कह कर वह खिलखिला कर हँस उठा। फिर हँसी रोक कैसा उदास-करुण स्वर बनाकर बोला, "कितने दिनों से पेट भर कर खा जो नहीं पाया हूँ। वह मुझे कुछ खाने ही नहीं देते थे।"

"कौन? किनकी बात कह रहा है?"

"वही मेरा बाप। और कौन?"

दिलीप चौंक उठा। बाप के बारे में कोई ऐसी बात कह सकता है, यह तो उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा। अपने बाप को उसने नहीं देखा। फिर भी माँ के मुंह से जितना कुछ सुना था, उसी से उसके मन में भारी श्रद्धा और संभ्रम भर गया था। कभी भी उसका उल्लेख करने जा कर वही स्वर निकल पड़ता। बाप की याद आते ही हठात् माँ भी याद आ गयी। शायद इसी से प्रश्न निकल आया, "तेरी माँ? वह कुछ नहीं कहती थी?"

"होती, तो कहती। वह तो कभी की मरकर भूत हो चुकी है।" केशव फिर एक बार हँस पड़ा। लेकिन दिलीप के कान में वह हँसी रुलाई के समान सुनाई पड़ी।

इसके कुछ दिन बाद एक दिन शाम को खेल की घंटी बजते ही अन्य सब लड़के जब 'वॉलीबाल' लेकर व्यस्त थे, वे दोनों सबसे छिप कर उत्तर की ओर दीवार के पास एक खाली कोने में जा बैठे। केशव ने उस दिन न जाने किस लिए लोहा-मास्टर से डाँट खायी थी। उसका मन अच्छा नहीं था। शायद इसी से वस्टाल में आने से पहले के दिन उसे याद आ गये थे। समान दुख से दुखी मित्र के पास अपनापन होते ही सारी बात निकल पड़ी, जो उसने किसी दिन किसी को नहीं बतायी थी। वह जैसे स्वतः निकल रही हो, ऐसे भाव से वह धीरे-धीरे बोला था—

"माँ कब मर गयी, मुझे कुछ याद नहीं। पिता ने रात में शराब पीकर आते ही पेट पर लात मारी थी। वह सब मुझे पता नहीं था। पटल की माँ ने बताया। उसे मैं मौसी कहता था। उसी के पास खाता था, सोता था। फिर थोड़ा बड़ा होते ही पिता आकर लिवा ले गये। दोनों में कितना झगड़ा हुआ था। मौसी मुझे जाने नहीं देती थी, पिता छोड़ने को तैयार नहीं थे। उसके बाद सब लोग इधर-उधर से आ गये। और भी कुछ देर तक चीख-चिल्लाहट मची। अंत में देखा, मौसी बैठी-बैठी रो रही है और पिता मेरी गर्दन पकड़ कर खींचते-खींचते लिये जा रहा है। मेरी जाने की इच्छा कत्तई नहीं थी। लेकिन बाप का जो गुस्सा था, और देखने में जितने खूँखार थे, उससे र के मारे कुछ बोल नहीं सका।"

उसके बाद से ही उसके जीवन का दुखद इतिहास शुरू हो गया। उसके सब ाध्याय केशव ने अपने मित्र के पास एक-एक करके खोल दिये। शुरू से ही खाना न ने की बारी थी। पिता की अवस्था खराब नहीं थी, काफी अच्छी ही कही जा सकती थी। किसी बस्ती के खपरैल के एक घर में रहते थे। सुबह उठते ही केशव को चना-परवल खाने के लिए एक पैसा दिया करते थे। एक पैसे के चना-परवल से उसका पेट नहीं भरता था। एक दिन उसने कहा था, एक पैसा और दो न बाबू। बाप ने इतना डाँटा था कि फिर कभी कुछ माँगने का साहस नहीं पड़ा। सामान खरीद कर ला कर बाप खुद ही खाना पकाता। खाना बन जाने पर कलई की थाली में दो मुट्ठी भात, थोड़ी दाल और किसी दिन थोड़ी तरकारी देकर उसे खाने को बिठा देता। आधा पेट भी नहीं भरता। पोंछ-पोंछ कर आखिरी दाना खा चुकने पर भी बैठा रहता वह, शायद थोड़ा भात और मिल जाय। बाप डाँट कर उसे उठा देता। फिर खूब बड़ी थाली भर कर भात और कटोरी भर दाल तथा तरकारी ले कर वह एक घंटे तक बैठा-बैठा खाता रहता। खाकर ही सो जाता। शाम चढ़ जाने पर ही उठता। रात में खाना नहीं पकता था। नौ बजे बेटे के हाथ में चार पैसे थमाकर खुद निकल जाता। रोज का यही रवैया था। वह कहाँ जाता है, केशव तब नहीं जानता था। जाने से पहले कमर में

एक छुरा खोंस लेता और शरीर पर चादर डाल लेता। काफी रात तक भूख की ज्वाला से छटपटा कर केशव सो जाता। उसका बाप जब वापस लौटता, तब सुबह हो चुका होता।

फिर एक दिन रात के इस अभियान का रहस्य उसके आगे गोपन न रहा। उसे सिर्फ पता ही चला हो, इतना ही नहीं, बाप का साथ भी देना पड़ा। तब वह थोड़ा और बड़ा हो चुका था, लेकिन सिर्फ सिर से। शरीर से पतला ही था, सूखा-पतला चेहरा, जिस्म की एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। उस पर तेल लगा कर एक छोटा जाँघिया पहन, उसे प्रायः रात को ही निकलना पड़ता। किसी-किसी दिन तो चलते-चलते पैरों में दर्द हो जाता। फिर रात जब गहरी हो जाती, किसी एक मकान के पास खड़ा होकर उसका बाप बहुत देर तक इधर-उधर देखता रहता। सिर्फ घर ही नहीं, उसके आसपास, आगे-पीछे का रास्ता अच्छी तरह देखने के बाद वह फुसफुसा कर बोलता, "जाँघिया खोलकर मेरे कंधे पर चढ़ जा।"

वह दीवार पर चढ़कर बंद दरवाजे की चौखट से उस पार उतर जाता और कुंडी खोल देता। बाप दबे पाँव अंदर घुसता। खुली खिड़की से घूम-घूम कर कमरे के अंदर देखता। कभी दुतल्ले पर चढ़ जाता। फिर जिस कमरे में घुसना होता, उसकी खिड़की के सींखचे पकड़कर उन्हें टेढ़ा करने की कोशिश करता। किसी दिन सिर्फ हाथ से ही, लेकिन ज्यादातर एक मोटी लकड़ी के साथ रस्सी बाँधकर आहिस्ते-आहिस्ते सींखचे आड़े कर लेता। दो सींखचों के बीच दरार बढ़ जाते ही बेटे से कहता, 'घुस जा'। केशव आसानी से नहीं घुस पाता। कभी पीठ की चमड़ी छिल जाती, तो कभी सिर नहीं घुसता। धक्का-मुक्का दे कर उसकी क्षीण देह को भीतर ठूंसते हुए दबे गले से दाँत किटकिटाकर उसका बाप बोलता, "दिन-दिन बकरा होता जा रहा है, हराम-जादा। कल से कुछ भी खाने को नहीं दूँगा, सिर्फ पानी पीकर रहना होगा।"

कमरे में घुसते ही केशव का पहला काम था दरवाजा खोल देना। जरा-सी भी आहट न हो, कमरे में सोने वालों को भनक तक न पड़े। इसी से बाप मार-मारकर हड्डियाँ तोड़ देगा। दरवाजा खोलने के साथ-ही-साथ घुस पड़ता और लड़के को निर्देश था, सदर दरवाजे की आड़ में छिपा रहे, जब तक वह काम पूरा करके न लौटे। सब दिन सुविधा नहीं होती। तैयारी के दौरान ही कभी-कभी कोई जाग उठता। तब जान लेकर भागना पड़ता। अगर भाग्य प्रसन्न होता, तो बिना बाधा के काम पूरा हो जाता। हाथ के पास जो भी मिलता, उसे ही उसका बाप लेकर चला आता—घड़ी, कलम, सोने के बटन समेत रेशमी कमीज, कीमती साड़ी, रुपये भरा पर्स और इसी तरह का दूसरा कोई सामान। बॉक्स-पेटियाँ या दूसरी किसी भारी चीज पर हाथ नहीं लगाता था। एक बार एक सूटकेस लेकर रास्ते में निकल पुलिस के हाथ पड़ते-पड़ते बचा था। जल्दी से उसे फेंककर बाप-बेटा दोनों भागे थे।

एक दिन एक गृहस्थ के हाथों भी केशव पकड़ा गया था। दीवार फांदकर सदर दरवाजा खोलते ही एक हट्टे-कट्टे हिंदुस्तानी (बंगाल में पश्चिमी भारत के लोगों को हिंदुस्तानी कहते हैं) ने दौड़ के आ कर उसका एक हाथ पकड़ लिया था। लेकिन पकड़े नहीं रख सका। फिसल कर छूट निकला। उस दिन समझा था कि तेल लेकर बाप इतनी किटकिट क्यों करता था। तेल ने ही उसे उस दिन बचाया था। लेकिन इससे अगली बार वह काम में नहीं आया।

एक मंजिला मकान था। सींखचे मोटे-मोटे थे। बहुत कोशिश करने पर भी टेढ़े नहीं हो रहे थे। शायद लकड़ी की टक्कर लगने से थोड़ी आवाज हो गयी थी। अचानक एक लड़की चीख उठी—"चोर! चोर!" लकड़ी और रस्सी छोड़ बाप एक छलांग में आंगन पार कर उद्धार पा गया। केशव नहीं पा सका। वह भी जी-जान से भागा था। लेकिन गेट तक पहुँचने से पहले ही सिर में चक्कर आ गया। उस रात प्रायः कुछ भी नहीं खाया था। 'मोटा' हो रहा है, कहकर रोज के उस सामान्य खाने से भी उसके बाप ने कम दिया था। भागते-भागते उसके दोनों पैर जैसे जड़ हो गये। वह दरवाजे के सामने बैठ गया। साथ-ही-साथ लातों-घूंसों की बौछार शुरू हो गयी। यह पर्व कितनी देर चला, केशव ठीक से नहीं जान पाया। कुछ क्षण में ही वह मूर्च्छित हो गया था। जब होश आया, तब देखा किसी अनजानी जगह में बेंच पर सोया हुआ है। बाद में पता चला कि वह थाना है।

● ● ●

छह

मनुष्य का जीवन लेकर कितने ही लोग कितनी ही गवेषणाएँ कर गये हैं और अब भी कर रहे हैं। कवि, दार्शनिक और कर्मवीरों ने मनुष्य-जीवन को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा है और उसकी तुलना नाना प्रकार की वस्तुओं से की है। किसी ने उसे नदी का स्रोत कहा है तो किसी ने रंगमंच। किसी के मत में यह जीवन एक कोरा स्वप्न है और किसी के विचार में मरीचिका। एक अन्य वर्ग ने उनका उपहास किया है। उसका कहना है कि जीवन एक विरामहीन संग्राम है, गुलाब का कुंज नहीं, कठिन-कठोर राजपथ है।

बस्ट्राल स्कूल के परिचालन के पीछे जो नीति है, उसमें शायद इस अंतिम उक्ति का ही समर्थन मिलता है। जो कारीगर सड़क बनाते हैं, उनका प्रधान लक्ष्य कोलतार डाल कर अथवा सिमेंट मिला कर उसे ठोस बना डालना रहता है, कहीं कोई कसर न रहने पाये। यहाँ के 'इनमेटों' के रोजमर्रा के जीवन को वैसे ही एक प्रकार के डिस्टीन के सख्त सिमेंट से ठोस बनाना इसका उद्देश्य है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक

उन्हें अनुशासन की जंजीर से बाँध कर रखा जाता है। शायद सूर्योदय से सूर्यास्त की बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि उदय से कुछ देर पहले से अस्त के बहुत देर बाद तक, अर्थात् एक नींद के छोर से छूटने के बाद दूसरी नींद की गोद में पड़ने का निर्दिष्ट क्षण न आने तक, उन्हें प्रति क्षण कर्तव्य पूरा करना होता है। सारे समय को घंटों-मिनिटों में बाँट कर उन्होंने निर्देश दे रखा है, किस समय वे क्या करें और क्या न करें। आहार-विहार, श्रम और विश्राम की कोई भी त्रुटि एक मिनट के लिए भी उनकी अपनी छोड़ी हुई नहीं है, जिसके सहारे वे कह सकें—"वही करूँगा जो मेरे मन में आयगा।"

इसका मतलब यह नहीं कि वे सिर्फ काम ही करते हैं, खेल-कूद या आमोद नहीं करते। उसकी भी व्यवस्था है, इस तरह के प्रतिष्ठान में जितनी अपेक्षा की जाती है उससे भी ज्यादा है, कम नहीं। किंतु सब कोडीफाई हैं, कानूनबद्ध रूटीन के अनुकूल हैं। खेल के घंटे में खेलना ही होगा। अगर कोई कहे कि आज उसकी खेलने की इच्छा नहीं है, तो वह दंड का पात्र है। उसे सुपरिंटेंडेंट सजा दे सकते हैं। इच्छा नाम की कोई वस्तु उसके पास नहीं, अपने कल्याण के लिए वह इस समय सरकारी हिफाजत में है। काम में खटने के समान खेलना भी उसे 'अनिवार्य' है, 'कंपलसरी' है। उसके मनोरंजन की ओर भी सरकार की सजग दृष्टि है। रेडियो है, नियमित गाने-बजाने, नाटक, उत्सव, सरस्वती-पूजा के हो-हुल्लड़ हैं। जब उसके दलबद्ध 'रिक्रीयेशन' की बारी है, तब यदि वह कह बैठे—मुझे अच्छा नहीं लगता, मैं थोड़ा एकांत में बैठना चाहता हूँ, तो यह दंडनीय अपराध होगा—पनिशेबिल ऑफेंस। उसके लिए चिंतित होना व्यवस्थापकों का काम है। वे जानते हैं कुछ न कर के अपने मन से अकेला रहना विपत्तिजनक है। 'एम्पटी ब्रेन इज ए डेविल्स वर्कशॉप' (खाली दिमाग शैतान का कारखाना होता है)।

इतने सारे विपथगामी बालकों की जीवन-नैया को तरंगहीन नदी में से समान भाव से चला कर ले जाने का जिन पर दायित्व है, वे खुद आ कर बीच-बीच में वहाँ तूफान पैदा कर जाते हैं। संध्या के समय हठात् आ कर देखा, हेडमास्टर कहानियों का पीरियड लेने की तैयारी कर रहे हैं। लड़कों के मुँह पर अमावस्या उतर आयी थी। कहानी के नाम पर नीति-वचन उनके लिए कुनैन की भाँति कड़वे हो चुके थे। साहब बोल उठे, "कहानी नहीं, अब इनका 'जो खुशी का क्लास' है।" 'जो खुशी का क्लास' का मतलब? मतलब, जिसकी जो खुशी हो वह करे—चित्र बनाये, घूमे-फिरे, छिपा-छिप्पौवल खेले, गप्पें लड़ाये या फिर इच्छा हो तो चुपचाप बैठा रहे। पलक झपकते पक्षियों के एक झुंड के समान लड़के कहाँ उड़ गये, वे ही जानें।

हेडमास्टर के क्षुब्ध गंभीर मुख की ओर सुपर साहब ने एक बार वक्र दृष्टि से देखा। उनके होठों के कोनों पर मृदु हँसी की एक क्षीण रेखा आ गयी। फिर विशाल देह और क्षुद्र छड़ी से सदल-बल बाहर चले गये।

फिर एक दिन ऑफ़िस में बैठे काम कर रहे थे। अचानक मन में कुछ आया। अंदर चल दिये। हॉल में मास्टर क्लास ले रहे थे। चार-पाँच श्रेणियाँ थीं। बीच में लकड़ी के पार्टीशन लगे थे। साहब को देख अध्यापकों का कंठस्वर ऊँचा हो गया और उसके साथ ही छात्रों का गुंजन भी बढ़ गया। यहाँ पढ़ने वालों की संख्या मोटे तौर पर एक-तिहाई थी। बाकी सब वर्कशॉप—करघा, दर्जीशाला, चमड़ा विभाग, लकड़ी विभाग, जिल्दसाजी, प्रेस इत्यादि—में काम सीखते। साहब ने चीफ ऑफीसर को हुक्म दिया, घंटी बजवा दो। टन-टन करके असमय में घंटी बज गयी छुट्टी की। लड़कों के बाहर निकल कर आते ही, सुपर साहब के निर्देश से उन्हें मैदान में देवदारु वृक्ष की छाया में खड़ा किया गया। पीछे अरदली के हाथ में एक बड़ा हैंडबेग था। अंदर क्या है किसी को पता नहीं। नाना लोगों के मन में नाना प्रकार के अंदाज लग रहे थे। सभी अनुमानों को झुठला कर, सभी को अवाक् बना कर, बाहर निकल आयीं कितनी ही छोटी-छोटी रंगीन नोटबुकें और उनके साथ एक-एक पेंसिल। अपने हाथ से छोटे-बड़े सब लड़कों को एक नोटबुक और एक पेंसिल थमा कर साहब बोले, "ये स्कूल की नहीं हैं, तुम्हारी हैं। जिसकी जो इच्छा हो, लिखना। साँप-बाघ जो भी आँकना हो, आँकना। किसी को दिखानी नहीं पड़ेगी।"

लेफ्टीनेंट घोष के नित्य नये पागलपन शहर के सरकारी अमले में प्रायः ही चर्चा का विषय रहते। यह मामला प्रचारित हुआ, तब शासन विभाग के अनेक उच्चस्तरीय अधिकारी व्यंग करके बोले, "बस्ट्राल के बच्चों को शायद अभी से लेखक बनाना चाहते हैं?"

"बनाना क्यों पड़ेगा? अन्य सबके समान वे भी जन्मजात लेखक हैं, बॉर्न राइटर्स।"

"कैसे?"

"लेखक नहीं तो और क्या? मैं और आप डेम, डिक, हेयरी मनुष्य नाम के जिस दो पैर के प्राणी को जानते हैं, उनमें से प्रत्येक ही कुछ-न-कुछ लिखता है यानी रचना करता है—कोई मन-ही-मन, कोई मुंह से, कोई कागज के पन्नों पर तो कोई कैनवास पर। आप लोगों की किताबों में ही तो है, मनुष्य विधाता की प्रतिछाया है—'इमेज ऑफ गॉड' है। अगर ऐसा है तो वह भी स्रष्टा है। एक छोटा रवि ठाकुर है।"

वह सज्जन बंगाली ईसाई थे। उन्होंने लक्ष्य किया, आसपास जितने लोग उपस्थित थे, सभी एक विशेष कौतुक की दृष्टि से उन्हें ताक रहे थे, शायद उनके पद-मर्यादा के खयाल से जी खोल कर हँस नहीं पा रहे थे। उन सज्जन ने बात आगे न बढ़ा कर प्रसंग छेड़ दिया। मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली, इस पागल से अब नहीं भिड़ेंगे।

और एक दिन यही नोटबुक लेकर स्कूल सेक्शन के सेकेंड मास्टर आशुतोष बाब हो रही थी। यहाँ के कर्मचारियों में दो-चार सिपाहियों को छोड़ कर,

आशुबाबू ही साहबों में वयोवृद्ध थे। सिर्फ इसीलिए नहीं, इस बाहर से वृद्ध अंदर से शिशु, सदा संकुचित, दरिद्र व्यक्ति में और भी कुछ था, जिसके लिए साहब मन-ही-मन उनका सम्मान करते थे। मुंह से हँसी-मजाक करने में अवश्य ही कोई परहेज न था। आशुतोष बाबू के पास सिर्फ एक ही कमीज थी वह भी बाबा आदम के जमाने की ट्वील की। सप्ताह में एक बार अपने हाथ से साबुन लगा कर धो लेते। एक बार धोते समय पीठ पर काफी फट गई थी। अगले दिन उसी को पहन कर आये। साहब ने उन्हें कुछ नहीं कहा, पास खड़े डिप्टी से बोले, "सर, आशुतोष की सभी बातें उलटी हैं। हम लोग कमरे में सामने की तरफ दरवाजा लगवाते हैं, इन्होंने पीछे की तरफ लगवाया है।" बात कान में पहुँचते ही आशुतोष बाबू उस समय सिर झुका कर खिसक गये। लेकिन अगले दिन छुटकारा नहीं पा सके। किसी एक काल्पनिक व्रत के उपलक्ष्य में 'मेम साहब' के पास से ब्राह्मण-भोज का निमंत्रण आ पहुँचा। जाये बिना उपाय नहीं था। भोजन करने के बाद जब घर लौटने की तैयारी कर रहे थे, 'बॉस' की पत्नी सामने आ, हाथ आगे कर बोली, 'भोजन की दक्षिणा'—सफेद धोती के साथ ही ट्वील की एक कमीज थी। आशुबाबू ने असहाय फैली-फैली आँखों से साहब की ओर देखा। वह जैसे डाँट उठे, "मेरी ओर देख कर क्या होगा ? मैं क्या करूँ ? दक्षिणा दिये बिना ब्राह्मण भोजन का पुण्य नहीं होता। यह सारी विधि तो कभी आप लोगों ने ही बनाई थी। गृहणी के पाप से आखिर में मुझे भी घोर नरक में डालोगे क्या ?"

आशुबाबू ने विवाह नहीं किया था। दो-एक दूर के संबंधियों के अलावा और कोई नहीं था। वे दूर ही रहते और महीने के अंत में कुछ-न-कुछ हिस्सा पा जाते। और थे एक गुरु। आत्मीयों की जरूरत पूरी कर वेतन का सामान्य भाग जो बच रहता, प्रायः सारा-का-सारा उनके आश्रम में दे आते। अपने लिए सिर्फ भात अथवा एक सब्जी की व्यवस्था थी। बीच-बीच में अर्थात् महीने के अंतिम कुछ दिन तो वह भी रोज नहीं जुटता। सहकर्मी सब कुछ जानते थे। इसलिए ब्राह्मण भोजन प्रायः ही होते रहते। इसके अलावा, इस-उस घर से कभी कुम्हड़े की सब्जी मिला कर बनायी गई मटर की दाल या कभी एक कटोरी बड़ी मिला कर बनाया गया शुकता (एक भुर्जी) उनके खाने के समय पहुँच जाता। जो लोग खाने की चीज नहीं भेज सकते, वे सीधा देते—पांच पाव, चावल उसके साथ थोड़ा तेल-नमक, दाल-मसाला। आशुबाबू आजन्म निरामिष भोजी थे, किंतु खा ज्यादा सकते थे। उन्हें निमंत्रण देने का मतलब था दो जन के लायक तैयारी करना। सहकर्मी जानते थे और वैसी ही व्यवस्था करते थे। उपलक्ष्य कोई हो या न हो, खाने के लिए बुलाये जाने पर आशुबाबू [illegible] नहीं करते। घरों के बच्चे प्रायः ही निमंत्रण देने पहुँचते। वह पूछते—"लौकी [illegible] तो बनेगी न, रे ?"

"बनेगी।"

फिर एक दिन ऑफ़िस में बैठे काम कर रहे थे। अचानक मन में कुछ आया।
र चल दिये। हॉल में मास्टर क्लास ले रहे थे। चार-पाँच श्रेणियाँ थीं। बीच में
कड़ी के पार्टीशन लगे थे। साहब को देख अध्यापकों का कंठस्वर ऊँचा हो गया और
सके साथ ही छात्रों का गुंजन भी बढ़ गया। यहाँ पढ़ने वालों की संख्या मोटे तौर
र एक-तिहाई थी। बाकी सब वर्कशॉप—करघा, दर्जीशाला, चमड़ा विभाग, लकड़ी
विभाग, जिल्दसाजी, प्रेस इत्यादि—में काम सीखते। साहब ने चीफ ऑफीसर को हुक्म
दिया, घंटी बजवा दो। टन-टन करके असमय में घंटी बज गयी छुट्टी की। लड़कों के
बाहर निकल कर आते ही, सुपर साहब के निर्देश से उन्हें मैदान में देवदारु वृक्ष की
छाया में खड़ा किया गया। पीछे अरदली के हाथ में एक बड़ा हैंडबेग था। अंदर क्या
है किसी को पता नहीं। नाना लोगों के मन में नाना प्रकार के अंदाज लग रहे थे। सभी
अनुमानों को झुठला कर, सभी को अवाक् बना कर, बाहर निकल आयीं कितनी ही
छोटी-छोटी रंगीन नोटबुकें और उनके साथ एक-एक पेंसिल। अपने हाथ से छोटे-बड़े
सब लड़कों को एक नोटबुक और एक पेंसिल थमा कर साहब बोले, "ये स्कूल की नहीं
हैं, तुम्हारी हैं। जिसकी जो इच्छा हो, लिखना। साँप-बाघ जो भी आँकना हो,
आँकना। किसी को दिखानी नहीं पड़ेगी।"

लेफ्टीनेंट घोष के नित्य नये पागलपन शहर के सरकारी अमले में प्रायः ही चर्चा
का विषय रहते। यह मामला प्रचारित हुआ, तब शासन विभाग के अनेक उच्चस्तरीय
अधिकारी व्यंग करके बोले, "बस्ट्राल के बच्चों को शायद अभी से लेखक बनाना
चाहते हैं?"

"बनाना क्यों पड़ेगा? अन्य सबके समान वे भी जन्मजात लेखक हैं, बॉर्न
राइटर्स।"

"कैसे?"

"लेखक नहीं तो और क्या? मैं और आप डेम, डिक, हेयरी मनुष्य नाम के
जिस दो पैर के प्राणी को जानते हैं, उनमें से प्रत्येक ही कुछ-न-कुछ लिखता है यानी
रचना करता है—कोई मन-ही-मन, कोई मुंह से, कोई कागज के पन्नों पर तो को
कैनवास पर। आप लोगों की किताबों में ही तो है, मनुष्य विधाता की प्रतिछाया है-
'इमेज ऑफ गॉड' है। अगर ऐसा है तो वह भी स्रष्टा है। एक छोटा रवि ठाकुर है

वह सज्जन बंगाली ईसाई थे। उन्होंने लक्ष्य किया, आसपास जितने लोग उप
थे, सभी एक विशेष कौतुक की दृष्टि से उन्हें ताक रहे थे, शायद उनके पद-मर्या
खयाल से जी खोल कर हँस नहीं पा रहे थे। उन सज्जन ने बात आगे न ब
प्रसंग छेड़ दिया। मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली, इस पागल से अब नहीं भि

और एक दिन यही नोटबुक लेकर स्कूल सेक्शन के सेकेंड मास्टर अ
बात हो रही थी। यहाँ के कर्मचारियों में दो-चार सिपाहियों को

आशुबाबू ही साहबों में वयोवृद्ध थे। सिर्फ इसीलिए नहीं, इस बाहर से भुक्त अंदर से निरा, सदा संकुचित, दरिद्र व्यक्ति में और भी कुछ था, जिसके लिए साहब मन-ही-मन उनका सम्मान करते थे। मुंह से हँसी-मजाक करने में अवश्य ही कोई परहेज न था। आशुतोष बाबू के पास सिर्फ एक ही कमीज थी वह भी आधा आदम के जमाने की टुईल की। सप्ताह में एक बार अपने हाथ से साबुन लगा कर धो लेते। एक बार धोते समय पीठ पर काफी फट गई थी। अगले दिन उसी को पहन कर आये। साहब ने उन्हें कुछ नहीं कहा, पास खड़े डिप्टी से बोले, "सर, आशुतोष की सभी बातें उलटी हैं। हम लोग कमरे में सामने की तरफ दरवाजा लगवाते हैं, इन्होंने पीछे की तरफ लगवाया है।" बात कान में पहुँचते ही आशुतोष बाबू उस समय सिर झुका कर [illegible] गये। लेकिन अगले दिन छुटकारा नहीं पा सके। किसी एक काल्पनिक व्रत के उपलक्ष में 'मेम साहब' के पास से ब्राह्मण-भोज का निमंत्रण आ पहुँचा। जाने बिना उपाय नहीं था। भोजन करने के बाद जब घर लौटने की तैयारी कर रहे थे, 'बॉस' की पत्नी सामने आ, हाथ आगे कर बोली, 'भोजन की दक्षिणा'—सफेद धोती के साथ ही टुईल की एक कमीज थी। आशुबाबू ने असहाय फैली-फैली आँखों से साहब की ओर देखा। वह जैसे डांट उठे, "मेरी ओर देख कर क्या होगा? मैं क्या करूं? दक्षिणा दिये बिना ब्राह्मण भोजन का पुण्य नहीं होता। यह सारी विधि तो कभी आप लोगों ने ही बनाई थी। गृहणी के पाप से आखिर में मुझे भी घोर नरक में डालोगे क्या?"

आशुबाबू ने विवाह नहीं किया था। दो-एक दूर के संबंधियों के अलावा और कोई नहीं था। वे दूर ही रहते और महीने के अंत में कुछ-न-कुछ हिस्सा पा जाते। और थे एक गुरु। आत्मीयों की जरूरत पूरी कर वेतन का सामान्य भाग जो बच रहता, प्रायः सारा-का-सारा उनके आश्रम में दे आते। अपने लिए सिर्फ भात अथवा एक सब्जी की व्यवस्था थी। बीच-बीच में अर्थात् महीने के अंतिम कुछ दिन तो वह भी रोज नहीं जुटता। सहकर्मी सब कुछ जानते थे। इसलिए ब्राह्मण भोजन प्रायः ही होते रहते। इसके अलावा, इस-उस घर से कभी कुम्हड़े की सब्जी मिला कर बनायी गई मटर की दाल या कभी एक कटोरी बड़ी मिला कर बनाया गया भुजिया (एक [illegible]जी) उनके खाने के समय पहुँच जाता। जो लोग खाने की चीज नहीं भेज सकते, वे सीधा देते—पाँच पाव, चावल उसके साथ थोड़ा तेल-नमक, दाल-मसाला। आशुबाबू आजन्म निरामिष भोजी थे, किंतु खा ज्यादा सकते थे। उन्हें निमंत्रण देने का मतलब था दो जन के लायक तैयारी करना। सहकर्मी जानते थे और वैसी ही व्यवस्था करते थे। उपलक्ष्य कोई हो या न हो, खाने के लिए बुलाये जाने पर आशुबाबू 'हाँ' कहा करते। घरों के बच्चे प्रायः ही निमंत्रण देने पहुँचते। वह पूछते—"[illegible] को तो बनेगी न, रे?"

"बनेगी।"

"माँ से ज्यादा वनाने को कहना।"

पोपले मुंह से एक गाल हँसते 'जय गुरु' वोलते हुए ठीक समय पर उपस्थित हो जाते। जाति के संवंध में कोई वहम-विचार नहीं था। भोज्य-वस्तु के वारे में भी यही वात थी। लौकी की सब्जी पर ज्यादा रुझान था। आशुवावू का एक प्रिय खाद्य और था—खीर। यह प्रायः नहीं मिलती थी। वस्ट्राल की नौकरी करके खीर कौन खिला सकता था? यदा-कदा विवाह भोज का उपलक्ष्य होने पर थोड़ी-वहुत मिल जाती। किंतु वर्ष में एक दिन दिल भर कर खीर खाते आशुवावू—जिस दिन स्कूल में लड़के सरस्वती-पूजा करते। उस दिन लड़कों के चंदे से स्पेशल खाना वनता। एक-एक वार एक-एक ढंग का मीनू रहता। लेकिन खीर 'कॉमन-फैक्टर' थी। आशुबावू एक भगौना लेकर वैठते, लड़के उन्हें घेर कर खिलाते। 'सेकेंड सर' से सभी प्रेम करते थे।

नोटवुक के वितरण के मामले को आशुवावू ने अन्य सवके समान हलका करके नहीं देखा। यह उनका सिर्फ निरर्थक विचार नहीं था, इस सामान्य वस्तु के जरिये साहव ने शायद वाल-मन की एक चिरंतन इच्छा पूरी करने की कोशिश की थी, आत्म-विकास की इच्छा। यह मन भी फूल के समान खिला रहना चाहता है। यही उसका स्वभाव है। दूसरों की इच्छा से नहीं, विधान-वद्ध उद्देश्य के भय से भी नहीं, नित्य क्रम से वाहर उसकी जो इच्छा, खुशी, अनियम का राज्य होता है, उसी की प्रेरणा से। वहाँ सभी स्वतंत्र हैं, प्रत्येक का अलग मार्ग है, अलग रीति है।

हर लड़के के पास नोटवुक का एक अलग गहरा मतलव था। यहाँ उनका जो कुछ था, सव सरकारी था। यह एक तुच्छ वस्तु उनकी अपनी थी। इसे लेकर वे जो चाहे कर सकते थे। इसके लिए किसी के सामने जवावदेही नहीं करनी थी।

नोटवुकों की क्या गति हुई, यह जानने के लिए साहव के मन में प्रचुर कौतूहल था। आशुवावू को लेकर यही खवर गुप्त रूप से जुटाने की चेष्टा में थे। लड़कपन का जो नियम है, दो-चार दिन की दवा-ढकी के वाद नोटवुक के संवंध में उनके मालिकों की सावधानी काफी हद तक शिथिल पड़ गयी। किसी-किसी को इधर-उधर डाले रखते भी देखा गया। उन्हीं में से कुछ को सवकी नजरों से वचा कर, जेव में [illegible] आशुवावू मौका निकाल के साहव के कमरे में पहुँचे।

प्रत्येक कॉपी में ही कुछ-न-कुछ लिखा था। एक ने सिर्फ चित्र ही आंके [illegible] पहले चित्र को काफी देर तक देखने के वाद ही लग सका कि इंसान का चेहरा वन गया है। मुंह एकदम गोल, पतला गला, वहीं से पेट शुरू हो गया था, नीचे दो [illegible] झूल रहे थे। नीचे परिचय दिया हुआ था—'साहव'। अगले पन्ने प[illegible] ने की कोशिश की गयी थी। कौन-सा पक्षी है, यह चित्रकार ही वत[illegible] अन्य कॉपी में चार लाइन की कविता मिली। लगता था कवि ने [illegible]

को लक्ष्य करके लिखा था—

"ऐसा झापड़ मारूँगा 'हेड' पर, फट-फटाफट फाट।"

"टीथ' झड़ कर गिर पड़ेंगे, एक भी वचेगा 'नॉट"

इसमें 'हेड', 'टीथ' और 'नॉट' शब्द अंग्रेजी में लिखे थे। पन्ना पलटते ही एक कविता और मिली। उसका भाव और भी गंभीर था। इसमें भी 'मैंगो और हनी' शब्द अंग्रेजी में लिखे गये थे।

"मैंगो" पेड़ की दरार से भंवरा पुकारे

चाक जव वनायेगा, 'हनी' मिलेगा ढेर सा"

"यह तो देखता हूँ सव्यसाची अर्जुन को भी मात दे गया है," गंभीरता से साहव ने मत व्यक्त किया, "वह दो हाथ से वाण चलाते थे और यह एक ही कविता से दो-दो भाषा चला रहा है।"

एक और कॉपी खोल कर देखते ही सुपर साहव हठात् गंभीर हो गये। कच्चे लेख में गलतियों के साथ लिखा गया था—"सतीश दा अमिय को जवरदस्ती चूम रहे थे। अमिय रो रहा था। डर से शिकायत नहीं करता।"

उस लिखावट को आशुवावू की ओर वढ़ा कर वोले, "देख रहे हैं, सर। सतीश लड़के को लेकर मुसीवत उठ खड़ी हुई है। सिर्फ सतीश ही नहीं, इस तरह के कई और भी हैं। छोटे लड़कों को, खास कर अमिय, शम्सुल, दिलीप, विजय को अलग रखना होगा।"

"जानता हूं," वैसे ही गंभीर स्वर में घोष साहव आगे वोले, "सतीश और शिराजुल का दोष नहीं, दोष उनकी उम्र का है। 'अर्ली पीरियड ऑफ एडोलसेंसी' वहुत गोल-माल का समय होता है। किंतु करें भी क्या ? अधिकारियों को इतना समझाया कि एक पत्थर से दो पची मारना सव जगह नहीं चलता। इन दोनों ग्रुपों को एक साथ रख कर दोनों का ही सर्वनाश हो रहा है। वस्ट्राल और इंडस्ट्रियल सव वातों में ही अलग हैं। दो अलग-अलग स्कूल चाहिए। कोई कान ही नहीं देता। एक अधिकारी ने तो कह दिया, "इतने से लड़कों को लेकर दो इंस्टीट्यूशन की क्या जरूरत है ?" अरे क्या संख्या ही सव कुछ है ? एक लाख लड़कों को पाल-पोस कर इंसान वनाने से एक लड़के को ठीक से खड़ा करने का महत्त्व ज्यादा है। यह समझते हैं क्या ?···मरने दो, मेरा क्या जाता है ?"

'वॉस' के मुंह से निराशा और विरक्ति के चिह्न फूट उठते देख आशुवावू कुछ चण सोचते रहे। फिर थोड़ी दुविधा और संकोच के साथ वोले, "एक वात सोची है, पर मुझे वोलना शायद ठीक न होगा।"

"विल्कुल होगा। वोलिये न ?"

"रात के वक्त तो अलग ही रखा जाय। जव तक स्कूल में रहते हैं, नजर रखने

में विशेष असुविधा नहीं है, हालाँकि अक्सर छोटे-बड़े लड़कों का मिला-जुला क्लास करना पड़ता है। कितने ही बड़े लड़के तो 'क' 'ख' भी नहीं पहचानते। पर मुश्किल तब है जब वे वर्कशॉप में जाते हैं। इतना समय तक""। इसके अलावा""।"

"इंस्ट्रक्टर लोग बिल्कुल नहीं देखते ?"

"जी ! मैं यह बात नहीं कह रहा।"

"आप क्यों कहेंगे ? हम सभी जानते हैं। सोचते भी हैं। लेकिन""जाने दो। आप इस समय जाइये। फिर जब जरूरत होगी, बुलाऊँगा।"

"एक बात और है, सर। दिलीप की माँ की कोई खबर नहीं मिली क्या ?"

"अरे, कुछ कहिए मत" मुख से निराशासूचक शब्द निकाल कर सुपर साहब ने सिर हिलाया। "यही देखिए ना।"—कह कर दायीं ओर रखी एक मोटी फाइल दिखा दी। बोले, "कलकत्ता पुलिस पहले कोई पता ही नहीं देना चाह रही थी। लिख दिया 'इस प्रकार की मामूली जानकारी पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। और विवरण दिया जाय।' अरे, हो तभी न दें ? लड़का तो माँ का नाम भी नहीं बता पा रहा है। किसी ने सिखाया जो नहीं। पड़ोस के लोग 'मुन्ने की माँ' कह कर पुकारते थे, इतना ही जानता है। वह बात जाने दीजिए, मैं इस उम्र में भी अपनी माँ का नाम नहीं जानता, लेकिन वृद्ध प्रपितामह का नाम खट से बता सकता हूँ।...."

कह कर हँस उठे। हँसी रोक कर बोले, "जो हो, अभी तक कोशिश नहीं छोड़ी है। डी० सी० को एक डी० ओ० लिखा है। सोचता हूँ आज रिमाइंडर भेज दूँ। क्यों, क्या वह अपनी माँ के बारे में कुछ कह रहा था ?"

"जी नहीं। उसकी कॉपी में देखा था," कह कर आशुबाबू ने दिलीप की नोटबुक आगे कर दी।

पहले पन्ने पर सिर्फ नाम था, ठीक बीच में। दोनो ओर समान स्थान छोड़ कर मोटे-मोटे अक्षर लिखे थे—श्री दिलीपकुमार भट्टाचार्य। सुपर उस नाम पर कुछ देर तक नजर टिकाये रहे। फिर पन्ना पलटते ही कच्चे किंतु परिष्कृत हाथ से लिखी कुछ पंक्तियों पर दृष्टि गयी—"माँ री, कल रात में भी मैंने तुम्हें स्वप्न में देखा। तुम बरामदे में बैठी रो रही थीं। उसी समय जो नींद टूटी, तो फिर से नहीं सो सका। मेरे लिए रोओ नहीं। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ। ये सब लोग मुझसे प्रेम करते हैं। —तुम्हारा मुन्ना।"

कुछ नहीं, एक अत्यंत साधारण पत्र, जो सभी लड़के अपनी माँ को लिखते हैं। फर्क सिर्फ इतना ही, वे पत्र भेजे जाते हैं, उनका जवाब आता है; लेकिन वह पत्र केवल कॉपी के पन्ने पर लिखा रह गया था। जिसके लिए लिखा गया है, उसके पास कभी नहीं पहुँचेगा, कभी कोई सामान्य उत्तर भी न आएगा।

नोटबुक को धीरे से बंद कर घोष साहब खिड़की के बाहर लक्ष्यहीन दृष्टि टिका

कर स्तब्ध हो बैठे रहे। आशुबाबू भी और कोई बात नहीं बोले। चुपचाप नोटबुक बटोर कर नत हो नमस्कार किया और पस्त-भाव से धीरे-धीरे निकल गये।

डिप्टी सुपर को पहले लगा उन्होंने सुनने में गलती की है। फिर जैसे वह आकाश से गिरे हों, इस भाव से बोले, "क्या कह रहे हैं, सर! इतने लड़के वर्कशॉप में न जाकर क्या करेंगे?"

साहब सहज भाव से ही बोले, "वहाँ जाकर ही वे क्या करते हैं? लकड़ी मास्टर के पके बाल तोड़ेंगे या लोहा मास्टर की पीठ में गुदगुदी करेंगे। ऐसे भीषण आवश्यक काम न ही हों तो क्या है?"

संतोषबाबू गंभीर व्यक्ति थे। कामकाज की बात में हँसी-मजाक का घुसना पसंद नहीं करते। बोले, "कानून में तो इस सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं। बड़े-छोटे सभी आयु-वर्गों के लिए एक ही व्यवस्था है। तीन घंटे स्कूल और पांच घंटे वर्कशॉप। यह रूटीन हम बदल ही कैसे सकते हैं?"

यह बात साहब भी जानते थे। जानते हैं, इसीलिए दस-बारह वर्ष के अपराधी लड़कों के इस पाँच घंटे की वर्कशॉप-ट्रेनिंग का हास्यकर प्रहसन प्रतिदिन आँखों से देखते हुए भी चुपचाप सहन करते रहे। एकदम मौन रह कर नहीं, मन-ही-मन छटपटाते रहे, बीच-बीच में मिजाज को काबू में न रख सकने पर अपने स्टाफ पर बेकार में ही बिगड़ते रहे, इससे ज्यादा और कुछ नहीं कर सके। उच्च अधिकारियों से पत्र-व्यवहार चला सकते थे। किंतु दीर्घकाल के अनुभव से वह समझ चुके थे, उससे कागज, कलम और समय की बर्बादी के अलावा और कुछ नहीं हासिल होगा। जो पदार्थ जड़ है, उसे हिलाने-डुलाने की कोशिश बेकार है। इसीलिए लिखा-पढ़ी करने का उन्हें उत्साह नहीं था। फिर भी, लड़कों को जब भी देखते, छटपटाये बिना भी नहीं रह पाते। सचिवालय की दूर दुनिया में बैठ कर जो लोग कलम चलाते हैं, उनके लिए यह दूरी सुविधाजनक ही है। उस लेखनी का प्रत्येक खोंचा जिन पर लगता है, वे तो उनकी नजर की ओट हैं। यह तो देख नहीं पाते कि खोंचा कहाँ जा कर लगा है, अथवा ठीक से लगा भी है या नहीं।

डिप्टी ने जो आपत्ति उठाई थी, उसके उत्तर में इस प्रकार का प्रसंग भी घोष साहब के मुंह से सुना गया। बोले, "मुश्किल क्या है, जानते हैं? जो 'रूल' बनाते हैं, उनके हाथ में कई दस्ते कागज और कलम रहती है, और हमारे हाथ में आ कर पड़ते हैं जल-जंतु मानव। वह भी पूरे मनुष्य नहीं, कोई आधा, कोई चौथाई। प्रत्येक की जाति-गोत्र अलग है, मन-स्वभाव अलग है, रुचि-प्रकृति, मेधा-बुद्धि सब अलग-अलग है। फिर भी एक ही 'रूल' का 'रोलर' चला कर सबको एकसार करना होता है, क्यों? ये क्या कोई पेड़ या ईंट-पत्थर हैं?"

इस प्रकार की बड़ी-बड़ी बातों का क्या महत्त्व है, संतोषबाबू किसी दिन नहीं

समझ पाते। फिर भी उच्च अधिकारी के साथ यह ले कर तर्क भी तो नहीं किया जा सकता। ऑफिस डिसीप्लिन की खातिर यह सब कई बार सुनना पड़ता, इसी से सुन लिया। घोष साहब फिर बोले, "उच्च अधिकारियों के सिर में 'वोकेशनल ट्रेनिंग' (व्यावसायिक प्रशिक्षण) घुसी है। क्या करना है ? बस, इतने सारे दस-बारह वर्ष के छोटे बच्चों को पकड़ कर रोज पाँच घंटे वर्कशॉप में काम कराना पड़ेगा। 'इज़ इट नाट 'रिडिक्यूलस' (क्या यह हास्यास्पद नहीं है) ? हाथ-कलम से कोई काम सीखने लायक उम्र इनकी हो गयी है या वैसी अकल आ चुकी है ? इसके अलावा हमें क्या अधिकार है इन छोटे बच्चों को यहाँ पर मिस्त्री बनाने का ? सभी सभ्य देशों के लड़के-लड़कियाँ अंततः चौदह वर्ष तक स्कूल जाते हैं। इन्हें वह अवसर क्यों नहीं दिया जायगा ? नहीं, महाशय, रूल जो भी हों, वर्कशॉप के नाम पर इन बच्चों का भविष्य मैं नष्ट नहीं कर सकता। कल से, चौदह वर्ष से छोटे जितने बच्चे हैं उन सबको आप कमान के मुँह से निकाल लीजिए। आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ, उनका वहाँ कोई काम नहीं होता है, सिर्फ उनके जहन्नुम जाने का रास्ता तैयार होता है।"

"फिर वे इतने समय में क्या करेंगे ?" क्षुब्ध मुख से डिप्टी ने विरक्ति के स्वर में पूछा।

"पढ़ेंगे। हेडमास्टर को कह दीजिए, ताकि वे सब अच्छी तरह पढ़ा करें। इस ओर सख्त होना ही पड़ेगा।"

संतोषबाबू चले जा रहे थे। साहब ने इसके साथ ही एक नया निर्देश जोड़ दिया, "उनमें जो लड़के कुछ पढ़ना-लिखना जानते हैं, जैसे दिलीप और शम्सुल, उन्हें कुछ घंटे प्रेस का काम सीखने को दिया जाय। मशीन नहीं, कम्पोजिंग सीखने को कहो।"

दिलीप आने के बाद से ही लकड़ी छीलने का काम कर रहा था। लकड़ी मास्टर ने उसे ढेर सारे तख्तों पर रंदा चलाने का काम सौंप रखा था। पहले दिन ही रंदा चलाने से हाथ में छाले पड़ गये थे। पर डर के मारे किसी को उसने बताया नहीं। बहुत तकलीफ होती रही, फिर भी किसी-न-किसी तरह कई दिन काम चलाता रहा। छाले गल कर जब घाव बन गये, तब नहीं कर सका। वहाँ के 'स्टार बॉय' ने देखते ही लकड़ी मास्टर का ध्यान इस ओर दिलाया। उन्होंने मुंह बिगाड़ कर कहा, "मोम का पुतला कहीं का ! बताया क्यों नहीं कि छाला पड़ गया है ? जा, अस्पताल जा।"

अस्पताल का नाम सुनते ही दिलीप चौंक उठा। उसकी धारणा थी कि वहाँ जा कर फिर कोई लौट नहीं पाता। उसके पिता भी नहीं लौटे थे। उसकी बस्ती के लोग भी अस्पताल के नाम से बहुत डरते थे। किसी को हैजा या चेचक होने पर घर के लोग दबा जाते थे, वरना अस्पताल जाना पड़ेगा। रोग जब बहुत भीषण दिखाई देने लगता, कहीं से एक अद्भुत रूप-रंग की गाड़ी आ कर सामने के उसी आम के पेड़ के

नीचे खड़ी होती। उसमें से कई लोग उतर कर गली के इस-उस घर से जोर-जबरदस्ती रोगियों को वाहर निकाल गाड़ी में भर कर ले जाते। मुंह पर आंचल डाल औरतों के रोने-विलखने से मुहल्ला सिर पर उठ जाता। ऐसे दृश्य वह वहुत वचपन से ही देखता रहा था। उसे भी उसी अस्पताल में जाना पड़ेगा, सुनते ही उसकी अन्तरात्मा कांप उठी। सिर झुका कर डरते-डरते वोला, "मैं नहीं जाऊँगा। मेरा दर्द कम हो गया है।"

"हट पगले! सभी वहाँ जाकर ठीक हो जाते हैं और तू कहता है नहीं जाऊँगा। डर काहे का? चल—" कह कर स्टार उसका हाथ पकड़ कर ले चला।

डॉक्टर उस समय तक नहीं आया था। कंपाउण्डर कुछ लिख रहा था। दिलीप को उसी के सामने पेश किया गया। उसने उसी मोटे रजिस्टर से आंख उठाये विना पूछा, "क्या हुआ?" जवाव 'स्टार वॉय' ने दिया, "छाला छिल कर घाव हो गया है।"

"लकड़ी विभाग में?" कंपाउण्डर ने लिखते-लिखते पूछा। 'हाँ' सुनते ही कोई एक नाम लेकर उसने पुकार लगाई और वहाँ एक वड़े डील-डौल के लड़के के आकर खड़े होते ही गिटपिट कर न जाने क्या निर्देश दिया। लगा, अँग्रेजी है। शायद किसी दवाई का नाम था। लड़का दिलीप का हाथ पकड़ कर उसे अन्दर ले गया और घाव की ओर देख कर वोला, "इतने दिन कहाँ था?"

दिलीप क्या कहे, सोच नहीं पाया। उसने उसके लिए अपेक्षा भी नहीं की। थोड़ा मलहम लगा उस पर रुई रख चटपट पट्टी वाँध दी। दिलीप को अपनी ओर अवाक् हो ताकते देख वोला, "मुंह वाए क्या देख रहा है? दर्द हो रहा है?" दिलीप को लगा उसकी आधी पीड़ा उसी समय मिट गई है। सिर हिलाकर जताया, नहीं। लड़का वोला, "कल ठीक इसी समय आना। पट्टी वदल दूंगा।"

कंपाउण्डर जहाँ काम कर रहा था, उसका नाम 'डिस्पेंसरी' है। कमरे में चारों ओर ताख-ही-ताख थे, उनमें नाना आकार का शीशी-वोतलें ठसाठस भरी थीं। उस छोटे गोदाम जैसे कमरे के अन्दर किसी चीज की वहुत तीव्र गंध आ रही थी। उसकी वगल का कमरा वहुत वड़ा था। वह 'वार्ड' था—ये सव स्टार वॉय ने ही वताया। 'चल ना, देखें।' कह कर वहाँ भी ले गया। अगल-वगल लोहे के कई पलंग थे, उन पर लाल कम्वल विछे विछौने थे। ज्यादातर पलंग खाली थे। दो-तीन पलंगों पर कोई लेटे हुए थे। पेट के वीमार थे। तीन-चार लड़के घूमते फिर रहे थे। उन्हीं में से एक लड़के ने स्टार वॉय को डाँटना शुरू कर दिया, 'ऐ जगा, तू यहाँ क्या कर हैं? ठहर, अभी चीफ ऑफीसर को वताता हूं।"

"वाह, जैसे मैं वेकार में ही आया हूं?" जगमोहन ने नाक के स्वर में प्रतिवाद किया।

समझ पाते। फिर भी उच्च अधिकारी के साथ यह ले कर तर्क भी तो नहीं किया जा सकता। ऑफिस डिसीप्लिन की खातिर यह सब कई बार सुनना पड़ता, इसी से सुन लिया। घोष साहब फिर बोले, "उच्च अधिकारियों के सिर में 'वोकेशनल ट्रेनिंग' (व्यावसायिक प्रशिक्षण) घुसी है। क्या करना है ? बस, इतने सारे दस-बारह वर्ष के छोटे बच्चों को पकड़ कर रोज पाँच घंटे वर्कशॉप में काम कराना पड़ेगा। 'इज़ इट नाट 'रिडिक्यूलस' (क्या यह हास्यास्पद नहीं है) ? हाथ-कलम से कोई काम सीखने लायक उम्र इनकी हो गयी है या वैसी अकल आ चुकी है ? इसके अलावा हमें क्या अधिकार है इन छोटे बच्चों को यहाँ पर मिस्त्री बनाने का ? सभी सभ्य देशों के लड़के-लड़कियाँ अंततः चौदह वर्ष तक स्कूल जाते हैं। इन्हें वह अवसर क्यों नहीं दिया जायगा ? नहीं, महाशय, रूल जो भी हों, वर्कशॉप के नाम पर इन बच्चों का भविष्य मैं नष्ट नहीं कर सकता। कल से, चौदह वर्ष से छोटे जितने बच्चे हैं उन सबको आप कमान के मुँह से निकाल लीजिए। आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ, उनका वहाँ कोई काम नहीं होता है, सिर्फ उनके जहन्नुम जाने का रास्ता तैयार होता है।"

"फिर वे इतने समय में क्या करेंगे ?" क्षुब्ध मुख से डिप्टी ने विरक्ति के स्वर में पूछा।

"पढ़ेंगे। हेडमास्टर को कह दीजिए, ताकि वे सब अच्छी तरह पढ़ा करें। इस ओर सख्त होना ही पड़ेगा।"

संतोषबाबू चले जा रहे थे। साहब ने इसके साथ ही एक नया निर्देश जोड़ दिया, "उनमें जो लड़के कुछ पढ़ना-लिखना जानते हैं, जैसे दिलीप और शम्सुल, उन्हें कुछ घंटे प्रेस का काम सीखने को दिया जाय। मशीन नहीं, कम्पोजिंग सीखने को कहो।"

दिलीप आने के बाद से ही लकड़ी छीलने का काम कर रहा था। लकड़ी मास्टर ने उसे ढेर सारे तख्तों पर रंदा चलाने का काम सौंप रखा था। पहले दिन ही रंदा चलाने से हाथ में छाले पड़ गये थे। पर डर के मारे किसी को उसने बताया नहीं। बहुत तकलीफ होती रही, फिर भी किसी-न-किसी तरह कई दिन काम चलाता रहा। छाले गल कर जब घाव बन गये, तब नहीं कर सका। वहाँ के 'स्टार बॉय' ने देखते ही लकड़ी मास्टर का ध्यान इस ओर दिलाया। उन्होंने मुँह बिगाड़ कर कहा, "मोम का पुतला कहीं का ! बताया क्यों नहीं कि छाला पड़ गया है ? जा, अस्पताल जा।"

अस्पताल का नाम सुनते ही दिलीप चौंक उठा। उसकी धारणा थी कि वहाँ जा कर फिर कोई लौट नहीं पाता। उसके पिता भी नहीं लौटे थे। उसकी बस्ती के लोग भी अस्पताल के नाम से बहुत डरते थे। किसी को हैजा या चेचक होने पर घर के लोग दबा जाते थे, वरना अस्पताल जाना पड़ेगा। रोग जब बहुत भीषण दिखाई देने लगता, कहीं से एक अद्भुत रूप-रंग की गाड़ी आ कर सामने के उसी आम के पेड़ के

नीचे खड़ी होती। उसमें से कई लोग उतर कर गली के इस-उस घर से जोर-जवरदस्ती रोगियों को वाहर निकाल गाड़ी में भर कर ले जाते। मुंह पर आंचल डाल औरतों के रोने-विलखने से मुहल्ला सिर पर उठ जाता। ऐसे दृश्य वह वहुत वचपन से ही देखता रहा था। उसे भी उसी अस्पताल में जाना पड़ेगा, सुनते ही उसकी अन्तरात्मा कांप उठी। सिर झुका कर डरते-डरते वोला, "मैं नहीं जाऊँगा। मेरा दर्द कम हो गया है।"

"हट पगले! सभी वहाँ जाकर ठीक हो जाते हैं और तू कहता है नहीं जाऊँगा। डर काहे का? चल—" कह कर स्टार उसका हाथ पकड़ कर ले चला।

डॉक्टर उस समय तक नहीं आया था। कंपाउण्डर कुछ लिख रहा था। दिलीप को उसी के सामने पेश किया गया। उसने उसी मोटे रजिस्टर से आँख उठाये विना पूछा, "क्या हुआ?" जवाव 'स्टार वॉय' ने दिया, "छाला छिल कर घाव हो गया है।"

"लकड़ी विभाग में?" कंपाउण्डर ने लिखते-लिखते पूछा। 'हाँ' सुनते ही कोई एक नाम लेकर उसने पुकार लगाई और वहाँ एक वड़े डील-डौल के लड़के के आकर खड़े होते ही गिटपिट कर न जाने क्या निर्देश दिया। लगा, अँग्रेजी है। शायद किसी दवाई का नाम था। लड़का दिलीप का हाथ पकड़ कर उसे अन्दर ले गया और घाव की ओर देख कर वोला, "इतने दिन कहाँ था?"

दिलीप क्या कहे, सोच नहीं पाया। उसने उसके लिए अपेक्षा भी नहीं की। थोड़ा मलहम लगा उस पर रुई रख चटपट पट्टी वाँध दी। दिलीप को अपनी ओर अवाक् हो ताकते देख वोला, "मुंह वाए क्या देख रहा है? दर्द हो रहा है?" दिलीप को लगा उसकी आधी पीड़ा उसी समय मिट गई है। सिर हिलाकर जताया, नहीं। लड़का वोला, "कल ठीक इसी समय आना। पट्टी वदल दूँगा।"

कंपाउण्डर जहाँ काम कर रहा था, उसका नाम 'डिस्पेंसरी' है। कमरे में चारों ओर ताख-ही-ताख थे, उनमें नाना आकार की शीशी-वोतलें ठसाठस भरी थीं। उस छोटे गोदाम जैसे कमरे के अन्दर किसी चीज की वहुत तीव्र गंध आ रही थी। उसकी वगल का कमरा वहुत वड़ा था। वह 'वार्ड' था—ये सव स्टार वॉय ने ही वताया। 'चल ना, देखें।' कह कर वहाँ भी ले गया। अगल-वगल लोहे के कई पलंग थे, उन पर लाल कम्वल विछे विछौने थे। ज्यादातर पलंग खाली थे। दो-तीन पलंगों पर कोई लेटे हुए थे। पेट के वीमार थे। तीन-चार लड़के घूमते फिर रहे थे। उन्हीं में से एक लड़के ने स्टार वॉय को डाँटना शुरू कर दिया, 'ऐ जगा, तू यहाँ क्या कर हे? ठहर, अभी चीफ ऑफीसर को वताता हूँ।"

"वाह, जैसे मैं वेकार में ही आया हूँ?" जगमोहन ने नाक के स्वर में प्रतिवाद किया।

"नहीं, नहीं, कौन कहता है तू बेकार में आया है। पेट में भीषण दर्द है, क्यों ?"

"दर्द ही तो है"—यथारीति दृढ़ उत्तर दिया। मुख पर भी गम्भीरता का अभाव नहीं था। सिर्फ होंठों के कोनों पर दबी हुई शैतानी भरी हँसी का आभास था, जिसका अर्थ स्पष्ट था।

"तू क्यों आया ? तुझे क्या हुआ है ?"—इस प्रश्न का लक्ष्य एक अन्य था। उसने अपना स्वर यथासंभव करुण बना कर कहा, "सिर में बहुत दर्द है।"

इतने बड़े रोग की बात सुन कर भी स्टार बॉय ने कोई सहानुभूति नहीं जतायी, बल्कि हा-हा करके हँस उठा।

सिर में दर्द और पेट में पीड़ा—ये दोनों ही यहाँ की 'क्रॉनिक' बीमारियाँ थीं। रोगी के लिए इसमें बहुत ही सुविधा थी—रोग का बाहर कोई लक्षण नहीं, परीक्षा के साधारण यन्त्र से पकड़ा भी नहीं जा सकता, इसलिए 'कुछ नहीं है' कह कर टरका देने का भी कोई उपाय नहीं था। डॉक्टर साहब ने इसके लिए दो पेटेंट नुस्खे ठीक कर रखे थे, जिनका उल्लेख प्रचलित निदानशास्त्र में भी नहीं था। दोनों ही उनके पेटेंट थे। पेट दर्द के केस में पानी मिले साबूदाने की व्यवस्था थी और सिर दर्द होने पर कैस्टर ऑयल पिलाया जाता। ज्यादातर रोगी औषधि प्रयोग करने से पहले ही चम्पत हो जाते। फिर भी एक रात (कभी-कभी इससे भी ज्यादा) 'ऑब्जर्वेशन' में रखा जाता था। लड़कों को इतना ही लाभ था।

अस्पताल के बारे में दिलीप की पुरानी धारणा बदल गई। यहाँ तो डरने लायक कोई बात नहीं। समझ नहीं सका कि फिर बस्ती के लोग क्यों इतना डरते थे। कैसे जानता ? एंबुलेंस में बन्द कर उन्हें जहाँ ले जाकर डाला जाता है, उन सब बड़े 'आरोग्य निकेतनों' का असली रूप तो उसने देखा नहीं था। बड़े होने पर शायद देखने को मिले।

हाथ का घाव कुछ दिन में ही मिट गया। उसके बाद वह लकड़ी विभाग में ही रहा। पर बढ़ईगीरी के औजार छोड़ कर पॉलिश करने के काम पर बदली कर दी गयी। वह भी नाममात्र को। सिर्फ वही नहीं, औरों के साथ भी यही बात थी। साहब जबतक चक्कर लगा कर न जायँ, तबतक—ठोंकठाक, खट-खट होती। कोई दो कीलें ठोंकता, कोई थोड़ा आरी चलाता। वही बाबा आदम के जमाने के कुछ मामूली सामान तैयार किया पड़ा था—एक कैम्प चेयर, दो स्टूल, एक खूंटी स्टैण्ड और कुछ खिलौने। उन्हीं को रोज झाड़-पोंछ कर सजा के रख देता था स्टार बॉय। साहब के चले जाने के बाद फिर उन्हें बटोर उठा कर रख देता। औजार गिन-गिन कर सन्दूक में रख, उसमें ताला डाल चाबी मास्टर के हाथ में सौंप देता। वह घर चले जाते। लड़के भी वर्कशॉप छोड़ जहाँ-तहाँ निकल पड़ते।

यह रही मॉर्निङ्ग शिफ्ट अर्थात् प्रातःकालीन कार्यक्रम। अगला काम डेढ़ बजे के बाद शुरू होता। मास्टर फिर आते और उनके आते ही 'स्टार बॉय' कारखाने के कोने में तहा कर रखे कम्बल को फर्श पर बिछा देता। वह लेट जाते और जब तक उनका नासिका गर्जन स्पष्ट न हो जाता, तब तक लड़के इधर-उधर ताक-झांक करते। फिर वर्कशॉप खाली हो जाता। कौन कहाँ जाता है, कोई खबर नहीं रखता। कोई चला जाता है एकदम गेट के बाहर, तो कोई मास्टर या क्लर्क बाबू के घर। वहाँ पानी खींचते, बर्तन माँजते, कमरे में झाड़ू लगाते, बच्चों को खिलाते, रात के खाने-वाने की सार-सम्हाल कर रख आते। उस समय 'ऊपरवाले' मध्याह्नकालीन विश्राम करते होते। गेटकीपर के साथ बन्दोबस्त रहता है, चीफ ऑफीसर की दूसरी बार की ड्यूटी अथवा डिप्टी सुपर का सायंकालीन ऑफिस शुरू होने से पहले ही सब फिर यथास्थान लौट आते हैं।

इन अवैध गोपन कार्यों का रूप और प्रकृति चाहे जो हो, ज्यादातर अच्छे लड़कों को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी, बल्कि आकर्षण था। वे इस समय की आग्रह-पूर्वक प्रतीक्षा करते रहते। माँ-बाप, भाई-बहन के साथ जो जीवन होता है, उनमें से अनेक ने उसका स्वाद नहीं पाया था। यह वह आयु होती है, जब उनके लिए मन में लालसा जागती है। इसलिए जितना जो पाता था, उसी का लोभ उसे प्रतिदिन बाहर खींच लाता था—नीरस रूटीन के ममताहीन बवंडर से गृहस्थ जीवन की स्निग्ध छाया में। शायद वहाँ असली से ज्यादा बनावट होती है, स्नेह के साथ स्वार्थपरता की और अनुग्रह में अवज्ञा की गंध रहती है। फिर भी यहाँ आने से पहले उनमें से कितनों को वह जीवन मिला है? खोजने पर पता चलेगा, दो-चार को छोड़कर सभी शायद केशव सिकदार अथवा उसके जैसे हैं।

वर्कशॉप से सभी के चले जाने पर भी दिलीप अकेला बैठा रह जाता। अन्य लड़कों के खींचने पर भी वह नहीं जाता। स्कूल लाइब्रेरी से कोई किताब ले आता। आशुबाबू निकाल कर दे देते। नाना प्रकार की किताबें—कहानी, भ्रमण, महापुरुषों के जीवन-चरित्र, देश-विदेश की इतिकथाएँ, नूतन आविष्कारों की कहानियाँ। वह पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो जाता। जान भी नहीं पाता कि लकड़ी मास्टर कब चले गये। वर्कशॉप बंद करने को आकर पेटी ऑफीसर उसे उठा देते। तब बस्ट्राल के मैदान में जोर-शोर से फुटबाल का खेल चल रहा होता। खेलते तो चौदह जन, दोनों ओर से गला फाड़ते चौगुने जन यानी छप्पन।

लकड़ी विभाग से निकल कर, देवदारु पेड़ों की लाइन में बायीं ओर पश्चिम में पहले पड़ता स्कूल भवन। उसके आगे के दो कमरों में दिलीप का रहस्य जगत था। खिड़की के एकदम पास लगा था एक अद्भुत यंत्र। सामने खड़े होकर एक लड़का पैर लगा कर नीचे कहीं से हिला देता और लोहे के डंडे इस प्रकार घटर-घटर करके

चलने लग जाते जैसे कोई छोटा-मोटा दैत्य हाथ-पैर झटकारता हुआ जाग उठा हो। लड़का पैर चलाता रहता और दायें हाथ से क्षिप्र गति से बड़े-बड़े कागज खींचता जाता। वे कागज एक सेकेंड पहले तक कोरे होते, जब बाहर आते तो ऊपर से नीचे तक उन पर लिखा होता।

दिलीप आते-जाते खिड़की के पास कुछ देर तक खड़ा हो, तन्मय होकर देखता रहता। निश्चय ही इस घूमने वाले यंत्र में और उसकी एक स्वर से खट-खट की आवाज में कोई जादू था। वह देखता और सोचा करता कि वह कब इस लड़के के समान बड़ा होगा, यहाँ खड़ा होकर इस अद्भुत मशीन को इसी तरह अनायास चलाने लगेगा। यह क्या सिर्फ एक ही है ? नहीं, उससे भी विशाल काले-काले कई और यंत्र दीवार के पास लाइन में खड़े थे। इसके अलावा एक समान कई बड़े-बड़े लकड़ी के खाँचे थे, जिनमें ढेर सारे लोहे के छोटे-छोटे टुकड़े भरे थे। बहादुर ने बताया था कि वे टुकड़े लोहे के नहीं, सीसे के हैं। वे सब अक्षर हैं, जिन्हें टाइप कहते हैं। दो-तीन लड़के पैरों में खड़ाऊँ पहन इन खाँचों के सामने खड़े टाइप को एक-एक कर उठाते और पीतल की एक छोटी तख्ती पर बराबर-बराबर सजा कर रखते जाते।

दिलीप ने पूछा था, "वे लोग खड़ाऊँ क्यों पहने हैं ?" तब बहादुर ने बताया, "सीसे में एक तरह का जहर होता है। पैर में घाव हो जाता है, इसीलिए।"

"हाथ लगा कर उठा जो रहे हैं।"

"हाथ में भी कुछ पहन लेना ठीक है। यहाँ यह सब नहीं है। क्या करें, ख
ाय ही काम करना पड़ता है।"

बहादुर से ही सुना, इसका नाम प्रेस है—छापाखाना। बड़े-बड़े दफ्तरों के न
ाने क्या-क्या कागज-पत्र छपते हैं। वही यहाँ का स्टार बॉय है। सब कुछ देखभाल
ही करता है। नये लड़कों को काम सिखाता है और जरूरत पड़ने पर मशीन भी
लाता है। दिलीप उसे आँखों में श्रद्धा और विस्मय का भाव लिये देखता रहा, वही
ोटी-छोटी आँखों, चपटी नाक वाले हँसमुख शांत लड़का। उसे सभी एक उपेक्षा-भाव
पुकारते 'बहादुर', दिलीप उसे कहता बहादुर भइया। बहादुर ने उसे आश्वासन दिया था, थोड़ा और बड़ा हो जाने पर वह साहब से कह कर दिलीप को प्रेस में ले आएगा और अपने हाथ से यत्न कर के उसे सब काम सिखाएगा। उसी शुभ दिन की प्रतीक्षा में बैठा दिलीप दिन गिन रहा था।

वह दिन भी उसके लिए इतना निकट आ कर प्रतीक्षा करता होगा, दिलीप सपने में भी नहीं सोच पाया था। डिप्टी बाबू ने जब उसे बुला कर कहा कि कल से उसे तीन घंटे प्रेस का काम सीखना होगा, तब उसे जैसे स्वर्ग मिल गया। उसके साथ दर्जी विभाग से एक लड़का और आया। उसका नाम शम्सुल था। उम्र में उससे कई वर्ष बड़ा, गोरा, स्वस्थ और सुंदर चेहरे का। प्रेसमास्टर ने बहादुर को बुला कर

उन्हें कम्पोजिंग सिखने को कहा और उनसे बोले कि वे मन लगा कर पढ़ाई-लिखाई करें। ऐसा न करने पर काम न सीखा जा सकेगा, सीख लेने पर भी कोई लाभ न होगा। यह काम सिर्फ हाथ का ही नहीं, दिमाग का भी है।

शम्सुल कुछ ऊँची पढ़ाई पढ़ता था, थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी जानता था। उसे अंग्रेजी शब्द दिये गये और मुन्ना को बंगला। मुन्ना का झुकाव मशीन की ओर था। बहादुर को अकेले में पा कर बोला, "वहाँ कब जाऊँगा, बहादुर दा ?"

वह हँस पड़ा, "ठहरो। थोड़ा और लंबे हो जाओ, तभी मिलेगा ना !"

शम्सुल के साथ दिलीप का परिचय था, घनिष्ठता का अवसर नहीं मिला था। फिर भी वह शुरू से ही उसे अच्छा लगा था। अब और भी अच्छा लगने लगा और दो दिन में ही प्रेम जम गया। शम्सुल उसे कहता, "बड़े लड़कों के साथ कभी नहीं मिलना-जुलना।"

"क्यों ?" दिलीप ने पूछा।

"वे लोग अच्छे नहीं हैं।"

दिलीप के ठीक से न समझ पाने पर वह उसे देखते हुए बोला, "और थोड़ा बड़ा हो जा, तब समझ जायगा।"

समझने में अवश्य ज्यादा समय नहीं लगा। कई बड़े लड़के, विशेषकर सतीश और शिराजुल जो सब अजीब बातें करते, शरीर पर गिर-गिर कर जिस भाव से प्रेम करने आते, दोपहर को अथवा शाम के बाद मौका मिलते ही आड़ में खींच ले जाने की चेष्टा करते, इससे सारे दल पर उसे न जाने कैसी घृणा हो गयी। शम्सुल के समान उसने भी उनसे बच कर चलना शुरू कर दिया। किंतु यह देख कर अवाक् रह गया कि छोटे लड़कों का एक वर्ग, जिसमें केशव भी था, इतने बड़े लड़कों का पिछलग्गू था। उनके साथ भरी दोपहर में, जब ऑफिस में कोई नहीं रहता—वर्कशॉप से निकल कर उनका हाथ पकड़े कहीं-न-कहीं चला जाता। बड़े लड़कों में से अनेक 'स्टार बॉय' थे। वे जो ज्यादा खाना पाते—अंडा, मछली, मांस—उसमें से थोड़ा-सा हिस्सा इन पेटू लड़कों को दिलीप ने खाते देखा था। उसे भी किसी-किसी स्टार बॉय ने पटाना चाहा था, लेकिन वह राजी नहीं हुआ।

बड़ों में एक सबसे अलग अपवाद था। वह था बहादुर। छोटे लड़कों को, खासकर दिलीप को वह बहुत चाहता था, पास बिठा कर कितनी ही बातें करता, किंतु किसी भी दिन अनुचित ढंग से घनिष्ठ होने की चेष्टा नहीं की। उसकी भी एक बात दिलीप को पसंद नहीं आती थी—दोपहर के समय गेट के बाहर चले जाना। और जो लोग जाते, वे इस-उस के घर काम करने जाते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं थी। दिलीप भी जानता था। जाने के समय उनमें से किसी के हाथ में नयी बँधी झाड़ू होती, किसी के हाथ में लोहा विभाग में बनाया गया आल्युमिनियम का मग अथवा

गोदाम से ली गयी थोड़ी फिनायल या फिर इसी प्रकार के घरेलू काम में आने वाली कोई दूसरी चीजें होतीं। जब वे निकलते, प्रायः ही झुंड बना कर जाते और साथ में रहते पेटी ऑफीसर। बहादुर अलग और अकेला जाता। बीच-बीच में छिपा कर ले जाता एक उबला अंडा अथवा मटन के दो टुकड़े—स्टार के नाते जो उसका खाना था। या फिर अस्पताल से माँग कर ली गयी थोड़ी चीनी, चाय और एक-दो स्लाइस डबल-रोटी के। कभी-कभी उसके हाथ में बच्चों के पढ़ने लायक कोई किताब रहती और रहती एक कॉपी और पेंसिल। वह सबसे छिपाता, सिर्फ दिलीप से ही छिपाने की कोशिश नहीं करता। किंतु जाता कहाँ है, किसके लिए ये सब चीजें ले जाता है, यह उसने कभी नहीं बताया, दिलीप ने भी पूछने-पूछने सोच कर कभी नहीं पूछा। एक दिन पूछ ही बैठा, "दोपहर में तुम कहाँ जाते हो, बहादुर दा ?"

"एक जगह जाता हूँ। एक को देखने।"

"कौन है वह ?"

बहादुर के चेहरे पर म्लान छाया फैल गयी। दूर दीवाल की ओर देख धीरे-धीरे बोला, "तुझे एक दिन बताऊँगा। लेकिन देखना, और कोई जान न पाये।"

"मैं किसी को नहीं बताऊँगा।"

"मैं जानता हूँ। इसीलिए तो तुझे मैं सब बता सकता हूँ। कुछ दिन रहने दे, उसके बाद। क्यों ?"

दिलीप ने सिर हिला कर स्वीकृति जतायी, अच्छा।

शम्सुल के साथ जब और भी मेल हुआ, एक दिन अपनी बात—अपनी बात का मतलब माँ की बात—कहते कहते दिलीप ने हठात् प्रश्न किया था, "तुम्हारी माँ है ?"

"है।"

"तुम्हें चिट्ठी लिखती हैं ?"

"माँ लिखना नहीं जानती।"

"घर से किसी की चिट्ठी नहीं पाते हो ?"

"पिता लिखते हैं कभी-कभी। मैंने एक का भी जवाब नहीं दिया।"

"क्यों ?" दिलीप विस्मित हो उठा।

"चिट्ठी लिख कर क्या होगा ? ऐसा ही अच्छा हूँ।"

दिलीप समझ नहीं सका कि शम्सुल कहना क्या चाहता है, फिर भी चु गया। अपने पिता को उसने नहीं देखा। फिर भी न जाने क्यों मन कहता, अगर जीवित होते तो आज उसे यहाँ नहीं आना पड़ता। जिसके पिता हैं, उसे फिर क्या चिंता ? उसे कोई भी विपद स्पर्श नहीं कर सकती। फिर भी क्या इस केशव के समान ? बाप होकर भी नहीं के बराबर ?

कुछ क्षण चुप रह, न जाने क्या सोच कर फिर पूछा, "अच्छा भाई, तुम जेल में कैसे आये ?"

शम्सुल की दोनों आँखें दप् से जल उठीं। उसी क्षण इसके साथ जुड़ा कोई प्रसंग शायद धुएँ की भाँति उसके मन में उठने लगा था, इस प्रश्न ने उसमें आग लगा दी। दिलीप मन-ही-मन शंकित हो उठा। किंतु यह भी नहीं समझ सका कि इसमें गुस्सा हो जाने की क्या बात है ? यह बात तो उससे भी कितने ही लोग पूछते रहते हैं, कई के सामने तो उसने खुद ही कह सुनाई थी।

शम्सुल ने तुरंत ही अपने को सम्हाल लिया। वह मन-ही-मन लज्जित भी हुआ कि दोस्त के सामने यह आकस्मिक भावांतर प्रकट कर बैठा। मृदु हँसी हँस उसके कंधे पर हाथ रख वह अंतरंग स्वर में बोला, "चल, खेलने चलें।"

दिलीप चुपचाप उसके साथ चल पड़ा। कुछ क्षण बाद वैसे ही कंधे पर हाथ रखे बोला शम्सुल, "जेल में कैसे आया, जानना चाहते हो ? वह सब बात नहीं बताई जा सकती, भाई।"

"क्यों ?"

"तू नहीं समझेगा।"

"क्यों नहीं समझूंगा ?"

"तू बहुत बच्चा जो है।"

बात दिलीप को पसंद नहीं आयी। क्या वह इतना ही छोटा बच्चा है ? और वह भी ऐसा कौन-सा बड़ा है। मित्र पर थोड़ा मान हुआ। इसी से अप्रसन्न मुख चुप रह गया।

कुछ दिन बाद प्रेस की छुट्टी होने के बाद शम्सुल उसे एक ओर बुला ले जा कर गुपचुप बोला, "जानता है, बहादुर के नाम पर 'रिपोर्ट' होगी।"

दिलीप जैसे आकाश से गिरा हो। बहादुर ऐसा क्या कर सकता है, जिसके लिए रिपोर्ट होगी ! पूछा, "क्यों ?"

"बैंडमास्टर के घर की लड़की को लेकर कोई मामला है। वहाँ तो वह अक्सर ही जाता है। मास्टर की पत्नी ने आकर चीफ ऑफीसर से सब कहा है। उसमें और मास्टर में बात हो रही थी, मैंने अचानक पहुँच कर सुन ली। अभी तक कोई कुछ नहीं जानता।"

दिलीप कुछ न समझ कर बोला, "बहादुर ने क्या किया है ?"

"मास्टर की एक लड़की है न ? उसके साथ""ना रहने दे, यह सब बात तेरे सुनने की नहीं है।"

दिलीप के सिर में जैसे अंदर सब उलट-पुलट हो गया। बहादुर तो ऐसा लड़का नहीं है। किसी प्रकार का नीच काम वह कर सकता है, यह एकबारगी ही

विश्वास नहीं किया जा सकता। शम्सुल एकचित्त हो कुछ सोच रहा था। कुछ देर वाद फिर उसकी आवाज सुनाई दी। और किसी को नहीं जैसे खुद को ही सुना रहा हो, ऐसे भाव से वोला, "वहादुर का कोई दोप नहीं, निश्चय ही उस लड़की ने उसका झूठा नाम लगाया है। लड़कियाँ सव कुछ कर सकती हैं।"

वोलते-वोलते जैसे वहुत दूर चला गया, फिर अचानक कुछ उत्तेजित हो उठा। दोनों आँखों से आग झरने लगी। दिलीप की ओर घूम कर वोला, "जानता है? मेरे नाम पर भी ऐसी ही वदनामी लगाई थी कि मैंने उस पर जवरदस्ती अत्याचार किया है। झूठ वात। वही मुझे खींच कर ले गई थी मटर के खेत में। मुझसे दो वर्ष वड़ी थी। मैं तो इच्छा करके गया नहीं था। वाप ने मेरी वात का विश्वास नहीं किया था, मुझे जूतों से मारा। उसके वाद उन्होंने मुझे रात में ही गर्दन पकड़ कर घर से वाहर निकाल दिया था।"

शम्सुल की दोनों आँखों में आँसू भर आये और दिलीप उसी ओर विस्मय-विमूढ़ दृष्टि से देखता रहा। स्पष्ट कुछ नहीं समझा, किंतु कुछ न जानने पर भी उसका मन दृढ़-निश्चय हो उठा—शम्सुल ने कोई अपराध नहीं किया। किसी एक लड़की ने उसके नाम पर झूठा दोपारोपण किया था और उसके वाप ने उसे जूते से मार कर घर से निकाल वाहर किया था। शायद सभी वाप ऐसे होते हैं। क्या पता, शायद उसके पिता भी ठीक यही करते। छोटा होने पर भी, उसी क्षण उसका मन सारी दुनिया पर कैसे एक अस्पष्ट क्षोभ और रोप से भर गया। संसार में सभी निष्ठुर हैं; किसी में जैसे दया-माया, प्रेम कुछ नहीं है।

वड़ा होने के वाद जव सव कुछ समझना सीख गया, जीवन के इन दिनों की वात सोचने जाकर दिलीप को अनेक वार लगा कि यह जो कोई-कोई लड़का संसार के सहज और साधारण पथ को छोड़ विपथ पर उतर पड़ा है; सत्यं, शिवं और सुन्दरं पर आस्था खो वैठा है, मालूम करने पर पता चलेगा, उसके मूल में ऐसा ही कोई अप्रत्याशित आघात है, जिससे वह श्रद्धा करता है, प्रेम करता है, या फिर जिस पर वह विश्वास करता है, उससे कोई निर्मम आचरण मिला है। छह वर्प का दीर्घ समय उसे इसी वस्ट्राल स्कूल में काटना पड़ा था। अनेक सम और अ-समवयसी लड़कों के साथ वह मिला था। कितनी विचित्र कहानियाँ थीं उनकी। कितनी जटिल और विस्मयकारी अवस्था-विपर्यय के अंदर से वे यहाँ आकर पहुँचे थे! किंतु एक मामले में प्रायः सभी एक थे। वह मामला था अपने सगों की कोई अवहेलना, अनादर अथवा अविवेक। किसी-किसी के मामले में रहती इससे भी कठोरतर कोई लांछना या अत्याचार।

छोटा-मोटा 'अपराध' करने की प्रवणता वालक मन का स्वाभाविक धर्म है। उनकी नित्यप्रति की कार्यसूची में ऐसे कितने ही विपय रहते हैं, जिन्हें 'अन्याय' या 'अनुचित' कहा जा सकता है। ज्यादातर क्षेत्र में वह उनके लिए सिर्फ 'आमोद' या

'स्पोर्ट' होता है। कहीं-कहीं उसके पीछे रहता है लोभ, वहादुरी या फिर मित्र वर्ग में नेतृत्व प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति। इसे यदि 'अपराध' कहा जाय तो उसे रोकने के लिए एक-मात्र अस्त्र क्षमा और स्नेह का शासन है। यह शासन जब क्षमा और स्नेह खो देता है, या कष्टदायक अथवा प्रतिहिंसा का रूप ले लेता है, तब ये बालसुलभ 'अपराध' ही सचमुच के अपराध का मार्ग पकड़ लेते हैं, जिनका नाम है 'क्राइम'। फूल में यदि कीड़ा लगा है तो मानना होगा कि इसमें दोष फूल का नहीं, दोष उस पेड़ में कहीं है, जिस पर वह खिला है। एक निर्मल वालक या एक निष्पाप किशोर जिस पाप की छाप मस्तक पर लेकर वस्ट्राल में पहुँचता है, तो वह पाप उसका नहीं, उसके माँ-बाप या किसी निकट संबंधी अथवा अभिभावक का होता है। जहाँ अभिभावक दोषी नहीं होते, वहाँ खोजने पर देखने को मिलेगा कि वह पाप खुद ही नहीं जन्मा है। उसका मूल, जिस परिवेश में उसका जन्म हुआ है, जहाँ वह बड़ा हुआ है, वहाँ की कीचड़ में रहता है।

वस्ट्राल के 'क्षुद्र क्रिमिनल' ही इस परम सत्य के जीवंत प्रमाण हैं।

घोष साहब की एक दिन की कई बातें दिलीप कभी नहीं भूल सका। उस दिन उसका पंद्रह वर्ष का किशोर मन सब माने समझना नहीं सीखा था। बहुत दिन बाद समझा।

साहब ने ही उसे किसी काम से बुला भेजा था। बहुत करके प्रेस संबंधी कोई जरूरी निर्देश या इसी प्रकार का कोई काम था। तब वह प्रेस मास्टर का दायाँ हाथ था और कई मामलों में डिप्टी बाबू अथवा साहब के साथ भी उसे सीधा संबंध रखना पड़ता। सुपर एक पुरुष और महिला से बात कर रहे थे। यह देख वह अंदर न जाकर ऑफिस के दरवाजे के पास इंतजार कर रहा था। उसने सुना, साहब कह रहे थे, "देखिए, बुरा नहीं मानिएगा, मैं स्पष्ट बात करने वाला हूँ। लड़के अपने आप नहीं विगड़ते। आप लोग ही उन्हें रास्ता दिखाते हैं।"

"हम रास्ता दिखाते हैं! क्या कह रहे हैं आप?" वह व्यक्ति प्रायः चीख उठा।

"हाँ, आप ही।"

उन सज्जन के मुंह से और बात नहीं निकली; शायद अत्यधिक विस्मय से चुप हो गये थे। साहब कह रहे थे, "आप लोग शाम के समय का अपना प्रोग्राम तो एक बार याद कीजिए। प्रायः प्रतिदिन ही दोनों मिल कर, माफ कीजिए, विशेष रूप से सज-धज कर, निकल पड़ते हैं। किसी दिन सिनेमा, किसी दिन पार्टी, क्लब या होटल जाने के लिए। उसे कह जाते हैं, हम थोड़ा घूम कर आ रहे हैं। तू बैठा-बैठा पढ़। बीच-बीच में वह जानना चाहता है, तुम लोग कहाँ जा रहे हो। आप लोग डांट देते हैं, इससे तुझे क्या मतलब? काम से जा रहे हैं। लेकिन वह जानता है कि वह काम है गाना-बजाना, आमोद-प्रमोद, खाना-पीना। आप जब नहीं रहते, आपकी जेब टटोल कर देखता है, पा जाता है होटल का बिल या सिनेमा के टिकट का टुकड़ा। घर लौ—

आने पर आप दोनों आपस में मिल कर चर्चा करते हैं क्या देखा, कहाँ गये थे। बगल के कमरे में लेटे रह कर, बीच के खुले दरवाजे से वह सब सुन लेता है। आप सोचते हैं, मुन्ना सो गया है। यह भूल है। वह सोया नहीं होता, उसे नींद आती भी नहीं। काफी रात तक करवटें बदलता है और आप सुन कर ताज्जुब करेंगे कि वह मन ही मन योजना बनाता है कि इसका बदला वह कैसे ले।"

"·····बदला ले····मतलब ? कैसा बदला ?" वह सज्जन तप्त स्वर में बोले।

"आप लोगों की अवहेलना का। भूल जाते हैं कि वह आप लोगों की एकमात्र संतान है।"

"आप गलती पर हैं। हमने तो एक दिन भी उसकी अवहेलना या निरादर नहीं किया।"

साहब हो-हो करके हँस उठे थे, इस बात का कोई जवाब नहीं दिया था। उसके बाद बोले थे, "आपकी जेब से जब एक-दो रुपये चोरी जाना शुरू होते हैं, आप लोग पहले नौकर पर शक करते हैं। उसकी थोड़ी पिटाई भी कर देते हैं, चोरी बढ़ती जाती है लेकिन और पहुँच जाती है मनीबैग से वैनिटीबैग तक। उसके बाद एक दिन नौकर ही बता देता है, चोर कौन है। बेटा अस्वीकार कर सकता था, ज्यादातर यही करते हैं, लेकिन उसने अस्वीकार नहीं किया। कितना अच्छा लड़का है आपका ! फिर भी आपने उसे खाना न देकर कमरे में बंद कर दिया।"

"क्या करते ? हमारा बेटा चोर हो, यह बरदाश्त नहीं किया जा सकता।"

"जानता हूँ। किंतु चोरी क्यों करता है जानने की कोशिश नहीं की, सोच कर भी नहीं देखा। सिर्फ रुपये-पैसे के संबंध में सावधान हो गये थे। लेकिन तब तक वह बहुत दूर तक पहुँच चुका था। नया सिनेमा आते ही देखे बिना खाना हजम नहीं होता, जैसे आप लोगों का भी नहीं होता। बीच-बीच में एक-दो यार-दोस्तों के साथ मिल कर होटल में न जाने से कैसे चले ? जब अपने घर के संदूक में ताला पड़ गया, दूसरे के घर का ताला तोड़ साइकिल लेकर निकल पड़ने के अलावा और क्या उपाय रह गया था, बताइये ?"

महाशय कुछ देर चुप रहने के बाद बोले, "लगता है, उसने यह सब आपको बताया है ?"

"जी नहीं ! उसने कुछ नहीं बताया। एक ही प्रश्न करके बाकी उसके मुंह की ओर देख मैंने खुद ही अनुमान लगा लिया। यह सिर्फ आपके ही घर की बात नहीं है, यहाँ जितने हैं उनमें से अनेक के पीछे यही इतिहास है—थोड़ा कम, थोड़ा ज्यादा। देखते-देखते मुझे रट गया है। शायद कुछ बढ़ा कर कह रहा हूँ, या···"

"नहीं, आपने कुछ भी बढ़ा कर नहीं कहा," भद्र महिला बोल उठीं, "इसमें कुछ भी झूठ नहीं है। लेकिन इससे इतना बड़ा सर्वनाश हो जायगा, एक बार भी तो

नहीं सोच सके थे।"

भद्र महिला की बात बहुत करुण स्वर में सुनाई पड़ी। कमरे का वातावरण ही जैसे बदल गया। कुछ क्षण किसी की कोई बात नहीं सुनाई पड़ी।

फिर वह महाशय बोले, "जो हो गया, उसे मिटाने का तो कोई उपाय नहीं है। अब क्या करके लड़के को हम वापस पा सकते हैं, उतना ही आपको बताना होगा, मिस्टर घोष! मैं अकेला ही आ रहा था, लेकिन इन्हें रोक कर नहीं रखा जा सका।" ....कह कर पत्नी की ओर इशारा किया।

घोष साहब महिला की ओर देख बोले, "ऐसा लगता है इससे पहले भी शायद आप एक बार आई थीं।"

"एक बार नहीं, दो बार आकर लौट गई। इनको पता नहीं है। किंतु एक बार भी वह अभागा देखने को नहीं मिला।"

कहते-कहते मुंह झुका कर आंचल से आंखें पोंछीं। महाशय अनुरोध के स्वर में बोले, "अगर आप कोशिश करें तो दो मिनट के लिए एक बार उसे दिखा सकते हैं। आपकी बात वह निश्चय ही अमान्य नहीं करेगा।"

"वह तो नहीं करेगा। फिर भी, यह मैं नहीं चाहता मिस्टर बनर्जी! उनके मन पर कोई जोर देने या दबाव डालने की मेरी इच्छा नहीं है। जितने दिन अपनी इच्छा से न आये, आप लोगों को अपेक्षा करने को कहूंगा।" फिर मृदु हंसी के साथ बोले, "उम्र जो अद्‌भुत है। पहले होगा उग्र रोष, फिर आयगी लज्जा। लगता है, श्रीमान् की वही स्टेज चल रही है। कुछ दिन अपने मन से ही चलने दीजिए। छुईमुई की लता जैसे छुते ही सिकुड़ जाती है, ये लोग उससे भी कुछ ज्यादा होते हैं।" कह कर और एक बार छत फाड़ देने वाली हंसी हंस पड़े लेफ्टीनेंट घोष।

उनकी बातचीत में लड़के के नाम का जिक्र न आने पर भी दिलीप ने अनुमान लगा लिया कि यह लड़का इंडस्ट्रियल बॉय शचिन बनर्जी है। एक-दो माह पहले ही आया था।

साहब के कमरे से लौटने पर शचिन व दूसरे लड़कों के साथ उस दिन खुद को मिला कर देखने की चेष्टा की थी दिलीप ने, किसी के साथ अपना मेल नहीं बिठा पाया था। वह जैसे सभी से अलग था। साहब की बातें उसने एक-एक कर सोच के देखी थीं। उसके जीवन के साथ उनका मेल कहां बैठता है? पिता को उसने नहीं पाया। उसका सारा शैशव मां के साथ जुड़ा था। किंतु उनकी प्रतिदिन की प्रत्येक बात, प्रत्येक आचरण पर बारीकी से विचार करने पर भी उनमें कणमात्र भी अवहेलना या अनादर नहीं खोज सका। अपरिसीम स्नेह ही तो भरा था। सिर्फ एक दिन की वही एकमात्र कठोर बात ही एकमात्र आघात था। पर कितने दुःख, कितनी बड़ी लांछना पर मां ने उस दिन उसके शरीर पर हाथ उठाया था, मुंह से वही दो मर्मान्तक

वातें कही थीं। यह वात दिलीप से ज्यादा और कौन जानता है ? उस दिन उसमें वह ज्ञान नहीं था। शायद इसके लिए जिम्मेदार माँ का वही निरविच्छिन्न स्नेह-यत्नमय कोमल रूप है जिसमें उसे होश आने के वाद से उतने दुःख-दारिद्रय में भी क्षण भर के लिए भी थोड़ा सा भी व्यतिक्रम नहीं हुआ था। वीच-वीच में अगर माँ थोड़ी कठोर होती, या उससे थोड़ा कम प्यार करती, तो उस दिन का आघात इतना तीव्र होकर नहीं लगता। जहाँ प्यार जितना गहरा होता है, वहाँ अभिमान भी उतना ही उग्र होता है।

कुछ समय वाद जव उसने दुनिया को और भी स्पष्ट रूप से समझना सीखा, तव समझ सका कि जीवन-प्रभात में जो मसिरेखा उसके मस्तक पर अंकित हो गयी है, संसार के सामने वही उसका परिचय है। तव भी वीच-वीच में घोष साहव की नाना दिनों की नाना वातें उसका मन आंदोलित करतीं। वह अपने से ही प्रश्न करता, मेरे माथे पर जो यह पाप चिह्न लगा है उसके लिए अगर उसका मन उत्तरदायी नहीं है, तव कौन है उत्तरदायी ? यह किसका पाप है ? उत्तर नहीं मिलता उसे।

इसी प्रसंग में एक दिन अपने वाल्यकाल में माँ से सुनी कई वातें उसे याद आई थीं।

माँ ने जो उस दिन कहा था उसका पूरा-पूरा अर्थ समझ में नहीं आया था। किंतु वे वातें क्षीण आकार लेकर मन के किसी कोने में शायद छिपी थीं। वहुत दिन वाद वे ही वातें हठात् चेतना का रूप ले वैठीं। माँ ने कहा था, "मुन्ना, तू जव वड़ा हो जाय, तो एक वात कभी नहीं भूलना। लोभ से वड़ा शत्रु और कोई नहीं। लोभ ही मनुष्य को पाप के रास्ते पर ले जाता है, अन्याय की ओर खींचता है। तेरा जितना पावना है, उतना ले कर ही खुश रहना, उसके वाहर कभी हाथ नहीं वढ़ाना। मैं जव नहीं रहूँ, मेरी यही वात याद रखना, वेटा !"

जिस किसी कारण से भी हो, माँ का मन उस दिन ठीक नहीं था। संध्या के वाद अंधेरे वरामदे में अकेली खम्वे का सहारा ले कर चुपचाप वैठी थीं। कमरे में सरसों के तेल के दिये के पास वैठा दिलीप पढ़ रहा था, पर किताव के पन्नों में मन नहीं लग रहा था। माँ का म्लान मुख रह-रह कर आँखों के आगे छा जा रहा था। उसके वाद और न रुक पाने पर उनकी वगल में जा वैठा था। माँ ने उसकी ओर नहीं देखा, वाहर के अंधकार की ओर देखते हुए धीरे-धीरे रुक-रुक कर वे कुछ वातें कह डाली थीं। दिलीप की इच्छा हुई थी कि वह पूछे, "तुम्हें क्या हुआ, माँ ?" पूछ नहीं सका। कैसे एक भयजड़ित संकोच ने उसका कंठ रोक लिया था। माँ के आँचल के एक सिरे को पकड़ कर वह उनके अंग से अंग सटाये चुपचाप वैठा रहा था।

वहीं वैठे-वैठे माँ ने उस दिन और भी कितनी सव वातें कही थीं। वे सव उसे याद नहीं। जितनी याद हैं वह भी धुंधली-धुंधली। ज्यादातर वातें जैसे माँ ने अपने

मन के साथ समझौता कर के कही थीं। वह सिर्फ उपलक्ष्य था। अनेक बातों के बीच माँ ने कहा था, "वह तो नहीं चाहते थे। उन्होंने बार-बार कहा था यह अन्याय मैं नहीं कर सकता। मेरी ही जिद ने उन्हें खींच कर नीचे उतार दिया था। जिद नहीं, पाप। आखिर में मेरे उसी पाप के स्पर्श से वह भी नहीं बच सके। जिन्हें सारे जीवन में तनिक-सा भी कहीं दाग नहीं लगा। शुद्ध, निष्पाप व्यक्ति थे। जाते समय एक काला कलंक ले गये। पर मैंने वह कलंक तेरे अंग पर नहीं लगने दिया, बेटा! वह नोट मैंने छुआ तक नहीं। अस्पताल की चिट्ठी को उसी समय फाड़ कर फेंक दिया था।"

"कैसा नोट, माँ?"

"बड़ा हो जा, फिर एक दिन बताऊँगी।"

वह समय फिर नहीं आया। वही नोट और उसका रहस्यमय इतिहास दिलीप को अज्ञात ही रह गया। माँ के मुँह पर जो उस दिन देखा था, जो सुना था, बड़े हो जाने पर उससे सिर्फ एक ही धारणा उसके मन में बनी थी—यह नोट उनके लिए केवल अकल्याण ही ढो कर नहीं लाया था, उसमें पिता के जीवन का कोई मसिचिह्न भी लिपटा था। फिर क्या उसी में उसके प्रश्न का उत्तर छिपा है? सज्ञान होने से पहले ही जो काली रेखा माथे पर ले कर उसने यात्रा शुरू की है, वह क्या उसका पितृदत्त उत्तराधिकार है? जन्म से अर्जित अभिशाप है? लेकिन यह कैसे होगा? जो आजन्म-शुभ्र, शुद्धाचारी थे, उन्हें क्षण-भर में मिला वही कालिमा-स्पर्श क्या इतना भयानक है जो संतान के मस्तक पर भी अपनी छाप छोड़ जायगा? उस अभिशप्त धन को तो उन्होंने भोगा नहीं। माँ ने स्पर्श तक नहीं किया। उनके अपने जीवन में कहीं भी उस रुपये की छूत नहीं लगी थी। फिर? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। हो सकता है पाप अनश्वर हो, उसे मिटाया नहीं जा सकता। नोट फाड़ कर फेंका जा सकता है। किंतु उसमें जो अनुचित लिप्सा अलक्ष्य रूप से छिपी थी, उसका अंत कभी नहीं होता हो। उसके संक्रमण से नहीं बचा जा सकता हो। अकस्मात् एक दिन किसी अनुकूल वातावरण के स्पर्श से जब वह किसी शिशुमन में फूट निकलता है, तब सद् और सभ्य संसार उसी अबोध और निरीह बालक पर सारा दायित्व थोप देता है। सारे जीवन के लिए उसे ही उसका दंड दिया जाता है। कोई नहीं जानना चाहता, उसमें कहाँ से यह कालव्याधि आई, कैसे प्रभात में खिली कली पर एक विषैला कीड़ा आ कर कली पर बैठ गया।

बस्ट्राल स्कूल से मुक्ति पाने के बहुत दिन के बाद भी पीछे की ओर ध्यान देने पर दिलीप का मन बीच-बीच में इसी समाधानहीन प्रश्नजाल से भाराक्रांत हो उठता।

प्रतिदिन सुबह प्रेस खुलने के साथ ही बहादुर आ पहुँचता था। दूसरे सब काम शुरू होने से पहले उसे बहुत कुछ करना होता—प्रेस मास्टर की मेज को झाड़, काग-

पत्र सजा कर रखना, उस दिन के 'जॉव' कार्य की सूची वनाना, किसे क्या काम दिया जायगा तय करना, कौन सा 'मेटर' मशीन पर चढ़ाना होगा, कौन-सा 'ऑर्डर' पहले कम्पोज होगा, कौन-कौन से प्रूफ नहीं देखे गये हैं, इत्यादि। प्रायः ये सभी काम प्रेस मास्टर के हैं, उन्हें ही करना भी चाहिए। लेकिन विनोदवावू प्रतिदिन का यह काम वहादुर के सिर पर डाल निश्चिन्त हो गये थे। इस विपय में वह भी पूरा माहिर हो चुका था। ऑफिस के वावू लोग यह वात जानते थे। साहव भी अनजान नहीं थे इसी-लिए अनेक वार प्रेस के वारे में हठात् कोई जरूरत पड़ने पर उनके सामने वहादुर की पुकार पड़ती।

वहादुर अनुपस्थित था। वात किसी की नजर से वचने की गुंजाइश नहीं थी। लड़कों में इसे ले कर ही कानाफूसी शुरू हुई, यद्यपि हुआ क्या, उनमें से किसी को पता नहीं था। कुछ देर से विनोदवावू आये, अन्य दिन इससे जल्दी आते थे। आज की इस देर और मुख के तमतमाये भाव दोनों से वहादुर का संवंध है, समझने में किसी को कठिनाई नहीं हुई। दिलीप को वह थोड़ा विशेप दृष्टि से देखते थे। लड़के यह जानते थे। इसलिए उनमें से जो कुछ विशेप उत्साही थे उन्होंने मास्टर से रहस्य-भेद करवाने के लिए उसे ही पकड़ा। उसका अपना आग्रह भी कम नहीं था। वह धीरे-धीरे विनोदवावू के पास जा खड़ा हुआ और उनके आँख उठा कर देखते ही पूछा, "वहादुर दा क्यों नहीं आये, सर?"

"वह नहीं आयगा," विनोदवावू गंभीर भाव से वोले।

"नहीं आयेंगे! क्यों?"

"उसे वाहर के वगान की देखभाल का काम सौंपा गया है। जाओ, काम करो। जो न कर सको, वह मुझे दिखा लेना।"

वात सभी के कानों में पहुँची और प्रत्येक अपनी-अपनी जगह मुँह वाए वैठा रह गया। उस समय काम करने लायक किसी की अवस्था नहीं थी। दिलीप भी आ कर अपने छोटे स्टूल पर वैठ गया। उसकी पूछने की इच्छा थी—उसे वाग में क्यों लगाया गया है। लेकिन मास्टर की वात सुन कर समझ गया कि वह इस संवंध में और कुछ नहीं कहना चाहते।

वैंडमास्टर की लड़की की उम्र १४-१५ साल थी। उसके पास एक २०-२१ साल का 'वस्ट्राल वॉय' का चुप-चुप आना-जाना! कानून भंग होने का प्रश्न तो था ही, इसके अलावा नैतिक दृष्टि से यह और भी गुरुतर अपराध था। इसके जो प्रशासनिक शिथिलता के लिए उत्तरदायी है, उसका भी गुरुत्व कम नहीं। कानून के अनुसार चलने जा कर, अर्थात् 'ऑफिशियल एक्शन' लेने पर वात वहुत दूर तक पहुँचेगी और इस मामले में जो लोग स्पष्ट रूप से जुड़े हैं, उनके अलावा और भी फँस जायँगे। वदनामी हेड ऑफिस तक पहुँचे विना नहीं रहेगी। इसका सिलसिला सहज ही नहीं टूटेगा। इन

सब बातों को अच्छी तरह से सोच कर और शायद लड़कों के भविष्य को ध्यान में रख कर अधिकारी वर्ग ने मामले को दबा देना ही ठीक समझा। काम और स्वभाव के गुणों से बहादुर सभी का प्रिय पात्र था। सबसे ज्यादा पेटी ऑफीसर वर्ग पर उसका प्रचुर प्रभाव था। दोपहर के विश्राम के समय गेटकीपर की सहायता से या उसकी आंखों में धूल झोंक कर या फिर पीछे के गेट से मात्र कुछ गज दूर बैंडमास्टर के घर में जा पहुंचता था, इसीलिए डिप्टी सुपर ने बहादुर को बाहर के बगीचे अर्थात् जेल के पीछे काफी दूर भेजने की व्यवस्था की। जो लोग बगीचे में काम करते, बीच के खाने के समय के अलावा प्रायः सारा दिन उन्हें वहीं काटना होता था। उनके ऊपर बागवानी सिपाही भी बहुत सख्त था। विशेषकर बहादुर के प्रति तो एकदम होशियार रहने के लिए डिप्टी बाबू ने उसे गुप्त निर्देश दिया था।

परोक्ष रूप से बहादुर को थोड़ी सजा ही हुई। वह सिर्फ 'स्टार' ही नहीं 'स्पेशल स्टार' था। पढ़ना-लिखना जानता था, प्रेस के काम में जो सम्मान था, वह बगान में नहीं था; जेल में जिस अबाध गतिविधि का अधिकार था, बाहर जाकर काफी कम हो गया। लड़कों की दृष्टि में वह बहुत छोटा हो गया।

खाने के समय बहादुर के साथ आंखें चार होते ही दिलीप ने आंखें झुका लीं। एक प्रकार के संकोच और लज्जा ने उसका सिर झुका दिया हो जैसे। उसके साथ ही थोड़ा क्रोध भी था। इस पहाड़ी लड़के को वह इस बीच बहुत प्यार करने लग गया था। उसका कोई बड़ा भाई नहीं था। यदि होता, तो शायद उसे भी वह इसी दृष्टि से देखता। उसने क्या किया है, इस बारे में उसे कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। इतना ही समझा था कि काम कुछ अच्छा नहीं हुआ है। अच्छा-बुरा जो भी हो, सबसे पहले उसे ही जानने का अधिकार नहीं था क्या ? किंतु बहादुर ने उसे कुछ नहीं बताया। यह बात वह बिल्कुल नहीं भूल पा रहा था।

खाने के बाद भीड़ से बचने के लिए देवदारु वृक्षों के पास से दिलीप विषण्ण मन अकेला सुनसान जगह की ओर जा रहा था, पीछे से पुकार सुन घूम कर खड़ा हो गया। बहादुर आकर उसकी पीठ पर हाथ रख मृदु हँसी के साथ बोला, "क्यों रे ! मुझसे नाराज हो गया है ?"

दिलीप इस बात का जवाब न देकर बोला, "तुम्हारे नाम पर वे लोग क्या सब यह-वह बोलते हैं, बहादुर दा !" बोलते-बोलते दोनों आंखें हठात् छलछला उठीं। उन्हें छिपाने के लिए सिर नीचा कर मुंह फेर कर खड़ा हो गया।

बहादुर के चेहरे से हँसी की रेखा मिट गई, उसका स्थान ले लिया गंभीर म्लान छाया ने। दूर मैदान की ओर देखता हुआ धीरे-धीरे बोला, "बोलने दे। तू कोई जवाब मत दे। थोड़ी फुरसत मिलते ही तुझे सब बताऊंगा।"

गेट के पास से बागवानी सिपाही की हांक सुनाई दी—"ऐ-ऐ-ऐ, तुम लोग कहां

गये रे ?" वहादुर व्यस्त होकर वोला, "अव चलता हूँ। क्यों ?"

वाग में उस समय पूरा मौसम चल रहा था। काम से लौटने में वगान में काम करने वालों को रोज ही देर हो जाती। उस दिन प्रायः संध्या चढ़े आये। अन्य सब लड़के पहले ही खा चुके थे। वैरकों के सामने खुले मैदान में सिनेमा अर्थात् मैजिक लैण्टर्न दिखाई जाने वाली थी। सभी के चेहरों पर जोश था। वह अद्‌भुत यंत्र आ चुका था। छोटे-वड़े सभी वहाँ पर भीड़ वना कर शोर कर रहे थे। और किसी तरफ किसी का ध्यान नहीं था। पेटी ऑफीसर भी उन्हें ही सम्हालने में लगे थे। वगान के लड़के किसी न किसी तरह दो कौर मुँह में डाल कर दौड़े आकर भीड़ में शामिल हो गये। दिलीप की आँखें वहादुर को खोज रही थीं, इच्छा थी उसके पास जाकर वैठे। पर वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। उसके वाद सिनेमा शुरू होते ही मन में और कुछ नहीं रहा। वहादुर तो तुच्छ ठहरा, सारा विश्व-व्रह्माण्ड उसकी आँखों के सामने से लुप्त हो गया, खड़ा रहा सिर्फ एक सफेद रंग का परदा और उस पर एक रूपकथा का सचल संसार। चेचक का टीका न लगवाने पर कौन-सी विपत्ति टूटेगी, कुनैन न खाने पर एक छोटा मच्छर क्या गजव ढा सकता है—इन्हीं सव जानकारियों को देने वाला सिनेमा था। वगल में खड़ा एक व्यक्ति लंवी छड़ी के नुकीले सिरे से सव वातें दिखा रहा था और उसके साथ ही चल रही थी उसकी अनर्गल वक्तृता। दिलीप के कान में उसका एक भी शव्द नहीं पहुँच रहा था। मुग्ध दृष्टि टिकाये वह सिर्फ देख रहा था, तन्मय हो कर उस द्रुत गति से चलती तस्वीरों में डूव गया था। किसे पता था पृथ्वी पर इतना विस्मय भी है।

सव एकवारगी ही समाप्त हो गया। अभी तक आवाज करने वाला पीछे खड़ा यंत्र भी हठात् रुक गया, वह व्यक्ति अपनी वक्तृता रोक छड़ी ले कर पीछे हट गया। दिलीप तव भी उस रूपकथा के राज्य में विचरण कर रहा था। सहसा जैसे किसी कठोर आघात से स्वप्न से जाग उठा। वहुत गुस्सा आया उस व्यक्ति पर। इतनी जल्दी खत्म कर दिया, और नहीं दिखा सका।

सभी के मुंह पर 'सिनेमा' की तारीफ थी, स्वर में आनंद का उच्छ्‌वास था। उसी में सुनाई पड़ी चीफ ऑफीसर की हाँक-पुकार। सभी को अव जा कर वैरकों के सामने लाइन वना कर खड़ा होना था। वहाँ एक-दो-तीन कर गिनती मिलानी थी, फिर जिसका जो कमरा है, उसमें वह चला जायगा। जव तक ठीक संख्या नहीं मिलेगी, प्रवंधकों की दुश्चिता नहीं मिटेगी, विशेपकर जिस दिन सिनेमा दिखाया जाता है उस दिन। गेट खुला रहता है, 'स्टाफ' के लड़के-लड़कियाँ वेरोक-टोक आ सकते हैं, उनके मित्र भी भीड़ करते हैं। साहव का हुक्म है। डिप्टी सुपर ने कानून की ओर से आपत्ति की थी, 'सिक्यूरिटी' की दुहाई दी थी। कोई भी दलील नहीं टिकी। साहव ने अपनी वही चिर-परिचित धीमी हँसी हँस कर सव उड़ा दिया था।

बोले थे, "आपके और मेरे बच्चे को जेब में थोड़ा पैसा है, कभी-कभी एक-दो असली सिनेमा देखने को मिल जाते हैं। किंतु ये लोग ?" कह कर उन्होंने छोटे रूल को झुंड भर लड़के-लड़कियों की ओर ऊँचा किया था जो सिनेमा की गंध पा कर उनके ही कर्मचारियों के क्वार्टरों से भाग कर आये थे। "उनका तो यही संबल है।" हठात् फिर कुछ सोच कर उन्होंने पूछा, "यहाँ के सिनेमा में सबसे कम दाम का टिकट कितने का है, जानते हैं ?"

"शायद पांच आना।"

"इसका मतलब, सारे घर के लिए एक दिन की सब्जी का खर्च।"

डिप्टी बोले थे, "और कोई बात नहीं, भीड़ में एक-दो अगर भाग जाये तो, यही चिंता है।"

"चिंता उन्हें भी है। भाग कर जायेंगे कहाँ ? क्या खायेंगे ?"

यहाँ शायद ज्ञानवान और दूरदर्शी सुपरिंटेंडेंट ने एक गलती की थी। आहार और आश्रय की चिंता ही मनुष्य के मन में प्रायः हर समय बनी रहती है, इसमें संदेह नहीं, फिर भी उसके बाहर भी ऐसा कुछ है, कोई अंतरनिहित ताड़ना, जिसके आकस्मिक आविर्भाव से इन दो प्रबल चिंताएँ एक क्षण के लिए हल्की पड़ जाती हैं। तब वह सब कुछ भूल अज्ञात अनिश्चितता के गर्भ में कूद पड़ता है। एक बार भी सोचता —क्या खाऊँगा, कहाँ रहूँगा।

ऐसा एक अदभुत अनुभव उस दिन उनके लिए जैसे प्रतीक्षा कर रहा था, जिसे वह निश्चय ही सोच नहीं पाये। 'सिनेमा शो' समाप्त हो जाने के बाद मैदान जब सूना हो गया, तब गेट के बाहर खड़े-खड़े उसी छड़ी वाले व्यक्ति के साथ बातचीत हो रही थी। संतोष बाबू भी उनके पास थे। अचानक चीफ ऑफीसर बदहवास हो दौड़े आये। बाहर लोगों को देख एक क्षण को वह थोड़ा संकुचित हुए। डिप्टी ने पूछा, "क्यों सब ठीक तो है ?"

"नहीं सर !" चीफ ऑफीसर ने सूखे मुंह से जवाब दिया।

"नहीं का मतलब ?"

"एक कम पड़ रहा है। बहादुर नहीं मिल रहा है।"

डिप्टी के मुंह से और बात नहीं निकली। आँखें फैला कर देखते रह गये। चीफ की रिपोर्ट साहब के कान में गई। उनके मुंह से अस्फुट स्वर में निकला, "यह क्या !" बोल कर तुरंत भीतर आये। उस ओर देख डिप्टी सुपर को जैसे अचानक होश आया हो और तुरंत चीख उठे, "अलार्म !"

'ग्रीन हाउस' के सब लड़के कंबल खोल बिछौना बिछाने की तैयारी कर रहे थे। गेट के घंटे की ठन-ठन सुन सब थमक कर खड़े रह गये। जो ज्यादा दिन पुराने थे, समवेत स्वर में चीख उठे, 'पगला घंटी।' स्टार ने हांक लगाई, "जोड़े-जोड़े में बैठ

जाओ।" दिलीप ने पगला घंटी का नाम सुना था, किंतु इस भयावह वस्तु से उसका परिचय नहीं हुआ था। उसका दिल अनजाने ही कांप उठा। दूसरे सब लड़के तुरंत ही जाकर एक लाइन में दो-दो कर के बैठ गये थे। वह भी उनकी देखादेखी एक की बगल में बैठ गया। कुछ क्षण बाद ही सहकारी चीफ ऑफीसर नोटबुक और पेंसिल लेकर व्यस्त भाव से कमरे में घुसे और 'दो-चार-छह'''बोलकर जोर-जोर से गिनती शुरू की। संख्या जब कापी में नोट कर चुके, तब लाइन में से कोई एक बोल उठा, "कौन भागा है ?"

"इसमें तोमहारा कौन काम हाय ?" आँख दिखाकर मुंह टेढ़ा कर सहकारी चीफ ने जवाब दिया और साथ ही उतनी ही तेजी के साथ निकल गये।

लेकिन खबर दबी नहीं रही। कुछ ही मिनट में दबे स्वर में गुंजार शुरू हो गया। अनेक लड़कों के चेहरे पर भारी आश्चर्य था। बहादुर के बारे में यह जैसे एकदम असंभव बात थी। एक-दो ने अनुभवी की भाँति सिर हिलाकर बताया, यह वह पहले ही जानते थे। कोई-कोई ऐसे अवसर पर दिलीप के थोड़ी चुटकी लेने से नहीं चूका—"क्यों रे, तेरे साथ तो गहरी जमती थी और आखिर में तुझे छोड़कर चला गया !" दिलीप ने जवाब नहीं दिया। बात कहने लायक उसकी मनःस्थिति नहीं थी।

अगले दिन कानाफूसी के बीच और भी एक भीषण खबर उसके कान में आ पहुँची—बैंडमास्टर की लड़की भी पिछली रात से नहीं मिल रही है। बहादुर ही उस लड़की को लेकर भागा है इस बारे में किसी को कोई संदेह नहीं था। बड़े लड़कों में एक वर्ग बहादुर को देख नहीं सकता था। वे उल्लसित हो उठे। सतीश और शिराजुल इसे लेकर नाना कुत्सित बातें फैलाते घूमने लगे। उनके आक्रमण के प्रधान लक्ष्य बने दिलीप, शम्सुल और कई छोटे लड़के, जिन्हें बहादुर विशेष रूप से चाहता था और उनके संसर्ग से दूर रखने की चेष्टा करता था। दिलीप एकबारगी ही टूट गया। सतीश आदि की सब बातों का मतलब न समझ पाने पर भी इतना समझने की उम्र उसकी हो गई थी कि लड़की को लेकर हुआ यह मामला अत्यंत बुरा है और बहादुर भागने से भी ज्यादा नीच काम कर बैठा है। उसका वह दोपहर के समय बाहर चला जाना, चोरी-चोरी कागज, पेंसिल और खाने की चीजें ले जाना, बैंडमास्टर के घर की ओर उसका तीव्र आकर्षण, जिस अज्ञात कारण से उसे अचानक प्रेस से बगान में भेजा जाना—सब एक भद्दा रूप लेकर दिलीप के मन को दिखायी दे रहे थे। बहादुर ने जो कहने-कहने कहकर भी आखिर तक उसके पास छिपा कर रखा था, उसका कारण निश्चय ही यह था कि वह बात उससे कहने लायक नहीं थी। उस लड़की के साथ उसका क्या संबंध है, स्पष्ट धारणा न होने पर भी, दिलीप को इस बारे में कोई संदेह नहीं रहा कि वह नीच काम है। उसने इस बहादुर को कितना ऊंचा स्थान दिया था। वहां से और एक जन के इस अप्रत्याशित पतन का आघात आज जैसे उसी के हृदय

पर आकर पड़ा था। इसमें जो लज्जा जड़ी है, वह भी उसका हिस्सा है। ऐसा करके जो सब स्वप्न टूट गये, इसके लिए उसका मन उस पहाड़ी लड़के पर भारी क्रोध से भर उठा।

शम्सुल मिलते ही उससे बोला, "मैं जानता हूँ। वही डाइन उसे बहका कर ले गई है। उनका यही काम है। ऐसा दिखाती हैं जैसे उसे कितना प्रेम करती हैं, फिर मौका पाते ही आँख दिखाती हैं।" कहते-कहते जैसे वह होश खो बैठा; जैसे वह अतीत की किसी दृश्यावली में खो गया। फिर अचानक विद्वान व्यक्ति की भाँति राय दी, "जानता है, उतने से लड़के के लिए यह आश्चर्य की ही नहीं अप्रत्याशित बात भी है! लड़कियों की जाति ही बेईमान है। उनका कभी विश्वास नहीं करना।"

जीवन में ठगे जाने से मिली शिक्षा से बड़ा और कोई सबक नहीं होता। अर्वाचीन को वह शिक्षा रातों-रात प्रवीण बना डालती है, बालक के मुख से बुजुर्गपने की बातें कहला सकती है।

न्यायाधीश जब किसी अपराधी को दंड देते हैं, तब उसके साथ ही उस दंड आदेश के कार्यान्वय का भार जेल के अध्यक्ष पर डाल देते हैं। 'यू आर रिक्वायर्ड टू एक्जीक्यूट दि सेंटेंस एकॉर्डिंग टू लॉ' ('कानून के अनुसार आपको दंड आदेश लागू करना है।) बस्ट्राल स्कूल होने पर भी कारागार है। वहाँ के अधिवासी दंडित बंदी होते हैं। वे एक निश्चित अवधि के लिए आते हैं। उसमें से जितनी माफी प्रत्येक को प्राप्य है, उसे काट कर बाकी समय उनको इस जेल में बंद रखने का दायित्व यहाँ के अधिकारियों पर है। इसका उल्लंघन करना अपराध है। निश्चित समय पूरा होने से पहले अगर कोई भाग जाय, तो जिस प्रकार वह बंदी दंडनीय है, वैसे ही उसको भागने में सहयोग देने वालों को भी दंड भोगना पड़ता है। सुपर का काम होता है उस दायित्व को स्थिर करना। इससे पहले उसे इस पलायन की प्राथमिक रिपोर्ट पुलिस मजिस्ट्रेट और जेल विभाग के दफ्तर में करनी पड़ती है।

थोड़ी देर की व्यर्थ खोज-बीन के बाद उसी रात में सुपर ने अपने निजी दफ्तर में बैठकर उस रिपोर्ट का विवरण तैयार किया। पास में डिप्टी संतोषबाबू खड़े रहे। दोनों के चेहरों पर ही दुश्चिंता की छाया थी। लड़का सिर्फ भाग ही नहीं गया था, उनके एक अधीनस्थ कर्मचारी के क्वार्टर से एक लड़की को लेकर भी गया था। 'एस्केप' के साथ 'एब्डक्शन' (पलायन के साथ नारीहरण)। बस्ट्राल के मुंह पर ढेर-सी स्याही पोत गया था। सुपर साहब का सारा आक्रोश जाकर पड़ा उस 'बुड़बक' बैंडमास्टर पर। इतने दिन क्या कानों में तेल डाल कर सोया था? उसकी पत्नी भी कैसी औरत है? माँ होकर वयस्का लड़की को घर में अकेली छोड़ सिनेमा देखने चली आई बस्ट्राल के मैदान में।

दरवाजे पर विनीत गंभीर स्वर सुनाई दिया, "मैं अंदर आ सकता हूँ, सर?"

बैंडमास्टर वीरबहादुर था वह। अब क्या चाहता है वह? साहब बोले, "आओ।"

वीरबहादुर ने कमरे में आकर मिलिटरी ढंग से सैल्यूट किया। साहब के स्वर में पुराना रोष फूट पड़ा, "इतने दिन क्या करते रहे? आज आये हो बेटी के चोरी जाने की नालिश करने।"

"नालिश करने नहीं आया हूँ, सर!"

"फिर क्यों आये हो?"

"कहने आया हूँ कि मेरी कोई शिकायत नहीं है। मेहरबानी करके मेरी बेटी को इसमें मत लपेटिये।"

"यह कैसे हो सकता है?" गरज उठे संतोषबाबू, "इतने बड़े कांड को हम दबाकर नहीं रख सकते। घटना तो बस्ट्राल स्कूल के अहाते में ही घटी है।"

वीरबहादुर ने कोई जवाब नहीं दिया, जैसे उसन बात सुनी ही न हो। साहब की ओर स्थिर दृष्टि रख अटेंशन की भंगिमा में खड़ा रहा। सुपर साहब कुछ क्षण उसके मुँह की ओर देखते रहे, फिर धीमे स्वर में बोले, "तुम अलग से पुलिस केस करना चाहते हो?"

"जी नहीं, मैं पुलिस में नहीं जाऊँगा।"

"किंतु तुम्हारी पत्नी तो विशेष रूप से डिप्टी साहब से कह गई है।"....

"औरतों की बात पर मत जाइये, सर! वे जो भी कहें, मैं कह रहा हूँ अपनी बेटी का भला-बुरा, मान-इज्जत मैं समझूँगा। उसे लेकर सरकार को कुछ नहीं करना है। दया करके आप लोग मेरे पारिवारिक मामले में हाथ न दीजिए।"

स्वर अनुनय का होने पर भी उसमें दृढ़ता का स्पष्ट आभास था। डिप्टी बाबू ने फिर कुछ कहना चाहा, साहब ने हाथ उठाकर बाधा दी। यह स्वर वह पहचानते थे। बहुत दिनों तक इस अंदर-बाहर से जटिलताहीन फौजी जाति के साथ व्यवहार कर चुके थे। अच्छी तरह जानते थे, इनके मन में कोई टेढ़ापन नहीं होता। ये सरल ढंग का सीधा रास्ता पकड़ कर चलते हैं। ये लोग जो कुछ समझते हैं, एक बार में ही समझते हैं, उसके बाद कुछ समझने की कोशिश विडंबना है।

घोष साहब ने फिर एक बार अपने बैंडमास्टर की ओर देखा, भुजा और चेहरे के भाव में एक संकल्प की छाप के अलावा और कुछ नहीं पढ़ सके। उसके पीछे निश्चय ही कोई इतिहास है, जिसे वह व्यक्त नहीं करना चाहता। और कोई प्रश्न न करके सिर्फ इतना कहा, "अच्छा तुम जाओ।"

फिर डिप्टी बाबू की ओर घूमकर आगे बोले, "अंत की लाइनें काटकर सिर्फ 'एस्केप' की रिपोर्ट भेज दीजिए।"

बस्ट्राल स्कूल की यांत्रिक जीवन-धारा में जो उच्छृंखलता थी, यह आकस्मिक

दुर्घटना उसका प्रायः सारा स्रोत ही सोख ले गयी। ऑफिस, बैरक, वर्कशॉप में यहाँ तक कि खेल के मैदान में भी एक प्रकार के तनाव का भाव था। सब रूटीन बँधे काम एक के बाद एक करके प्रायः चुपचाप किये जा रहे थे, कहीं कोई चंचलता नहीं थी। बहादुर पर जो नाना कारणों से नाराज थे और इस मामले को लेकर शुरू में बहुत चंचल हो उठे थे, वे भी जैसे अचानक चुप पड़ गये।

स्कूल के रूप में शिक्षा विभाग ने बस्ट्राल में प्राइमरी और प्राथमिक स्कूल तक खोला था, किंतु और एक तरह से उसे हाईस्कूल का मान मिला था। उपयुक्त समझे जाने पर यहाँ के लड़कों को मैट्रिकुलेशन परीक्षा देने की अनुमति थी। बहुत समय तक यह संभव नहीं हुआ। वैसा लड़का ही नहीं मिला। दिलीप को यदि ठीक से तैयार किया जाय, तो शायद एक दिन इस क्षुद्र प्रतिष्ठान को विश्वविद्यालय ने जो विशेष सम्मान दिया है, उसकी उपयुक्तता को प्रमाणित कर सकता है, ऐसी आशा अध्यक्ष के मन में जगी हुई थी। इसीलिए उसकी पढ़ाई-लिखाई के लिए कई अलग बंदोबस्त कर दिये थे। आशुबाबू को बुलाकर बोले थे, "यह काम आपको ही करना होगा। पूरे छह वर्ष का समय मिल रहा है, नहीं कर सकेंगे क्या ?"

आशुबाबू ने क्षण भर सोचकर उत्तर दिया था, "ठीक नहीं कह सकता, सर ! फिर भी न कर सकने का कोई कारण नहीं देखता। लड़के में मेधा है, पढ़ने-सीखने का आग्रह है और मेरी ओर से कोई कमी नहीं होगी।"

"तब ठीक है"....जैसे सिर्फ आश्वस्त ही नहीं, इस बारे में वह संदेहरहित हो गये हों, ऐसे स्वर में बोले थे घोष साहब।

इसके बाद से आशुबाबू का काम बढ़ गया था। स्कूल के नियमित क्लास लेने के बाद, दूसरे सब लड़कों की छुट्टी हो जाने पर वह दिलीप को लेकर अपना स्पेशल क्लास शुरू करते। उसी में हेडमास्टर का भी एक घंटे का अंग्रेजी का क्लास था।

बहादुर के चले जाने के पाँच-छह दिन बाद से दिलीप शून्य स्कूल-भवन के एक कमरे में आशुबाबू के पास बैठ कर पढ़ता था। उस दिन रोज की तरह काम समाप्त हो जाने पर कापी-कितावें समेट जाने के लिए कदम बढ़ाते ही सर बोले, "तुम्हारी एक चिट्ठी आई है।"

"मेरी चिट्ठी !" विस्मय के साथ ये दो शब्द जैसे अनजाने ही निकल गये।

"हाँ, यह लो।"

दिलीप हाथ भी आगे नहीं कर सका, विह्वल दृष्टि से मास्टर साहब के [illegible] की ओर देखता रहा। यहाँ अनेक लड़कों के नाम चिट्ठी आती उनके [illegible] बहन के पास से। उसकी चिट्ठी कभी भी नहीं आई। कौन लिखता ? जो था, एकमात्र व्यक्ति जो लिख सकता है, वह शायद आज

खोजता फिर रहा होगा। क्या फिर इतने दिन बाद....? आशुबाबू का स्वर सुनाई पड़ा। शायद उन्होंने उसे अन्यमनस्क देखकर कहा था, "बहादुर ने लिखी है।"

"बहादुर दा ने !" अस्फुट स्वर में शब्द निकले, साथ ही मुँह खुला लिफाफा दिलीप ने जैसे छीन कर ले लिया। तह खोलते ही पढ़ना शुरू कर दिया :

"भाई दिलीप,

"सोचा था, अपनी सारी कहानी एक दिन तुम्हें सुनाऊँगा। इसके लिए समय ही नहीं मिला।

"जानता हूँ, वहाँ सभी मेरा नाम लेते ही छीः छीः करते होंगे। तुझे भी खूब दुःख हुआ है। उन्होंने निश्चय ही कहा होगा मैं एक लड़की लेकर भाग गया हूँ। किंतु कोई नहीं जानता, वह मेरी माँ के पेट से जन्मी बहन है। उसे बचाने के लिए ही, सिर्फ निंदा नहीं, इतने बड़े अपराध का बोझ सिर पर लादना पड़ा है। भागने के अलावा और कोई उपाय नहीं था।

"सुनकर तू निश्चय ही आश्चर्य करेगा—बैंडमास्टर मेरे पिता हैं, हमारी माँ नहीं है। इस बहन को मैंने गोद में बड़ा किया था। कुछ वर्ष बाद मेरे पिता अचानक फिर से विवाह कर बैठे। हमारे भी दुःख के दिन शुरू हो गये। फिर मैं कैसे जेल गया, यह सब बात यहीं रहने दो।

"रनमाया को वे भरपेट खाना नहीं देते थे। जब-तब मारते-पीटते रहते। बीच-बीच में छिप कर एक बार मिल आने के अलावा और मैं कुछ नहीं कर सकता था। वह भी बंद हो गया था। यह सब तो तू जानता है।

"उस दिन अचानक पता चला, मेरी सौतेली माँ उसके विवाह का बहाना करके अपने एक शराबी बदमाश रिश्तेदार के हाथ उसे बेच रही है और पिता सब जानकर भी चुप हैं। फिर मैं रह नहीं सका।

"उसे लेकर कहाँ किस अवस्था में हूँ, यह बात तुझे नहीं बता सकता। उसका कोई अच्छा ठिकाना करते ही, मैं लौटकर खुद को पकड़वा दूँगा। अपराध किया है उसकी सजा भी लेनी होगी।

"कितनी बातें बताने को रह गईं। अगर किसी दिन अवसर मिला तब बताऊँगा।

"स्कूल के पते पर लिखने से वे लोग मेरी चिट्ठी तुझे नहीं भी दे सकते हैं। इसीलिए मास्टर साहब के नाम भेज रहा हूँ। उन्हें हम दोनों ही अच्छी तरह चाहते हैं। अगर उनके हाथ में पहुँची तो तुझे निश्चय ही मिल जायगी।

"उन्हें मेरा प्रणाम कहना।"—बहादुर दा

आशुबाबू चुपचाप देख रहे थे। इसके साथ दो पंक्तियाँ उनके लिए भी लिखी थीं बहादुर ने—"दया करके चिट्ठी दिलीप को दे दीजिएगा, और अगर यह संभव न हो

तो उसे इतना बताने की कोशिश कीजिएगा, बता देंगे तो कृतज्ञ होऊँगा।"

दिलीप पत्र पढ़कर बोला, "आपने पढ़ी है, सर ?"

उन्होंने मृदु हँसी के साथ जवाब दिया, "तुम्हारी चिट्ठी मैं क्यों पढ़ूँ ? क्या लिखा है ?"

"पढ़कर देखिए। मैं जानता था, बहादुर कोई अपराध नहीं कर सकता। अभी जाकर सबको यह चिट्ठी दिखाऊँगा।"

आशुबाबू कुछ लाइनों पर एक बार में दृष्टि फिरा कर सिर हिलाते हुए बोले, "इसकी जरूरत नहीं। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो साहब को दिखा सकते हो।"

"मैं अभी जाता हूँ।"

भाग कर जाते-जाते हठात् खड़ा हो गया। लड़कों के नाम आने वाली सब चिट्ठियाँ पहले ऑफिस में खोली जाती हैं। एक क्लर्क उन सबको पढ़कर देखता है, फिर एक बड़ी 'मुहर' लगा कर साहब के हस्ताक्षर लेकर, जिसकी चिट्ठी होती है, उसे बुला कर दे देता है। यह नियम वह जानता था। किंतु यहाँ उसमें से कुछ नहीं हुआ था। साहब अगर गुस्सा हो गये तो ?

आशुबाबू उसके मुख की ओर देखकर बोले, "क्या हुआ ?"

दिलीप ने डरी-डरी आँखें ऊपर उठाईं। जो बात मन में आई थी उसे तुरन्त नहीं बोल सका। सिर्फ पत्र को एक बार उलट-पलट कर देखा। उसी से उन्होंने अनुमान लगा लिया। उस चेहरे की प्रत्येक रेखा, आँखों की प्रत्येक भाषा उन्हें मुखस्थ हो गई थी। आश्वासन के स्वर में बोले, "साहब अगर पूछें चिट्ठी कहाँ से मिली, कैसे मिली, तो सच बता देना। इसमें तुम्हें डरने की कोई बात नहीं।"

दिलीप का सारा मुख खुशी से उज्ज्वल हो उठा। किताबें मेज पर छोड़ विद्युत वेग से बाहर निकल गया।

इससे पहले वह साहब के पास खुद कभी किसी काम को लेकर नहीं गया था। उस विपुलकाय व्यक्ति को लेकर उसका प्रथम दिन का वही भय तब भी सारा का सारा दूर नहीं हुआ था। उस समय उसके मन में कैसे इतना दुर्जय साहस भर गया, यह वह भी नहीं जानता। ऊर्ध्व श्वास मैदान पार कर सुपर के ऑफिस के सामने पहुँचते ही, गेटकीपर ने हाँक लगाई, "क्या चाहिए ?" इससे पहले ही वह परदा हटा कर कमरे में घुस गया। साहब के आँख उठा कर पूछने से पहले ही पास जाकर बोला, "बहादुर ने चिट्ठी लिखी है, सर !"

घोष साहब की आँखें विस्मय से फैल गईं, "बहादुर ने चिट्ठी लिखी है ! कहाँ ?"

दिलीप ने पत्र मेज पर रख दिया। साहब ने चिट्ठी उठा कर इधर-उधर देख कहा, "तुम्हारी चिट्ठी है ?"

"हाँ, सर !"

"किसने दी तुम्हें ?"

"मास्टर साहव ने दी। उनके नाम आई है न ?"

"कौन से मास्टर साहव ने ?"

"सेकेंड सर।"

चिट्ठी पढ़ते समय सुपर के माथे पर कुंचन दिखाई दिया। बायें हाथ से 'कालिंग बेल' बजाई और गेटकीपर आ खड़े होते ही बोले, "आशुवावू !"

आशुवावू जानते थे उन्हें बुलाया जायगा। दिलीप के पीछे-पीछे गेट तक आ कर दूसरी ओर के ऑफिस में इंतजार कर रहे थे। उनके कमरे में पैर रखते ही साहव दिलीप से बोले, "अच्छा, तुम अब जाओ। चिट्ठी मेरे पास रहेगी। बाद में भेज देंगे।"

फिर आशुवावू की ओर घूम कर बोले, "देखता हूँ यह तो बहुत आश्चर्यजनक मामला है। आप जानते हैं कुछ ?"

आशुवावू ने सिर हिला कर जताया, नहीं। फिर एक बार साहव की उँगली कालिंग बेल पर गयी। बैंडमास्टर को तुरंत हाजिर किया जाय।

वीरवहादुर ने कुछ दिन की छुट्टी ली थी। पर घर से नहीं निकलता था। कुछ ही मिनिट में साहव की मेज के पास आ खड़ा हुआ। उसके उसी चिर-परिचित मिलिटरी ढंग के सैल्यूट में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ, लेकिन खड़े होने का ढंग आज पहले जैसा नहीं था, सिर सीने की ओर लटका जा रहा था। मुख देख कर इनके मन का हाल जानना वहुत कठिन है, किंतु उस क्षण वहाँ जो एक विषण्ण-गंभीर छाया स्पष्ट हो उठी थी, वह सहज में दिखाई पड़ रही थी। साहव क्षण भर स्थिर दृष्टि से उस ओर ताकते रहे, फिर वोले, "तुमसे कुछ वातें पूछना चाहता हूँ, वीरवहादुर ! आशा है सही-सही जवाव दोगे।"

"पूछिए, सर।" वैसे ही नीचे की ओर देखते हुए बैंडमास्टर ने कहा।

"यह लड़का तुम्हारा कौन है ?"

वीरवहादुर पूछ सकता था कौन-सा लड़का, अनावश्यक समझ कर ही नहीं पूछा। सीधा-सादा जवाव दिया, "मेरा वेटा।"

दोनों ने ही विस्मित दृष्टि से देखा। शायद ऐसे द्विविधाहीन द्रुत उत्तर की आशा नहीं थी। साहव ने दूसरा प्रश्न किया, "यह वात इतने दिन छिपाये क्यों रहे ?"

वीरवहादुर ने उत्तर नहीं दिया, सिर भी नहीं उठाया। जैसा खड़ा था, वैसे ही खड़ा रहा। सुपर तिक्त स्वर में बोले, "जेल भुगतनेवाले वेटे का वाप होने का परिचय देते शर्म आती थी शायद !"

अव वीरवहादुर ने सिर उठा कर देखा। शांत स्वर में वोला, "आप मालिक हैं। आप से झूठ नहीं वोलूंगा। हालांकि मेरा लड़का चोरी-डकैती करके जेल नहीं आया था, जिस लिए आया था उसके लिए काफी हद तक मैं ही जिम्मेदार हूँ। फिर भी दस

लोग उँगली उठा कर कहें, वह बैंडमास्टर का लड़का है, सोचते ही मन न जाने कैसा छोटा हो जाता है। कहूँ कहूँ सोच कर भी नहीं कह सका।"

"आश्चर्य है!" क्षुब्ध किंतु निम्न स्वर में सुपर जैसे अपने मन में बोले। वीर-बहादुर ने उस ओर ध्यान नहीं दिया, धीरे-धीरे अगला सूत्र पकड़ कर बोला, "किंतु उसके बाद जो लज्जा मुझे दे गया, उसके आगे जेल में आना कुछ भी नहीं था। आज मैं सिर नहीं उठा पा रहा हूँ, साहब।"

"भाग गया इसलिए?"

"नहीं सर, सिर्फ भाग गया इसलिए नहीं।"

"फिर? अपनी बहन को साथ ले गया; इसमें क्या शर्म की बात है?"

"क्यों ले गया, यह तो आप लोग नहीं जानते, सर! बाप के हाथ से छोटी बहन को बचाने के लिए। मैं वही बाप हूँ—यह लज्जा मैं किस तरह ढाँकूं!"

साहब और आशुबाबू, दोनों को ही बहादुर की दिलीप को लिखी चिट्ठी में वही कुछ पंक्तियाँ याद आ गईं। कहने लायक कोई बात सोच नहीं सके। फौज से असमय में निकाले गये इस असहाय निरुपाय भग्नावस्था के बैंडमास्टर के मुख की ओर ताकते रहे।

वीरबहादुर अपने उसी फौजी ढंग से दो कदम और पास आया। जेब से बाहर निकाल चार तह किया एक फुलस्केप कागज का आधा शीट, दोनों हाथों से तह खोल कर मेज पर रख दिया और फिर पुरानी जगह पर लौट कर खड़ा हो गया। सुपर एक नजर उस कागज को देखते ही विस्मय से बोले, "नौकरी छोड़ रहे हो?"

"हाँ, साहब। कई बार सोचा था, छोड़ दूँ, छोड़ नहीं सका। पंद्रह वर्ष तक बैगापाइप बजा कर दिल छलनी हो गया है। वृद्ध अवस्था है, कहाँ जाऊँगा, क्या खाऊँगा—यही चिंता थी। किंतु आज अब और सोचने से तो नहीं चलेगा।....एक और विनंती है, सर। अर्जी मंजूर होने में अगर कुछ दिन का समय लगे, तो मेहरबानी करके उतने दिन की मेरी छुट्टी बढ़ा दीजिएगा।"

कुछ क्षण तक चुप्पी छाई रही। फिर सुनाई पड़ा। मृदु गम्भीर स्वर—"अन-जाने में शायद अनेक कसूर कर बैठा हूँ आपके पास, बहुत गफलत दिखाई है, उसके लिए माफ कर दें।"

अंत में उसका गला भारी हो उठा था। आशुबाबू ने दूसरी ओर मुंह फेर लिया। लगता था, साहब कुछ अन्यमनस्क हो उठे थे। खट् की जूतों की आवाज कान में जाते ही आँख उठा कर देखा, एबाउट टर्न हो कर वीरबहादुर बाहर जा रहा था।

करीब तीन माह बाद दिलीप ने सुना, बहादुर पकड़ा गया है। पकड़ा देने के लिए वह खुद ही बस्ट्राल स्कूल के अध्यक्ष के पास आ रहा था। गंगा पार कर इस पार आते ही एक पुलिस कांस्टेबल ने पहचान लिया और तुरंत गिरफ्तार करके थाने ले

गया। थाने से सेंट्रल जेल ले जाया गया। खबर पा कर साहब ने उसे वस्ट्राल में वापस लाये जाने की चेष्टा की थी। वस्ट्राल स्कूल्स एक्ट की धारा का उल्लेख करके एस० डी० ओ० को लिखा था—यहाँ से कोई लड़का अगर भाग जाय तो पुलिस का काम है उस भगोड़े 'इनमेट' को गिरफ्तार कर स्कूल की हिफाजत में पहुँचा देना। उसके विरुद्ध फौजदारी मामला दायर करने या न करने का निश्चय करना वस्ट्राल के सुपरिन्टेन्डेन्ट का काम है।

पुलिस की ओर से इस विषय में कोई आपत्ति न रहने पर भी, एस० डी० ओ० राजी नहीं हुए। उन्होंने उत्तर दिया था—आसामी सिर्फ 'लॉ-फुल कस्टडी' से ही भागा हो, इतना ही नहीं, वह नारी-अपहरण जैसे जघन्य अपराध का भी अभियुक्त है। न्याय की दृष्टि से जेल-हाजत ही उसका उपयुक्त स्थान है। उसका पक्ष लेकर वस्ट्राल स्कूल के सुपरिन्टेन्डेन्ट वकालत कर रहे हैं, यह बहुत आश्चर्य की बात है।

अंत में किंचित व्यंग का समावेश था—भावुकता अच्छी चीज है किंतु उसके दुरुपयोग अथवा अतिप्रयोग के बारे में सावधान रहने की जरूरत है। विशेषकर किसी उत्तरदायित्वपूर्ण सरकारी कर्मचारी के पक्ष में इस प्रकार की भावप्रवणता एकदम अवांछनीय है।

पत्र पाते ही घोष साहब ने जिला मजिस्ट्रेट के बैठकखाने पर धावा कर दिया था और असली घटना खोल कर बतायी थी। इसका कोई फल नहीं हुआ। प्रशासनिक मामले में एस० डी० ओ० कलक्टर के अधीन होने पर भी एक फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट होने के नाते उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। यहाँ वह हाथ नहीं डाल सकते। इसके बाद हृदय में निष्फल क्षोभ लिए चुप रह जाने के अलावा अध्यक्ष साहब को और कोई उपाय नहीं रहा।

● ● ●

सात

बस्ती की गली-गली में जिन सब तरह के लोगों का वास है, उनमें ऐसे भोर-वाही जीव भी हैं, जिन्हें 'वाला' कहते हैं। अग्रवाला, झुनझुनवाला नहीं (ये लोग तो बड़ा बाजार के ऊँचे प्रासादों में रहते हैं), मुरमुरेवाला, दालवाला, पापड़वाला आदि 'वालों' के झुण्ड। उनका कर्मक्षेत्र शहर है, वासस्थल शहरतला। शहर के रास्तों में सारे दिन फेरी लगा और गला फाड़ कर यहाँ की गली में जा खपरैल के घर में रात काटते हैं। इनके अलावा दो प्रकार के 'वाला' और हैं, बस्तीवासी न होने पर भी बस्तीवासियों की छाती पर जिनका दिन-रात आसन है। वे हैं पहरावाला और घर-

वाला; पुलिस और मालिक; शांतिरक्षक और आश्रयदाता। किन्तु इस रक्षण और आश्रय से निश्चिंत होना तो दूर, यहाँ के बूढ़े-बच्चे यही सोचकर अस्थिर रहते हैं कि उनके चंगुल से कैसे दूर रहा जाय।

बस्ती से एक छोटा लड़का दिन-दहाड़े गायब हो गया—गरीब ब्राह्मण विधवा का एकमात्र लड़का—इसे ले कर आस-पास के लोग एकबारगी ही निश्चेष्ट थे, यह नहीं कहा जा सकता। रास्ते, पार्क, अस्पताल, भिखारियों के अड्डे और अन्य अनेक संदेहजनक स्थलों पर कुछ दिन तक खूब खोज कर चुकने के बाद यही धारणा दृढ़तर होती गई कि यह काम बच्चे पकड़ ले जाने वाले गिरोह का है। एक स्थान वे विशेष सावधानी से बचा गये, वह था पुलिस थाना। 'डायरी कराने' का प्रस्ताव किसी के मुँह से सुने जाने पर भी साधारण भाव से समर्थन नहीं पा सका। विदेशी शासक की पुलिस ठहरी। उसे 'कष्टकारी व्यवस्था यन्त्र' के अलावा अन्य किसी रूप में देखना उन्होंने नहीं सीखा था। जान-बूझ कर उसके चंगुल में कौन पड़े? इसके अलावा 'स्वदेशी आंदोलन' का जमाना था। कहाँ से कौन-सा सूत्र पकड़ पुलिस कौन-सा झमेला खड़ा कर देगी, कोई नहीं कह सकता।

घोर शोक में एक प्रकार का वैराग्य रहता है। मन सब ओर से निरासक्त हो जाता है। निर्मला की भी तब वैसी ही अवस्था थी। सारा जीवन उसे एक के बाद, एक आघात सहना पड़े थे। बार-बार गिरने पर भी तुरन्त उठ खड़ी हुई। दुर्भाग्य के आगे हार स्वीकार नहीं की। इस बार जब चरम आघात लगा, तो फिर से खड़े होने की इच्छा नहीं हुई। मन में आया, अब करने को कुछ नहीं है। जो तीव्र वेदना-बोध मनुष्य को चुप रह कर नहीं बैठने देता, ठेल कर खड़ा कर देता है, वही उसका समाप्त हो गया। देह के किसी अंग पर निरन्तर चोट पड़ते रहने पर वह अंग 'चेतनाहीन' हो जाता है। देह के अन्दर स्थित मन के साथ भी यही बात है। निर्मला का मन उस दिन से कोई आवाज नहीं करता।

मुन्ना के चले जाने के बाद कुछ दिन तक एक बार भी घर से बाहर नहीं निकली। रसोईघर का दरवाजा नहीं खोला। बिनू की माँ आती, जोर-जबरदस्ती कर के दो कौर खिला देती। दूसरे घरों की औरतें भी जब-तब उसके पास आती रहतीं, तरह-तरह की बातों से साहस-सांत्वना देतीं। हारू का मन भी बहुत बुझा-बुझा-सा रहने लगा। उसकी माँ भी कई बार आई, लेकिन क्या कहे, क्या करे, कुछ सोच नहीं पाई। उसे क्या पता था बात इतनी दूर तक बढ़ जायगी? कैसा है यह लड़का [illegible] उस पर थोड़ा हाथ उठा दिया तो क्या घर छोड़ कर चला जायगा! अपने [illegible] तो वह दोनों वक्त दुरदुराती रहती है, कभी-कभी तो मारते-मारते [illegible] है। कुछ देर रोता-चीखता है, घंटा-डेढ़-घंटा कहीं छिपा रहता है, उसके बाद [illegible] का तैसा। इधर-उधर के दो चक्कर मार कर आते ही बोलता है, [illegible]

यह लड़का कहाँ गया ?

कोई कुछ भी कहता, निर्मला का काम था बस चुप रह कर सुनते रहना। भली बात पर जवाब नहीं देती, बुरी बात का भी प्रतिवाद न करती। ज्यादातर वक्त वह चुप लेटी रहती।

उसके बाद उसे फिर एक दिन उठना ही पड़ा। बिनू की माँ के परिवार पर बोझा बढ़ाने से और कितने दिन चलेगा ? वैसे भी उनका दाएँ आने पर बाएँ पूरा नहीं पड़ता। जिस रसोईघर का काम खत्म हो गया, सोच लिया था, फिर जा कर उसके चूल्हे के पास बैठना पड़ा। जो हो, दो मुट्ठी भात उबाल कर मुँह में डाले बिना नहीं चल सकता। जब तक देह है, उसकी जरूरत मिटाते रहनी पड़ेगी। इसी का नाम प्राण-धारण का दायित्व है। शरीर में प्राण रहते उसके हाथ से किसी की मुक्ति नहीं।

घर में बैठे रहने से नहीं भी चलेगा। पूँजी कहने को जो थोड़ा कुछ बचा था, सब दो दिन में ही समाप्त हो गया। अब फिर नये सिरे से जीविका खोजने निकलना पड़ेगा। फिर वही द्वार-द्वार धरना देना—अरे, क्या तुम लोग रखोगे ? इतने दिन मुन्ना था। उसके लिए उसने सब दीनता सह ली थी। छोटे काम की हीनता की उसने परवाह नहीं की। आशा थी, कितने दिन और ? मुन्ना के बड़े होने पर फिर उसे पराये द्वार-का चक्कर नहीं काटना होगा। आज वह आशा निर्मूल हो गई। उसे फिर से जाकर अशालीनता, अवज्ञा के आगे खड़ा होना पड़ेगा, हाथ फैला कर लेना होगा दीनता का अन्न; सिर्फ खुद को जीवित रखने के लिए। इससे बड़ी ग्लानि और क्या है ?

बिनू की माँ प्रायः ही आकर समझाती, "कुछ न कुछ तो कर। हाथ-पैर समेटे कितने दिन बैठी रहेगी ? लड़का नहीं, पेट का शत्रु है। उसके लिए सोच-सोच शरीर निढाल करने से क्या लाभ होगा, बता ? जिन्दा तो रहना ही पड़ेगा।"

"जिन्दा रहने से भी मेरा क्या लाभ होगा, दीदी ?"

"मौत चाहने से आती है क्या ? हम लोगों के प्राण कछुए के जो हैं।"

वही पुरानी सांत्वना। निर्मला ने और बात नहीं बढ़ाई, चुप रह गई। उस दिन जैसे एक और स्वर सुनाई दिया, बिनू की माँ के मुँह से। वह बोली, "मेरे बड़े बेटे को तूने देखा नहीं। सात वर्ष का होते ही न जाने कौन से काल-रोग ने पकड़ लिया था। हाथ-पैर लकड़ी-से और पेट ढोल-सा हो गया था। डॉक्टर ने कहा ज्यादा करके फल का रस और पनीर खाने को दो। कहाँ से पाती ? दोनों वक्त दो मुट्ठी दाल-चावल नहीं जुटा सकती थी, उस पर पनीर और फल। पूरे एक साल भोग कर जिस दिन चला गया, मन में क्या आया था, जानती है ? मन में आया था, लड़का मुझे मुक्ति दे गया। सुबह होते ही उसकी चिंता फिर नहीं करनी पड़ेगी।"

कहते-कहते बिनू की माँ जैसे बहुत पीछे छूट गयी रात में पहुँच गयी। कुछ क्षण बाद एक निःश्वास छोड़ निर्मला की ओर दृष्टि घुमा कर बोली, "तुझे तो यह

त्वना नहीं है। तेरा लड़का तो तुझे मुक्ति दे कर गया नहीं है। जितने दिन जिंदा हेगी, तुझे उसके लिए तैयार हो कर जो बैठना है।"

निर्मला चौंक उठी। यह जैसे उसके ही अंतर की प्रतिध्वनि हो। आशा अमर । उसकी मृत्यु नहीं होती। दूर घने अंधकार में से आने वाली दीपशिखा की रश्मि समान कुछ दिन पहले से निर्मला के हृदय में आशा दिखाई दी थी। विनू की माँ की म्प्र-बात ने जैसे उस आशा-रश्मि को बढ़ा दिया। उसे जीवित रहना ही पड़ेगा। ना वापस आये चाहे न आये, उसके लिए उसे इंतजार करते रहना होगा।

बाहर का दरवाजा भिड़ा हुआ था। उसी पर किसी के हाथ की आवाज सुनाई ही। साथ ही अपरिचित स्वर में पुकार भी—'चिट्ठी है'। निर्मला बड़बड़ा कर उठ ठी। गिर पड़े आँचल को किसी प्रकार अंग पर सम्हालती हुई दरवाजे के पास हुँची। निश्चय ही मुन्ना की चिट्ठी है। उसके अलावा और कौन है उसका? कौन जेगा चिट्ठी? विनू की माँ भी व्यस्त भाव से उसके पीछे आ खड़ी हुई। तत्क्षण एक र में दरवाजा खोला, पियुन के हाथ से निर्मला ने चिट्ठी जैसे छीन कर ले ली। वह ाँखें फैला कर उस ओर देख रही थी। चिट्ठी नहीं, कोने की तरफ धागे से बँधे दो ागज थे। अदालत के चपरासी ने गम्भीर भाव से जता दिया, "मकानवाले ने बाकी ाड़े की नालिश की है। यह उसी का परवाना है। आपका ही नाम निर्मला भट्टाचार्य न? लीजिए, दस्तखत कीजिए।"

कंधे पर झूलते बैग में से एक दावात निकाल कलम की नोक उसमें डुबो निर्मला ी तरफ बढ़ा दी।

तीन माह का भाड़ा नहीं दिया था। मकानमालिक का गुमाश्ता पिछले महीने ी आ कर धमका गया था, घर न छोड़ने पर नालिश करेगा। निर्मला को याद नहीं हा था। भूल ही गई थी, पृथ्वी की परिक्रमा रुकी नहीं है। वह जब अपने दुःख के :ख से कोटर में आँख बंद किये पड़ी थी, तब बाहर की दुनिया अपना वही पुराना पथ कड़े बढ़ी जा रही थी। उस अमोघ नीति में बाल भर परिवर्तन नहीं हुआ। तुम्हारा भाग्य एकमात्र रूप से तुम्हारा है। उस ओर देख कर संसार अपना दावा क्यों ोड़ने लगा?

विनू की माँ ने पूछा, "कितना रुपया बाकी है?"

"छह रुपये।" दोनों कागजों की ओर देखते हुए ही निर्मला ने जवाब दिया।

अंक सुन कर और दूसरी बात नहीं कही, सिर्फ एक घबड़ाहटपूर्ण आवाज ही विनू की माँ के गले से निकली। इसके बाद का पर्व दोनों में से किसी को अजाना नहीं ा। बस्ती के घर-घर में दिन-रात यह दृश्य घट रहा था। रुपये न दे पाने पर पियुन फिर आयेगा और उस बार उसके हाथ में माल कुड़की का परवाना होगा। बीच में कुछ दिन की मोहलत, फिर प्यादा आ कर 'अस्थावर' के नाम पर जो कुछ हो तुम्हा

घर में खींच कर निकालेगा—चावल की हाँड़ी, पानी का गिलास, पहनने के कपड़े। छह माह के शिशु की दूध की शीशी भी नहीं बचेगी। उससे भी अगर पावना अदा न हुआ, तो लाठी हाथ में लिए मकानमालिक का भोजपुरी दरवान दर्शन देगा। जितना कुछ बाकी संबल पड़ा होगा—बाक्स, पेटी, कथरी-कंबल, सब रास्ते पर पहुँच जायगा। और फिर भाड़ा चुक जाने पर भी स्त्री-पुत्र का हाथ पकड़ चले जाना होगा। एक घड़ी बीतते न बीतते उस घर में फिर नया चेहरा दिखाई देगा, नया घर-बार शुरू हो जायगा।

बस्ती जीवन में दोनों ओर ये ही दो वाला हैं—पहरेवाला और घरवाला। एक जन के हाथ से रक्षा होने पर भी दूसरे जन के चंगुल से निष्कृति नहीं। निर्मला के भाग्याकाश में दोनों का ही समान आविर्भाव था। प्रथम जन ने उसका लड़का छीन लिया और अब दूसरा आ कर उसके सिर पर छाया देने वाले आश्रय की ओर हाथ बढ़ा रहा था।

कुछ दिन पहले अगर ऐसा होता तो वह खुद को इस भाग्य के हाथ में छोड़ देती। मन ही मन कहती, "जो हो, होने दो, अब करने को कुछ नहीं है।" किन्तु आज मन में आया, इस घर को जैसे भी हो, बचा कर रखना होगा। उसके साथ खुद को भी। अब से शुरू होगी उसकी अंतहीन प्रतीक्षा। किन्तु इस आसन्न समस्या का समाधान किस तरह हो? इतने रुपये कहाँ से आयेंगे?

अचानक याद आया; उसके पुराने मालिक के घर महीने का कुछ पावना रह गया था। चार रुपये करीब होगा। आखिर में वही ले कर मकानमालिक के घर जाया जा सकता है। उसके बाद अगर कहीं फिर काम मिल जायगा तो बाकी दो रुपये अग्रिम माँग लेगी। 'अग्रिम' की बात मन में आते ही निर्मला के हृदय में तूफान मच गया। और एक जन के मुँह से यह शब्द सुनते ही उस दिन उसके धैर्य का बाँध टूट गया था, जिह्वा पर भी रोक नहीं रही थी। मूढ़ की भाँति चीत्कार कर बोली थी, "अग्रिम के नाम पर भिक्षा माँगने में लज्जा नहीं आयगी?" उन्होंने प्रतिवाद किया था, किन्तु अंत में उसकी इच्छा को ही मान लिया था। अग्रिम माँगने नहीं गये, उसी की अनुचित जिद के आगे अपने चिर जीवन का आदर्श विसर्जित कर गये थे। अदृष्ट का क्या परिहास है! आज वह खुद ही मालिक से अग्रिम माँगना चाहती है!

विनू की माँ चली गई थी। निर्मला जल्दी से दरवाजे की साँकल लगा बाहर से दरवाजा बंद रख उससे जा कर बोली, "उधर थोड़ा ध्यान रखना दीदी! मैं झट से जरा घूम आऊँ।"

"इतनी बेला चढ़े कहाँ जायगी?"

"देखूँ, कुछ रुपये मिलते हैं या नहीं।"

"शाम को जाती। इस समय जा कर खाना कब बनायेगी?"

"नहीं दीदी, जब याद आ गई है, काम निपटा ही आऊं।"

कहते-कहते तेजी से निकल गई। विनू की मां उस ओर देख सोचने लगी, कुछ दिन पहले उन्होंने ही उसे याद दिलाई थी। तब निर्मला ने उपेक्षा भाव से जवाब दिया था, "जाने दो, उसके लिए अब वहां जाने की इच्छा नहीं होती।"

विनू की मां के हाथ में कोई काम नहीं था। खाने-पीने का काम वह बहुत पहले ही निपटा चुकी थी। पति खा-पी कर काम पर निकल गये थे, बच्चे स्कूल। निर्मला जब गली के मोड़ पर अदृश्य हो गई, उसके बाद भी काफी देर तक बाहर के दरवाजे की चौखट का सहारा लिये रास्ते की ओर देखती खड़ी रही। सुनसान रास्ता था। पुरुष अपनी-अपनी जीविका के धंधे पर चले जा चुके थे, औरतें अन्दर थीं—कोई रसोई का बाकी काम निपटा रही थी, कोई खाना-पीना पूरा कर रही थी। बीच-बीच में छोटे बच्चों के रोने और माताओं के चिल्लाने के अलावा और कोई आवाज नहीं आ रही थी। नल का पानी जा चुका था, इसलिए वह भी जनहीन था।

अचानक विनू की मां को दिखाई दिया, शहर की ओर से पुलिस के दो आदमी बात करते हुए उधर आ रहे हैं और इधर-उधर देख कर शायद कुछ खोज रहे हैं। उन्हें देखते ही आंखों से विरक्ति और उसके साथ थोड़ी आशंका भर गयी। जल्दी से दरवाजा बंद करके खिसक जाना चाहती थी, उसी समय एक पुलिस कांस्टेबल बोल उठा, "क्यों जी, सुनती हैं?" विनू की मां को बाध्य होकर खड़े रहना पड़ा। कांस्टेबल पास आ कर बोला, "यहां मुन्ना की मां रहती है कोई?"

विनू की मां का हृदय भीतर से कांप उठा। जब पुलिस के आदमी खोज करते आये हैं, तब निश्चय ही अभागी के लिए कोई नई मुसीबत आयगी। किसी प्रकार की दुविधा न करके कह दिया, "नहीं, इस नाम की यहां कोई नहीं रहती।"

"आस-पास किसी घर में?"

"कहीं नहीं।"

"तुम लोग यहां कितने दिन से हो?"

"पांच-छह वर्ष हो गये।"

पुलिस कांस्टेबल अपने साथी की तरफ घूम कर बोला, "तब तो ठीक ही कह रही है। इस बस्ती में नहीं होगा। उधर चलें।"

दूसरा व्यक्ति इधर-उधर एक बार देख लेने के बाद बोला, "आम का पेड़ और पानी का नल तो मेल खा रहा है।"

पहला कांस्टेबल हंस उठा—"सो गलत नहीं कह रहे हो। बेलेघाटा में आम के पेड़ और नहीं हैं, नल भी यही एक है।"

साथी विरक्त स्वर में बोला, "वह तो है, किंतु और कितना घूमोगे, बोलो? सवेरे से चलते-चलते पैरों का चमड़ा छिल गया। चलो, अब लौट चलें।"

खोजने का कोई मतलब नहीं है।"

पुलिस के आदमी आपस में कुछ बातें करते शहर की ओर लौट गये। विनू की माँ ने पहले ही दरवाजा बंद कर लिया था। ये लोग मुन्ना की खबर लेकर आ सकते हैं, ऐसी कोई संभावना उसके मन में एक बार भी नहीं आई। पुलिस उसे खोजती आई थी, सुन पाते ही इस कुसमय में निर्मला और भी व्याकुल हो जायगी, इसलिए इस बात को अपने मन में ही दबा कर रखने का उसने निश्चय कर लिया।

सदर दरवाजा बंद था। कुंडी खटखटाने के कुछ देर बाद नौकर भीम ने विरक्त भाव से बड़बड़ाते-बड़बड़ाते आकर दरवाजा खोला। निर्मला को देखते ही वह झुँझला उठा—"क्या चाहिए?" फिर अगले ही क्षण विस्मय के स्वर में बोला, "मुन्ना की माँ! हिश्श, तुम्हें तो पहचाना ही नहीं जा रहा है। बहुत बीमार थीं, लगता है?"

निर्मला ने म्लान हँसी के साथ जवाब दिया, "नहीं तो। मालकिन कहाँ हैं?"

"सो रही हैं। उठने में वही चार बजेंगे। नीचे उतरने में पाँच। तुम क्या कहीं और काम करती हो?"

"नहीं।"

"तब तो अच्छा ही हुआ। तीन दिन हुए बर्तन माँजने वाला काम छोड़ गया। झे कहते हैं खोज लो। मैं कहाँ पाऊँगा, बताओ तो? तुम्हारे जाने के बाद तीन-तीन [illegible] कर आया, सब दो-चार दिन काम करके भाग गये। दिन-रात किट-किट करने से कोई टिकता है क्या? तुम्हारी मेरी बात अलग है। कैसा एक मोह हो गया है। यों?"

शायद अचानक ही ध्यान आया, निर्मला इतनी देर से दरवाजे के बाहर ही खड़ी है। वक्तृता रोक बोल उठा, "वहाँ क्यों खड़ी हो? भीतर आकर बैठो। तो कल [illegible] आ रही हो ना?"

निर्मला अंदर आते-आते बोली, "देखूँ, वे लोग यदि न कहें...."

"न कहें का मतलब? तुम्हारे जैसा और कहाँ से मिलेगा?"

ऊपर से गृहणी की आवाज आई—"कौन है रे? किसके साथ बक-बक कर रहा है? दोपहर के समय दो मिनट थोड़ा आँख झपकाऊँ, वह भी क्या मुमकिन है? चौबीसों घंटे घर में जैसे चील-कौवे उड़ते हैं।"

भीम ने उन सब बातों का बुरा न मान खुशी भरे ऊँचे गले से घोषणा की, "मुन्ना की माँ आयी है मालकिन।" गृहणी ने अब विरक्ति नहीं प्रकट की, विशेष उत्साह भी नहीं दिखाया। संक्षेप में बोली, "बैठने कहो।"

पाँच बजे नहीं, आज बहुत पहले ही उन्हें नीचे उतरते देखा गया। उतरते ही शिकायत के स्वर में बोलीं, "तुम तो अजीब हो जी। वह जो गयीं तो उसके बाद एक

वार खबर भी नहीं ली, यहाँ के लोग मरे या जिये ? इतने दिन काम किया, इतना खिलाया, दिया, कपड़ा-वपड़ा दिया...."

बीच में ही भीम कुछ कैफियत देने के ढंग से बोल उठा, "वह बहुत बीमार थी मालकिन देखिए ना, चेहरा कितना सूख गया है।"

"तू ठहर रे," गृहणी ने डाँटा, "जैसे कोई और बीमार ही नहीं होता। मैं ही जो तीन महीने से बदहजमी भोग रही हूँ, तुम लोग खबर रखते हो ?"

भीम चुप हो गया। निर्मला शुरू से ही चुप थी। वह जानती थी, ये सब अभियोग सिर्फ सुनने के लिए हैं, उत्तर में कुछ नहीं कहा जाता, बोलने से उनका खंडन नहीं होता, बल्कि अनावश्यक तिक्तता बढ़ जाती है।

और भी कुछ देर संसार के नाना आपद-विपद, झगड़े-झंझटों का लंबा वर्णन कर, और उन्हें ही सब अकेले हाथ से खींचना पड़ रहा है, नहीं तो कौन कहाँ ले जाता, इत्यादि तथ्य सगर्व जता कर गृहणी काम की बात पर उतरीं—"तो इतने दिन बाद क्या सोचा ?"

इतना सब सुन लेने के बाद रुपये की बात उठाने में निर्मला को लज्जा आई। किंतु कहे बिना भी तो नहीं चलेगा। अवसर-सुविधा के अनुसार और किसी दिन आ कर कहे, इसका भी कोई उपाय नहीं। भाड़ा न चुकाने पर उसे किसी भी समय रास्ते पर खड़ा होना पड़ जायगा। इसीलिए कई बार इधर-उधर कर, जमीन की ओर देखते हुए किसी प्रकार कह ही डाला, "कुछ रुपये की बहुत जरूरत थी, माँ ! मकान-वाला...."

"ओह ! तभी ! रुपये के तगादे को आई हो ? और मैं सोच रही थी...."

सदर दरवाजे की कुंडी खटकने की आवाज होते ही गृहणी नौकर को बुला कर बोलीं, "देख तो कौन है ?"

भीम के जा कर किवाड़ खोलते ही गृहस्वामी अंदर आते दिखाई दिये, साथ ही गृहणी की आँखों की भृकुटि तन गई। माथे पर आँचल का किनारा खींच बोलीं, "आज इतनी जल्दी ?"

मालिक ने इस प्रश्न का जवाब न दे कर प्रसन्न स्वर में कहा, "देखो तो, कौन आया है।"

उनके पीछे नवागंतुक की ओर नजर पड़ते ही गृहणी कलकंठ से चीख उठीं, "ओ माँ ! इसे कहाँ से पकड़ लाये ?"

"गलत कह रही हो, दीदी ! मैं ही इन्हें पकड़ के लाया हूँ। इनके उसी बनारस स्ट्रीट के कबूतरखाने से। ऐसे खुदा के पिछाड़े आ कर आपने मकान बनवाया है कि...."

निर्मला ने अनजाने ही मुँह उठा कर उस ओर देखा था। आगंतुक की [illegible]

भी उधर गई। वह देखते ही स्तंभित रह गया। गृहणी उसकी विस्मय-विह्वल दृष्टि का अनुसरण कर बोलीं, "यह कोई नहीं, हमारी वर्तन माँजने वाली नौकरानी है, मुन्ना की माँ। चल, कमरे में चल।"

कह कर बैठकखाने की ओर इशारा कर खुद ही पहले कदम बढ़ाया और जाते-जाते मुँह घुमा कर मुन्ना की माँ को उद्देश्य कर बोलीं, "तुम्हें थोड़ी देर बैठना पड़ेगा।"

निर्मला ने एक झलक देखते ही आँखें झुका ली थीं। जो स्वर सुन कर सिर उठाया था, उसका और कोई स्वर नहीं मिला। जब अनुमान से समझी कि सब लोग उधर से चले गये हैं, तब उसी क्षण किसी को कुछ न कहकर और किसी की ओर देखे बिना चुपचाप रास्ते पर निकल आयी। तब सिर्फ एक सोच उस पर हावी था—जितनी तेज और जितनी जल्दी संभव हो यहाँ से वह दूर चली जाय। क्यों, ऐसे भाग कर जाने का अर्थ क्या हो सकता है? यह बात सोच कर देखने के लिए उसके मन की स्थिति नहीं थी।

करीब एक घंटे बाद चाय-नाश्ते की व्यवस्था करने के लिए गृहणी को जब इधर आने की जरूरत पड़ी, तब निर्मला को वहाँ न देख भीम से पूछा, "वह कहाँ गई रे?"

"क्या पता मालकिन, मैं तो बाहर गया था। लौट कर देखा, नहीं थी।"

कुछ देर पहले बड़ी लड़की स्कूल से लौटी थी। बोली, "किसकी बात कह रही हो? मुन्ना की माँ की?"

भीम बोला, "हाँ, दीदी! तुमने उसे देखा क्या?"

"मैं जब आ रही थी, तब उस तरफ जाते देखा था। पुकारा तो जवाब नहीं दिया। शायद सोच रही थी। सुन नहीं सकी। जोर से चलती चली गई।"

"सुन तो लिया होगा। पाँच मिनट बैठने को कहा था, इससे महारानी को गुस्सा आ गया।"

"किसलिए आई थी?"

"रुपये वसूल करने और किसलिए!"

"दे देतीं। गरीब इंसान है। जरूरत न पड़ने पर क्यों आती?"

गृहणी झल्ला पड़ीं, "मैंने कहा था क्या कि नहीं दूँगी? विजन आया है, इसी से थोड़ा बैठने को कहा था। अपराध तो बस यही हुआ।"

"कौन आया है?" विस्मय के स्वर में बेटी ने पूछा।

"तेरा विजन मामा! ओह, समझी, तूने अभी देखा नहीं है।"

"नहीं, कहाँ हैं?"

"ऊपर, मेरे कमरे में।"

बेटी दौड़ी-दौड़ी सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर गई। पास में ही नल पर गृहस्वामी हाथ-मुंह धो रहे थे। मुन्ना की माँ के बारे में इनकी सारी बात सुनी थी। किंतु उन्होंने इस बारे में कोई बात नहीं की। दुतल्ले पर जाते समय, जीने की चौखट पर खड़े हो कर, भीम को बुला कर बोले, "तेरा काम निबट जाय तो जरा ऊपर आना।"

निर्मला के जीवन में विजन बनर्जी नामक व्यक्ति की जो छाया पड़ी थी, वह छूते मेघ की छाया नहीं थी। कलकत्ता शहर में संपन्न घर के, स्वच्छंदता में पले, आमोदी और प्रियदर्शन, मंझली दीदी के इस सगे देवर से घिरे उसके कुमारे मन में एक दिन गहरा मोह संचार हुआ था। उन दोनों के बारे में उसके पिता ने जो इच्छा और आशा जगाई थी, और जिसे उन्होंने मंझली बेटी के पास अव्यक्त नहीं रखा था, उसी का आश्रय लेकर निर्मला ने अपने लिए एक स्वप्नलोक निर्मित किया था। उसके बाद जिस दिन वह स्वप्न टूट गया, उस दिन आघात जितना भी लगा हो, जो मिला नहीं, उसके लिए हाय-हाय न कर के जो मिला उसी में अपने को खपा लेने की प्राणपण से चेष्टा की थी। ठीक उसी समय धूमकेतु के समान अगर विजन फिर आकर उसके नये रास्ते के द्वार पर न खड़ा होता, तो धान के गोलों से घिरे दरिद्र पोस्टमास्टर के स्वाद-गंधहीन छोटे संसार में निरुद्वेग जीवन बिता सकती थी। लेकिन भाग्य देवता का इरादा कुछ और ही था। इसीलिए उसका विवाहित जीवन शुरू होते-न-होते एक परम संधि क्षण में विजन बनर्जी का पुनरागमन हुआ। केवल आगमन मात्र के आघात से ही शायद इतनी दूर तक मामला नहीं बिगड़ता। अगर विजन उस दिन उसी विगत दिवस की भाँति निर्मला के एकांत सान्निध्य में आ कर खड़ा न होता और उसके साथ ही अपने अंतर के गुप्त रूप से संचित क्षत स्थान को निष्कपट भाव से न उघाड़ दिया होता। एक दिन जिसकी कामना की थी, आज उसे अप्राप्य जान कर भी उसी अभिलषित संपर्क का निष्फल दावा शिथिल नहीं करना चाहा था। निर्मला ने उसे कठोरता से अस्वीकार किया था। इसके अलावा और था ही क्या करने को? यह बात क्या विजन नहीं जानता था? जानता था। किंतु जानना और मानना एक ही बात तो नहीं है। अप्राप्य को नतशिर ग्रहण करने लायक मनोबल संसार में बहुत दुर्लभ है। विजन का मनोबल ऐसा नहीं था। शायद उसकी वह उम्र नहीं थी अथवा वह चारित्रिक दृढ़ता ही उसमें नहीं आई थी। इसीलिए 'जाऊँगा, जाऊँगा' कर के भी उसके जाने के दिन निकलते गये। जिसे सदा के लिए खो दिया, उसे जितना निकट पाया जाय—यही दुर्जय मोह वह त्याग नहीं सका। उसकी हँसी-मजाक, आमोद-खिलवाड़ की आड़ में लोभ था। निर्मला से यह छिपा न था।

ऐसे ही मौके पर नरेन आया और उसे लेकर ही शुरू हो गयी तरह-तरह की हँसी-मजाक, रंग-रसिकता की बारी। वह प्रधान नायक की भूमिका विजन ने ली। क्या पता, वह उसका सिर्फ निरुद्देश्य सरल कौतुक ही हो, या उसमें भी कोई छिपा

आघात छिपा हो—देख लो निर्मला, तुम क्या पा सकती थीं और क्या पाया है ? उसमें जो भी हो, अन्य सब जिस भाव से भी लें, निर्मला के मन में वही कठोर इंगित उस दिन मुखर हो उठा था। विजन का प्रत्येक आचरण, प्रत्येक हँसी का आवरण भेद कर अवज्ञा और अपमान के जहर में बुझा तीर सीधा आ कर उसके कलेजे को बींध गया था।

वह इंगित तो निर्मला के लिए नया नहीं था। मँझली दीदी के मुख पर और अन्य किसी की आंख में उसका सुस्पष्ट आभास वह पहले ही पा गई थी। किंतु उनके साथ इस व्यक्ति विशेष में बहुत अंतर था। इसी एक व्यक्ति के आगे हार नहीं मान सकती थी। अपने मन से अगर इसे झूठा समझ पाती तो शायद आघात उसे अनुभव नहीं होता। किंतु तब उसके अंतर में काफी मात्रा में 'न पाने' का क्षोभ जो भरा था। काल-क्रम में शायद वह बुझ जाता। किंतु उससे पहले ही, जिसका आश्रय वह ज्वाला लेती, वही आ कर उसमें ईंधन झोंक बैठा। उसको मूर्ख, अर्द्धसभ्य और दरिद्र स्कूल-मास्टर पति के प्रति सभ्य, सुशिक्षित, धनी विजन बनर्जी की व्यंगोक्ति—'जो जैसा है, उसे उसी भावना से देखना उचित था'! इसी व्यंगोक्ति ने निर्मला के मन में जो दावानल सुलगाया था, वह वहीं नहीं रुका, उसके छोटे शांत-संसार के कलेजे पर भी फैल गया था। वह जैसे एक उद्धत चुनौती थी, शीत युद्ध के आवाहन की। उसी के प्रत्युत्तर में उसका जीवन-व्यापी निर्मम संग्राम शुरू हुआ। वहाँ यह विजन उसका प्रतिद्वन्द्वी था और उसके विरुद्ध वह खुद को और अपने पति को आगे रहने वाले अस्त्र के समान प्रयोग कर बैठी। सर्वस्व संकल्प कर, अनेक दुःखों का वरण कर, ग्राम्य जीवन की उस दीनता से पति को खींच कर, इस दंभी व्यक्ति के सम-स्तर पर खड़ा न कर पाने तक उसे तनिक भी शांति न थी। यह जैसे एक सर्वनाश का खेल था, जहाँ हार मनुष्य को निरस्त नहीं करती, मतवाला बना देती है। वैसे ही एक मतवालेपन के उन्माद ने निर्मला की सारी चेतना को आच्छन्न कर लिया था; उसे पीछे देखने का अवकाश नहीं दिया था—एक के बाद एक दुःख-दुर्दशा के अंदर से अंध-वेग से खींचता चला गया। फिर एक दिन अकस्मात् उस ध्वंस-यज्ञ का अंत हो गया और उसकी अंतिम आहुति बना उसका अभागा पति।

किंतु मृत्यु को अस्वीकार करना ही शायद जीवन का धर्म है। प्रत्यक्ष सत्य होने पर भी उसे चरम सत्य के रूप में मनुष्य कभी स्वीकार नहीं करता। चिर-प्रवाहित जीवन-धारा को वह रोक देती है, लेकिन लुप्त नहीं करती। निर्मला के समान सर्वस्व-हारा सामान्य नारी के क्षुद्र जीवन में मृत्यु अपना अंतिम परदा खींच नहीं दे सकी थी। एक असहाय शिशु को कलेजे से लगाये फिर से उसकी यात्रा शुरू हो गयी। फिर वही निरंतर संग्राम, कठोर वास्तविकता के साथ कल्पना की लड़ाई, अविच्छिन्न अंधकार में दूर पर आशा का संकेत।

मुन्ना का आश्रय ले कर निर्मला ने फिर नये सिरे से दिल को बल दिया था। प्रचंड आंधी के झपेड़े से जो भविष्य नष्ट हो गया, उसी के भग्न-स्तूप पर स्वप्न प्रासाद निर्मित किया था। वहाँ भी जब आघात आकर लगा, तब अभेद अंधकार के अलावा उसकी आँखों के सामने और कुछ नहीं रहा। उसके बाद भी उसको उठना पड़ा। मुन्ना उसे एकबारगी ही मुक्ति जो नहीं दे गया था। इसके अलावा भी रह गया था मनुष्य के वही चिरंतन जीवन-धारण का दायित्व। लेकिन वह सिर्फ दायित्व था, उसके साथ एक क्षीण प्रत्याशा थी—मुन्ना शायद लौट आये। जिस संघर्ष में उसके जीवन का आरंभ था, पति-गृह में प्रथम मिलन के माधुर्य तक जिसका ताप बुझ गया था, उसका प्रयोजन समाप्त हो गया था। वह पराजिता, क्षत-विक्षत थी। विजयी उसका प्रतिद्वन्द्वी विजन बनर्जी रहा था। वह आज कहाँ है, क्या कर रहा है, कैसा है, निर्मला नहीं जानती थी। बीच-बीच में सिर्फ उसी अंतिम दिन देखा दंभारक्त उद्धत चेहरा आँखों के आगे लहरा उठता। उसके साथ अब मिल गया था विजय का उल्लास। निर्मला का हृदय अंदर से धू-धू करके जल उठता। तीव्र किंतु दबी आग; उसके चारों ओर पुंजीभूत पराजय की कालिमा घिरी थी। उसी की छाप से उसका मुँह रँगा है। जिस मुँह को लेकर अपने जनों के पास जाकर अगर खड़ी हो भी जाय, तो भी उस एक जन की आँखों के सामने खड़ी नहीं हो सकती। बाद में कहीं वैसी ही कोई भयावह दुर्घटना न हो, इसलिए उसने बड़ी दीदी से भी अज्ञातवास ले रखा था। चरम दुःख के दिन भी उन्हें खबर तक देने की चेष्टा नहीं की।

किंतु संसार में दैव के हाथ से कौन बच सकता है? उसके जीवन में आखिर वही दुर्घटना घट के रही। एकदम अप्रत्याशित रूप से अवांछित अवस्था में उसी व्यक्ति से सामना हो गया। वहाँ उनका परिचय क्या है? एक है सादर सम्मानित आत्मीय और दूसरी एक प्रताड़ित नौकरानी।

पुराने मालिक के घर से निकल कर निर्मला को लगा कि पलकों की आड़ से देखी वे दोनों आँखें जैसे उसे भगाये लिए जा रही हों। उनमें क्या था? विस्मय? नहीं उसके साथ कुछ करुणा मिली थी। इससे तो आक्रोश, अवज्ञा अथवा अपमान भी कहीं अधिक सहनीय है।

संध्या हो गई थी। निर्मला तब जो आकर बरामदे में आंचल बिछा कर लेटी थी, फिर नहीं उठी। भूल गयी थी, आज उसने खाना नहीं बनाया है, खाया भी नहीं है। भूख की ज्वाला और कितनी है? इससे कहीं ज्यादा तीव्र दहन में तो उसका सारा अंतर जला जा रहा है। भाग्यदेवता उसके साथ बार-बार कितना परिहास करते जा रहे हैं? वह तो पराजय स्वीकार करके एक कोने में पड़ी थी, सबकी आँखों की ओट में। उन्हें क्या इतना चैन भी असह्य हो गया? वहाँ से खींच ले जाकर गर्वोद्धत विजेता की कृपा-दृष्टि की हीनता के नीचे खड़ा कर दिया। तब क्या मानना पड़ेगा कि उसका

संग्राम अभी खत्म नहीं हुआ ? इस दुर्वह आघात में क्या यही संकेत छिपा है ? किंतु वह क्या लेकर लड़ेगी ? मुन्ना तो उसके दोनों हाथ ही तोड़ गया है । या शायद इसीलिए फिर यह नया आवाहन है ।

टीन के किवाड़ पर किसी की दस्तक सुनाई दी । निश्चय ही विनू की माँ होगी ! खबर लेने आई है, खाना हुआ या नहीं, वहाँ की क्या खबर है ? यही सोच निर्मला ने लेटे-लेटे ही जोर से कहा, "आ जाओ दीदी, दरवाज़ा खुला है ।"

धीरे-धीरे दरवाजा खोल कर भीम अंदर आया । निर्मला जल्दी से उठ बैठी और आँचल को शरीर से लपेट लिया । विस्मय से बोली, "तुम !" साथ ही उठ कर कमरे की ओर जाते-जाते बोली, "ठहरो, दिया जला लूं ।"

भीम इधर-उधर देख कर बरामदे में एक तरफ बैठ गया और निर्मला के दिया लेकर बाहर आने पर बोला, "बहुत दिन पहले एक ही बार आया था तुम्हारे घर । सोच रहा था पहचान कर आ भी सकूंगा या नहीं । देखता हूं, भूला नहीं । तुम किसी से कुछ कहे बिना क्यों चली आई ?"

निर्मला एक क्षण सोच कर बोली, "देखा मालकिन व्यस्त हैं । सोचा, फिर किसी दिन आने से चलेगा ।"

"व्यस्त नहीं खाक । गरीब आदमी को बेकार में ही परेशान करती हैं । रहने दो, रुपयों के लिए तुम्हें अब जाना नहीं पड़ेगा । मैं ले आया हूँ ।"

"तुमने बेकार में क्यों तकलीफ उठाई ? देखो ना !"

भीम अंटा से नोट निकालते हुए बोला, "तकलीफ काहे की ? थोड़ा घूम लिया । ऐसे तो कहीं निकलने का मौका मिलता नहीं है । बस, चौबीसों घंटे खटते रहो । तुम थीं, तो भी थोड़ी छुट्टी मिल जाती थी ।"

निर्मला चुपचाप सुन रही थी । उसकी ओर एक पलक देख भीम अनुरोध के स्वर में बोला, "चलो न फिर ?"

"तुम लोग कोई और आदमी खोज लो, भीम ।"

"क्यों, तुम्हारे पास तो कोई काम नहीं है, कह रही थीं ना !"

निर्मला ने जवाब नहीं दिया । उसके वहाँ जाकर खड़े होने का उपाय क्यों नहीं है, यह बात किसी को नहीं बतायी जा सकती । भीम अपनी बुद्धि से जो समझा, उसी से बोला, "मालकिन थोड़ी किट-किट करती हैं । लेकिन बाबू बहुत अच्छे हैं । यही देखो ना, जैसे ही सुना तुम खाली हाथ लौट गई हो, ऊपर बुला कर रुपये मेरे हाथ में देकर बोले, "जा भीम अभी जाकर दे आ ।"

निर्मला विस्मित और थोड़ा लज्जित हुई—"बाबू ने भेजा है, तुम्हें ?"

"तुम समझ रही थीं मालकिन ने भेजा है ? हूंह । तुम भी कैसी हो । जाने दो, अब मैं चलूं । कितना सारा काम पड़ा है । फिर घर में नया मेहमान आया है । ऐसा-

वैसा मेहमान नहीं, मालकिन का भाई, मालिक का साला है। फिर भी तो सगा नहीं है, सुना है। मौसेरा या फुफेरा होगा।"

कह कर अपनी रसिकता पर खुद ही भीमचंद्र हँस पड़ा। उठ कर खड़े हो अँगड़ाई लेकर बोला, "मेरी बात एक बार सोच कर देख लो, मुन्ना की माँ!"

भीम के चले जाने के बाद भी बाहर का दरवाजा खुला था। निर्मला ने जान-बूझ कर ही बंद नहीं किया। सोचा था, इधर सब ठीक कर के विनू की माँ के पास जायगी। कुछ रुपये जुट गये हैं, यह बता आना जरूरी है। निश्चय ही वह उद्विग्न हो रही होगी।

कुछ मिनट बाद लालटेन हाथ में लिए आँगन में वह ऐसी भौंचक्की हो खड़ी रह गई, जैसे भूत देख लिया हो। वही दीर्घ, सुपुष्ट देह थी, किंतु कुछ अनुज्ज्वल और अवनत। वही स्वर, किंतु उस दिन की तुलना में कहीं अधिक धीर, कहीं अधिक गंभीर था—"तुम क्या बाहर जा रही हो।"

निर्मला को संयत होने में एक क्षण लगा। वह मृदु स्वर में बोली, "हाँ।"

"बहुत जरूरी है?"

"नहीं!"....कह कर लौट पड़ी और कमरे के अन्दर से एक पटली लाकर बरामदे में बिछा दी। विजन उस पर बैठते-बैठते बोला, "आश्चर्य में पड़ गई, ना? सोच रही हो, घर का पता कैसे चला।"

निर्मला ने जवाब नहीं दिया, कुछ दूर दरवाजे के पास जा खड़ी हुई। विजन ने खुद ही बताया, "नौकर जा रहा है सुन कर उसके पीछे हो लिया। उसे बिल्कुल पता नहीं चला। खड़ी क्यों हो, बैठो ना?"

निर्मला नहीं बैठी। कोई उत्तर भी नहीं दिया। जैसी थी, वैसी ही खड़ी रही। विजन कुछ क्षण आँगन की ओर देख, मृदु स्वर में बोला, "सोच रही हो, इतने दिन बाद खोज-खबर लेने की क्या जरूरत थी। क्या करूँ, बताओ? खोज सकने लायक कोई रास्ता भी तो नहीं था। मैं ही नहीं, और कोई भी नहीं जानता। भाभी को तो एक पोस्टकार्ड लिख कर बता सकती थीं, कहाँ हो, कैसी हो।"

सहज भाव से बोलने पर भी बातों में शिकायत का स्वर अस्पष्ट नहीं रहा। किंतु निर्मला निरुत्तर थी। विजन ने भी जवाब की अपेक्षा नहीं की। अपनी बात का सूत्र पकड़ कर ही बोलता रहा, "कहीं कोई खबर न पा कर तुम्हारे गाँव के मकान पर भी मुझे जाना पड़ा था। जा कर देखा, दरवाजे पर ताला है। आँगन भीषण जंगल बन गया है। कई वर्ष पहले तुम लोग कलकत्ता चले आये हो, इससे ज्यादा और कुछ कोई नहीं बता सका।....नरेन दा को क्या हुआ था?"

"एक्सीडेंट।"

"एक्सीडेंट! उसके बाद?"

"अस्पताल में जा कर फिर देखने को नहीं मिले।"

कुछ देर दोनों चुप रहे। उसके बाद विजन ने ही फिर बात शुरू की, "लल्ला कहाँ है ? वह तो दिखाई नहीं देता।"

"वह नहीं है।"

"क्या कह रही हो ?" विजन जैसे आर्त स्वर में चीख उठा।

"घर से चला गया, फिर नहीं लौटा।"

"कह क्या रही हो ! कितने दिन हुए ?"

"आज सात माह दस दिन हो गये।"

"खोजा नहीं ?" कहने के साथ ही साथ आगे बोल उठा, "तुम खोज हो कैसे करतीं ? किससे करवातीं ? लड़के की उम्र क्या है ?"

"दस वर्ष।"

"फिर वही दुःसह नीरवता, और इस बार भी विजन ने ही उसे तोड़ा। धीरे-धीरे जैसे बहुत दिनों पीछे से पुकारा, '*निर्मल !*"

"कहिए।"

"तुम मेरे साथ चलो।"

"कहाँ ?" निर्मला ने विस्मय से दृष्टि उठाई। मद्धिम प्रकाश में भी उस विस्फारित दृष्टि को शिखा विजन की आँख से छिपी न रही। बोला, "नहीं, नहीं, मेरे घर नहीं। यह बात कहने लायक साहस मुझमें नहीं है, यद्यपि निश्चय जानो, यदि चलतीं तो तुम्हें सिर-आँखों पर रखता। कहा था, भाभी के पास चलने को। तुम्हारी दीदी, सगी बहन है, वहाँ जाने में तो कोई बाधा नहीं है।"

"मैं कहीं नहीं जाऊँगी।"

"नहीं चलोगी ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

केवल प्रश्न ही नहीं, उसमें एक क्षुब्ध वेदना का स्वर भी फूट उठा। निर्मला ने जवाब नहीं दिया। विजन बोला, "अगर मिलना न होता, तो बात अलग थी। किन्तु देखने के बाद तुम्हें अकेले इस अवस्था में छोड़ मैं निश्चिंत मन से चला जाऊँ, क्या तुम यही कहना चाहती हो ?"

"मुझे कहीं भी जाने का उपाय नहीं है। दया कर के इस बारे में मुझसे और कुछ मत कहिए।"

"ठीक है, नहीं कहूँगा। किंतु तुम किसके लिए अपने को इस प्रकार घुला रही हो, किस पर तुम्हारा इतना दुर्जय क्रोध है, यह भी क्या मैं नहीं जान सकूँगा ?"

"किसी पर मेरा कोई क्रोध नहीं है।"

विजन ने आहत दृष्टि से एक बार उस झुके मुख की ओर देखा। लालटेन की मद्धिम रोशनी में विशेष कुछ नहीं देख सका। फिर धीरे-धीरे बोला, "बिना समझे एक दिन आघात जो तुम्हें दिया था, तुम्हारे साथ जितना अपराध किया था, उसमें से किसी को भी मैं छोटा नहीं मानता। फिर भी कहूँगा, तुम मुझे गलत समझी हो। मेरे उस दिन के मन को यदि...."

"वे सब बातें जाने दीजिए।" निर्मला बीच में बोल उठी।

"ठीक है। किन्तु आज की यह बात तुम्हें सुननी ही पड़ेगी, निर्मल ! मुझे कोई भी एक भार दे दो। बोलो, तुम्हारे लिए मैं क्या कर सकता हूँ?"

वही पुरानी पुकार—'निर्मल', जिसे सुन कर एक दिन उसका हृदय उद्वेलित हो उठा था। आज वहाँ कोई प्रभाव नहीं हुआ। फिर भी न जाने क्या था इन तीन अक्षरों में, कि एक श्लेषतिक्त कठोर जवाब निर्मला के मुंह में आ कर भी रुक गया। उसके बदले एक शांत, सहज किंतु दृढ़ उक्ति निकल पड़ी—"बहुत दिन पहले यह बात आपने एक बार और जाननी चाही थी। उस दिन जो उत्तर दिया था, आज भी वही दूँगी। मेरे लिए आपको कुछ भी करने की जरूरत नहीं। जैसी हूँ, वैसी ही रहने दीजिए। और...."

अचानक चुप हो जाते ही विजन आग्रहपूर्वक बोल उठा, "कहो।"

निर्मला ने वैसे ही अविचलित स्वर में आगे कहा, "और किसी दिन भी मेरे सामने नहीं आइयेगा।"

विजन का सिर नीचे लटक गया। कुछ क्षण धरती की ओर देख कर स्खलित निःश्वास हृदय में दबाये उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चलना शुरू कर दिया। निर्मला जहाँ थी वहीं से बोली, "सुनिए।"

विजन ने मुड़ कर देखा।

"दया कर के मँझली दीदी या और किसी को मेरी कोई बात नहीं बताइयेगा। आशा करती हूँ मेरे इस अंतिम अनुरोध को मानेंगे।"

कहते ही वह सवेग कमरे में जा घुसी। लगता है अपने बहुयत्न से रक्षित दीर्घ संयम के बांध को आसन्न भग्नता के मुंह से बचाने के लिए वह तेजी से अंदर चली गयी। विजन भी क्षण भर स्तब्ध खड़ा रहा फिर दरवाजा भेड़ अंधकार में मिल गया।

विनू की माँ उस रात समय निकाल कर नहीं आ सकी। अगले दिन सुबह के घर के सारे कामों का पहला दौर समेट कर व्यस्तता से आ पहुँची। आते ही पूछा, "क्या हुआ? रुपये मिले?"

"मिले, अभी पूरे नहीं जुटे हैं।"

"और कितने चाहिए?"

निर्मला ने दो उँगलियाँ उठा कर दिखाईं। विनू की माँ उदास मुंह से बोली,

"महीने का आखिर है, मेरे हाथ में भी कुछ नहीं है। उनसे कहा था, उनकी भी यही हालत है।"

"छीः छीः यह लेकर फिर उन्हें परेशान किया ? वैसे ही आप लोग जो कुछ करते हैं...."

"करते ही क्या हैं, वता ? करना सम्भव हो तभी तो करूँ ?"

"घर में कोई है ?" वंद दरवाजे के वाहर से किसी की आवाज आई। विनू की माँ वोली, "तू वैठ, मैं देखती हूँ।" वह दरवाजे के पास जा उसे खोले विना ही वोली, "कौन है ?"

"खोलो, वताता हूँ।"

दरवाजा खोलते ही फेरीवाले जैसा एक आदमी आगे आया। सिर पर एक वड़ी सी टोकरी थी, जिसमें दो मुंह वंद टिन, उनके पास ऊपर से ढकी मिट्टी की हांडी रखी थी। टोकरी उतार कर वह व्यक्ति वोला, "तुम....आप रहती हैं यहाँ ?"

निर्मला भी वहाँ आ खड़ी हुई। उसकी ओर दिखा कर विनू की माँ वोली, "नहीं, यह रहती है। क्यों ?"

उस आदमी ने तीक्ष्ण दृष्टि से दोनों को देख कर कहा, "आप लोग ?"

"ब्राह्मण हैं।"

"प्रणाम। लेकिन दरवानजी ने वताया था कि इस घर में एक नौकरानी रहती हैं। भाड़ा नहीं दे सकती इसलिए महीने के कुछ दिन वाद ही छोड़ कर जा रही है। इसी से तो देखने आया हूँ। मुझे एक घर चाहिए ना ? एक कमरा, थोड़ा खाना वनाने की जगह मिलने से ही काम चल जायगा। लगता है, गलती से दूसरे घर में घुस आया हूँ। वूढ़ा इंसान हूँ, ठीक से समझ नहीं सका। आप लोग वुरा मत मानिएगा, माँ !"

वह टोकरी उठाने ही जा रहा था, तभी पीछे दरवान आ कर खड़ा हो गया। उसे देखते ही फेरी वाला वोल उठा, "अरे दरवानजी, कांड तो देखो। गलती से कहीं घुसने जा कर कहीं घुस पड़ा। छीः छीः।"

"गलती कहाँ है। यही घर तो है।"

"लेकिन तुमने तो कहा था कि यहाँ एक नौकरानी रहती है !"

"हाँ हाँ। पूछ न उससे, नौकरानी है या कुछ और।"

दरवान ने आँख के संकेत से निर्मला की ओर दिखा दिया। उसकी मूँछों के कोने में मुस्कान की झलक दिखाई दी।

फेरी वाला आँखें फैला कर भौंचक्का-सा निर्मला को देखता रह गया। फिर फुस-फुसा कर जैसे अपने मन में ही वोला, "क्या कह रहे हो ! ब्राह्मण की वेटी, ऐसा देवी-सा मुखड़ा...." उसके वाद मन स्थिर करने की भंगिमा से जोर-जोर से सिर हिला कर वोला, "न वावू, मुझे इस घर की जरूरत नहीं। ब्राह्मण की लड़की से घर नहीं

छुड़वा सकूँगा।"

"ठीक है, तुम नहीं लोगे तो दूसरा आयगा। किरायेदारों की कमी नहीं पड़ेगी।"

इतना कह कर दरवान चला जा रहा था। निर्मला बोली, "मैं घर नहीं छोड़ूँगी। गुमाश्ताजी को कह देना।"

"भाड़ा?" दरवान ने घूम कर पूछा।

"भाड़ा दे दूँगी।"

"पूरा?"

निर्मला के जवाब देने से पहले ही विनू की माँ अनुरोध के स्वर में बोली, "पूरा नहीं हो सका है, बाबा। बेचारी विधवा है, मामूली रह जायगा बाकी। वह अगले महीने ले लेना।"

"बाकी रहने से नहीं होगा। दूसरा घर देखो"....कह कर दरवान तेजी से निकल गया। उसी ओर थोड़ी देर तक देखते रहने के बाद फेरी वाला बोला, "सब कसाई हैं, समझीं माँ? दयामाया जरा-सी भी नहीं। कहीं भी नहीं रह गई है।"

विनू की माँ की ओर एक कदम आगे जा कर जैसे कोई बड़ा अपराध कर रहा है, इस भाव से हाथ मलते हुए बोला, "एक बात पूछूँ, माँजी?"

"पूछो ना, बाबा।"

"कितने रुपये और होने से उनका पूरा भाड़ा चुक जायगा?"

"ज्यादा नहीं, दो रुपये। लेकिन कभी-कभी इतना भी बहुत हो जाता है। समझ ही सकते हो।"

उसने सिर झुकाए कुछ सोचा, एक-दो बार हिचकिचाया। फिर उसी प्रकार कुंठा के स्वर में बोला, "अगर रुपये मैं दे दूँ?"

"नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है?" निर्मला तुरंत बोल उठी।

"ऐसे तो दे नहीं रहा हूँ, माँ। उधार दे रहा हूँ। तुम्हें जब सुविधा हो, लौटा देना।"

"उसमें तो शायद बहुत दिन लग जायेंगे।"

"लगने दो, तुम्हारे आशीर्वाद से इसके लिए मुझे कोई कष्ट नहीं होगा।"

"इसके अलावा हम तो तुम्हें पहचानतीं नहीं। कहाँ, कैसे तुम्हें...."

"यह सब तुम्हें सोचने की जरूरत नहीं। मैं ही आ कर ले जाऊँगा।" कह और कोई उज्र-आपत्ति उठाने का अवसर न देकर उसने बंडी की जेब से दो रुपये निकाले और ससंकोच विनू की माँ के आगे बढ़ा दिये। वह रुपये ले कर बहुत कृतज्ञता के स्वर में बोली, "जुग-जुग जियो, बाबा। भगवान तुम्हारा भला करे। गरीब [illegible] तुमने कितना बड़ा उपकार किया है, यह बस हम ही जानती हैं।"

"यह सब मत कहो, माँ ! कौन किसका उपकार करता है ? जो कुछ करने का है एक ही जन करता है।" कह कर आकाश की ओर उँगली उठा कर उसने दिखाई।

"तुम कहाँ रहते हो, बाबा ?" बिनू की माँ ने पूछा।

"यहीं पास में, यहाँ से आधा कोस होगा। ऐसी ही बस्ती है। पाँच वर्ष से वहाँ हूँ। मजे में था, माँ ! जमींदार के आदमी आ कर बोले, सब चले जाओ।"

"क्यों ?"

"यही देखो ना ? वहाँ लेक या नेक न जाने क्या बनेगा। बाबू लोग 'वाईच' खेलेंगे, तैरेंगे। इसके लिए मरें हम। गरीब को कहीं स्थान नहीं है, माँ ! उनकी चिन्ता कौन करे ? जाऊँ, आजकल में ही जहाँ भी हो, एक ठिकाना देखना होगा।"

उसके टोकरी उठाते ही निर्मला बोली, "तुम्हारे दो रुपये मिलने में लेकिन कुछ दिन देरी हो जायगी। इस माह में शायद न दे सकूँ।"

"उसके लिए तुम कुछ चिंता मत करो, माँ ! जिस दिन भी दे सको, दे देना। अच्छा, तो मैं अब चलूँ माँ।"

बिनू की माँ बोली, "फिर आना। तुमने अपना नाम तो बताया ही नहीं, बाबा।"

"मेरा नाम गोकुल है, गोकुलदास। हम जाति के बाउरी हैं।"

"तुम करते क्या हो ?"

"जो देख रही हैं, फेरी लगा कर सामान बेचता हूँ। मुरमुरा, लाई, गुड़धानी। जब जो चलता है। तुम्हारे आशीर्वाद से इसी में गुजारा हो जाता है।"

पंद्रह दिन बाद शाम के समय निर्मला घर में झाड़ू लगा रही थी। बाहर दरवाजे पर आवाज सुनाई पड़ी, "माँ जी हैं क्या ?"

"कौन ?"

"जी, मैं गोकुल हूँ।"

नाम सुनते ही निर्मला का मुँह सूख गया। दो रुपये के लिए इन कुछ दिनों में उसे थोड़ा भी चैन नहीं था। कुछ दिन हुए काम जरूर एक जुट गया था। महीना पहले जितना ही था, लेकिन उसके हाथ में आने में अभी भी करीब एक माह था। इधर का किराया चुका देने के बाद एकदम संबलहीन अवस्था थी। गोकुल इस बीच में ही आ टपकेगा, नहीं सोचा था। जानती भी तो क्या कर सकती थी ? जा कर क्या कहेगी, कैसे एक माह तक रोक कर रखा जाय, यही सब सोचते-सोचते उसने अप्रसन्न मुख से जा कर दरवाजा खोला।

गोकुल के सिर पर आज टोकरी नहीं थी। अंदर आ, हाथ जोड़ लगभग जमीन छू कर प्रणाम किया। बोला, "खबर लेने आया हूँ। आने ही कहाँ पाता हूँ, माँ ! दोनों वक्त सिर्फ चर्खी की तरह घूमना और घूमना, तभी तो दो पैसे मिलते हैं। खटे बिना

घर में बैठ कर कौन खिलायगा, बताओ ? उस पर फिर घर बदलने का झमेला था। तुम्हारे आशीर्वाद से घर अच्छा ही मिल गया। आगे इसी तरह का एक आंगन भी है। तुम्हारा वह भाड़े का झंझट तो खत्म हो गया ना ? कसाई लोगों का पावना-पावना सब चुक गया ?"

"हां, वह सब मिट गया। तुम्हारे रुपये लेकिन आज नहीं दे पाऊंगी गोकुल।"

"क्या मुश्किल है ! मैं क्या रुपये का तगादा करने आया हूं ? वह तुम जिस दिन खुशी हो, देना।"

"ज्यादा देरी नहीं होगी। एक नया काम मिल गया है। पहले महीने की मजदूरी पाते ही दे दूंगी।"

गोकुल के मुंह पर एक म्लान छाया छा गयी। माथे पर कुंचित रेखा दिखायी दी। बोला, "क्या काम करती हो ? जो करती थीं, वही ?"

"इसके अलावा और क्या करूंगी, बताओ ?"

"नहीं मां, वह काम तुम छोड़ दो। ब्राह्मण—श्रेष्ठ वर्ण हो, दूसरे का झूठा साफ करना क्या तुम्हें शोभा देता है ? इससे हमें भी पाप होता है, मां !"

निर्मला को विस्मय हुआ। जो सुना, वह सिर्फ मत ही नहीं था, एक नितांत निस्पृह सामान्य परिचित व्यक्ति से इतनी आत्मीयता का स्वर उसे एकदम आशातीत था। इसके माधुर्य ने कुछ क्षणों के लिए उसे अभिभूत कर दिया। वह तुरंत कोई जवाब नहीं दे सकी।

गोकुल ने क्षण भर में क्या कुछ सोच, सिर हिला कर दृढ़ता के साथ कहा, "नहीं नहीं, तुम्हें अब यह नीच काम मैं नहीं करने दूंगा। तुम आज ही वहां जवाब दे आओ।"

निर्मला के होंठों पर म्लान हंसी फूट उठी—निरुपाय की करुण हंसी। शांत भाव से बोली—"जवाब तो दे आऊं। फिर ?"

"फिर की चिंता तुम्हें नहीं करनी पड़ेगी। जब मां कहा है तो वह भार मेरा है।"

"यह कैसे हो सकता है, गोकुल ? इस बुरे समय में तुमने जो उपकार किया है, मुझे हमेशा याद रहेगा। उस पर····।"

"यह देखो, उपकार ही क्या किया है। यही मामूली दो रुपये ही तो दिये हैं। वह भी उधार।"

"रुपये मामूली थे। किंतु उसके पीछे जो है, वह बिल्कुल मामूली नहीं है। उस पर यह जो खोज-खबर ले रहे हो, यह भी क्या कम है ? ऐसे ही बीच-बीच में आ कर देख जाओ, यही बहुत है। जितने दिन शक्ति-सामर्थ्य है, अपना पेट खुद ही भर सकती हूं। इसके लिए किसी के आगे हाथ न फैलाना पड़े, इतनी ही मेरी कामना है।"

गोकुल दाँत से जीभ काट कर, जोर-जोर से सिर हिलाता हुआ बोला, "छी : छी : हाथ फैलाने किस दुःख में जाओगी ? वह भी मेरे जैसे छोटी जाति के पास। लेकिन तुम्हारा यह काम मुझे जो अच्छा नहीं लगता, माँ ! अकेली इंसान हो, दो-तीन वक्त नहीं, एक वक्त निरामिष खाती हो। इसके लिए तुम्हें दूसरे के घर बर्तन माँजना पड़े, मेरे होते हुए ? यह कैसी बात है ?"

"मेरा भाग्य है; तुम लोग क्या करोगे ? दूसरा काम मुझे देगा ही कौन ? ऐसा कुछ जानती भी तो नहीं हूँ !"

"कौन कहता है नहीं जानतीं। जब खटने में नहीं झिझकतीं, एक बार का खाना और दो कपड़े तुम घर बैठे जुटा सकती हो। इतने के लिए तुम्हें दूसरे के दरवाजे नहीं जाना होगा।।"

"मैं तो समझ नहीं पा रही हूँ, घर मैं बैठे-बैठे मैं क्या कर सकती हूँ और वह सब व्यवस्था भी कौन करेगा ?"

"मैं करूँगा। उसके लिए तुम्हें चिंता नहीं करनी पड़ेगी। तुम बस एक बार जा कर अपना यह बर्तन माँजने का काम छोड़ आओ।"

"अभी छोड़ दूँ ?"

"हाँ। अभी। फिर वहाँ नहीं जाने दूँगा।"

निर्मला फिर भी थोड़ा हिचकिचा रही है, यह देख और भी जोर दे कर बोला, "तुम्हें कोई चिंता नहीं, माँ। मुझे तुम नहीं पहचानतीं, गोकुल बाउरी ऐसा-वैसा आदमी नहीं है, जो हाथ में लेता है उसे करे बिना नहीं छोड़ता...." कह कर वह सगर्व सिर हिलाने लगा। फिर हठात् आसन्न संध्या के झुटपुटे की ओर नजर जाते ही लपक कर उठ खड़ा हुआ। दरवाजे की ओर जाते-जाते बोला, "कल का दिन छोड़ कर परसों आऊँगा। तुम कल ही जा कर वहाँ का काम छोड़ आओ।"

अगले ही क्षण बाहर से पुकार सुनाई दी, "कुंडी लगा लो, माँ !"

जैसा कह गया था, एक दिन बाद सुबह के समय करीब नौ बजे गोकुल फिर आकर हाजिर हुआ। सिर की टोकरी पहले दिन से भी बड़ी और ज्यादा भारी थी। उसे बरामदे के पास उतार कर रख दिया और सिरौंडा बनाकर सिर पर लगाये अंगोछे को खोल उसी से हवा खानी शुरू कर दी। आहट पाकर निर्मला रसोईघर से बाहर आई और उसे देख विस्मय के स्वर में बोली, "यह सब क्या है ?"

"ठहरो, बताता हूँ।" मुंह पर वही सदा प्रसन्न हँसी थी।

"हिश, कैसे पसीने से नहा उठे हो। ठहरो, मैं पंखा लिये आती हूँ।"

"बात तो सुनो। मैं क्या तुम्हारी तरह भद्र व्यक्त हूँ जो बैठे-बैठे पंखे की हवा खाऊँ। हम लोगों का पंखा यही है...." कहकर घूमता हुआ मैला अंगोछा और भी जोरों से चलाना शुरू कर दिया। फिर, जैसे कोई बड़ा सर्वनाश हो गया हो, ऐसे चीख

उठा, "यह क्या कर रही हो। तुम्हारे घर आकर पीढ़े पर बैठूं मैं ?"

चीत्कार सुन निर्मला डर गयी थी, अब हँसकर बोली, "तब किस पर बैठोगे ?"

बरामदे के सामने खुले आंगन में जमकर बैठ के गोकुल ने तत्काल इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। सिर हिला कर विज्ञ के समान बोला, "अब समझीं ? मेरा पिता क्या कहा करता था, जानती हो ? कहता था, जमीन ही असली है, बाकी सब नकली है।"

थोड़ा सुस्ता कर गोकुल ने अब अपनी टोकरी की ओर ध्यान दिया। एक-एक चीज निकाल कर बाहर रखने लगा—एक बड़ी कड़ाही, दो धामा (टोकरी), एक गट्ठर बांस की सींकें, और भी छोटी-मोटी कई चीजें। उसके बाद निकाली गुड़ की हांड़ी, दो-चार टीन के डिब्बे और उसके पास से एक छोटी गठरी से कुछ चावल, दाल, तेल-मसाला, सेंधा नमक और कुछ सब्जी। ऊपर की चीजें हटाने से उसके नीचे भरा दिखाई दिया, आधी टोकरी धान।

निर्मला इतनी देर तक एक शब्द नहीं बोली थी, सिर्फ आश्चर्यचकित हो देखती रही थी। टोकरी खाली करना खत्म हुआ, तो बोल उठी, "यह क्या है। इन सबका क्या होगा ?"

"कौन-सी चीज से ? एक-एक करके सब समझाए देता हूं।"

"इतना धान किसलिए है ?"

"लाई का धान है। लाई भूंजोगी। यह कड़ाही देख रही हो ना ?"

निर्मला हँस पड़ी, "ओ मां ! लाई भूजूंगी कैसे ?"

"जैसे सब लोग भूंजते हैं।"

"किसी दिन सीखा नहीं है ?"

"मैं सिखा दूंगा।"

"तुम !"

"तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है ? सोचती हो यह औरतों का काम है। तुम्हारा गोकुल सब कर सकता है मां ! आसपास के दस घरों में जाकर पूछ आओ—कौन औरत मुझसे अच्छी लाई बना सकती है।"

निर्मला समझ गई, वह अनजाने ही किसी अति कोमल स्थल पर आघात कर बैठी है। वह जल्दी से बोली, "नहीं, नहीं, तुम्हारे साथ उनकी तुलना नहीं है। लेकिन मैं कर भी पाऊँगी क्या ?"

"खूब कर सकोगी," "प्रसन्न होकर बोला गोकुल, "एक बार के बदले दस बार दिखा दूंगा। इसमें क्या रखा है ?"

"अच्छा, और यह सब क्या है ?"

"सिर्फ लाई बना कर ही नहीं होगा। उससे तैयार होगा खोया वाली लड्डू।

जिसे कहते हैं जयनगर का लड्डू। इस गुड़ और मसाले को डालकर....."

अचानक निर्मला की ओर नजर जाते ही वीच में रुककर गहरे विस्मय से वोल उठा, "क्या हुआ ?"

परिवर्तन इतना आकस्मिक और सुस्पष्ट था जो किसी की दृष्टि से छिप नहीं सकता था। क्षण भर पहले जो कौतुक की हँसी की उज्ज्वल रेखाएँ निर्मला के चेहरे पर दिखाई दे रही थीं, पलक झपकते मिटकर करुण छाया में वदल गई। गोकुल के फिर से एक वार प्रश्न दुहराने तक उसने अपने को सम्हाल लिया। वह अस्फुट स्वर में वोली, "कुछ नहीं। हाँ, क्या कह रहे थे, वताओ।" गोकुल वाद में अन्य कुछ समझ कर वुरा न माने, यह सोच निर्मला ने और भी यथासाध्य सहज होने की चेष्टा की। किंतु दोनों के वीच पहले जैसा स्वर फिर नहीं लौटा।

गोकुल जिन चीजों को लेकर फेरी लगाता, उनमें सवसे प्रधान चीज जयनगर का लड्डू था। जयनगर नामक जगह कहाँ है, यह वह नहीं जानता था। जहाँ भी हो, इस वेलेघाटा की वस्ती के एक खपरैल के घर में उसके सारे स्थान-माहात्म्य ने आकर स्थान ले लिया था। मुहल्ले-मुहल्ले इस चीज की भारी माँग थी और वह भी क्रमशः वढ़ती जा रही थी। नियमित माँग को पूरा करना अकेले उसको संभव नहीं रह गया था। गाँव के घर में उसके दो लड़के और उनकी माँ थी। कुछ मामूली जमीन वगैरह थी, उसे देखना-भालना होता था। उनमें से किसी को लाना संभव नहीं था। इसलिए वह ऐसे किसी को खोज रहा था, जो लड्डू वनाने के काम में उसे मदद कर सके। निर्मला को देख और घटनाचक्र में उसका सारा हाल जानने के वाद पहले मन में आया था इस ब्राह्मण कन्या को उसकी जीविका की हीनता से मुक्ति दे, उसके भरण-पोषण का भार अपने हाथ में ले ले। किंतु जव देख लिया, यह महिला अपने हाथों के अलावा किसी अन्य पर भार नहीं वनेगी, तव उसने तय कर लिया, इसी को वह समझा-सिखा कर अपने व्यवसाय में भागीदार वना लेगा। निर्मला के प्रति शुरू से ही जो मोह हो गया था, उसके साथ जुड़ गई थी श्रद्धा और उसके व्यक्तित्व के प्रति संभ्रम-वोध। उसे इस महिला की कार्यक्षमता पर एक विश्वास पैदा हो गया था। उसके साथ से उसकी 'जयनगर' की परिकल्पना सफल होगी, इसमें उसे संदेह न रहा।

इस असहाय-संवलहीन विधवा ब्राह्मण महिला को आत्मसम्मान-वोध कितना सजग है, यह समझने में गोकुल को देर नहीं लगी। इसमें कोई सहायता या दया का आभास पाकर वाद में वह पीछे न हट जाय, इसीलिए सारे मामले को संयुक्त कारोवार के प्रस्ताव के रूप में पेश किया। समझाने की कोशिश की कि वह कोई निस्वार्थ परोपकार की भावना लेकर नहीं आया है। उसका एकमात्र उद्देश्य व्यवसाय है, और परिश्रम के वदले में निर्मला का जितना उचित पावना होगा, उतना ही उसे दिया जायगा। उससे ज्यादा और कुछ नहीं। निर्मला ने अवश्य सिर्फ इसी ओर नहीं देखा। व्यवसाय-

वुद्धि के पीछे हृदय नाम की एक अदृश्य और दुर्लभ वस्तु उसकी दृष्टि से छिपी नहीं। किंतु इसे लेकर उसने और कोई बात नहीं उठाई। सिर्फ चावल, दाल, सब्जी इत्यादि की टोकरी आँख के इशारे से दिखा मृदु हँसी के साथ बोला, "ये चीजें भी क्या लड्डू बनाने के लिए हैं ?"

इशारा समझ जाने पर भी गोकुल तनिक अप्रतिभ दिखाई नहीं दिया, जैसे हठात् याद आया हो, ऐसे भाव से कुछ उच्च कंठ में बोला, "यह लो, असली बात तो भूल ही गया। इधर के मुहल्ले में कुछ तगादा करने जाना है। वह सब निबटा कर घर लौटने में देर हो जायगी। फिर क्या चूल्हा-चक्की करने को मन होता है ?" कहकर जैसे भिक्षा माँग रहा हो, उसी भाव से दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर आगे बोला, "इस वक्त मैं माँ के हाथ का थोड़ा परसाद लूँगा।"

कहने के बाद और ठहरा नहीं। एक प्रकार से भाग जाने के समान तेज चाल से बाहर निकल गया। दरवाजे के पास से जोर से बोला, "बारह बजे के अन्दर आ पहुँचूँगा।"

उस रात गोकुल का प्रस्ताव विनू की माँ को बताते ही उन्होंने तुरन्त मत दे दिया। बोली, "इंसान को देखकर ही समझा जा सकता है। वह तुझे ठगेगा नहीं। तू और दुविधा मत कर। इसमें अच्छा ही होगा। थोड़ा-बहुत मैं तुझे सिखा सकती हूँ।"

शुरू-शुरू में निर्मला को जो लड्डू बनाने को दिये गये, भारी माँग का वे सामान्य भाग थे। क्रमशः उसका उत्साह बढ़ता गया, चीज भी अच्छी बनने लगी। इसके साथ ही काम का परिमाण भी बढ़ता गया। सुबह का सारा समय लाई भूँजने और उसे बीनने में लग जाता। दोपहर को नाममात्र का आराम करके ही लड्डुओं की कड़ाही लेकर बैठना पड़ता। संध्या तक काम चलता, कभी-कभी रात भी हो जाती।

गोकुल दोनों वक्त आता, तौलकर धान दे जाता, हिसाब से लड्डू ले लेता। सप्ताह के अंत में निर्मला का पावना चुका देता। निर्मला बीच-बीच में कहती, "अभी रखो न अपने पास। भागे तो जा नहीं रहे हो !"

"भाग न भी जाऊँ, मर तो सकता हूँ।"

निर्मला का कलेजा धक् हो उठता। प्रकट में वह भाव गुप्त रख, हल्के स्वर में कहती, "छिः, तुम्हें मरने कौन देगा ?" गोकुल को बहुत अच्छा लगता। हँसते-हँसते कहता, "लो सुन लो बात ! बुड्ढा हो गया, क्या अब भी नहीं जाऊँगा ? वैसे ही कितने पाप करे हैं कोई गिनती नहीं। उस पर ऊपर से ब्राह्मण का देना लेकर मरूँ ? सर्वनाश !"

जितने दिन बीतते गये, गोकुल माल बनाने का काम अपने हाथ से क्रमशः निर्मला के हाथ में देकर सिर्फ बेचने की ओर ध्यान लगाने लगा। कुछ दिन बाद एक

जिसे कहते हैं जयनगर का लड्डू। इस गुड़ और मसाले को डालकर…"

अचानक निर्मला की ओर नजर जाते ही बीच में रुककर गहरे विस्मय से बोल उठा, "क्या हुआ ?"

परिवर्तन इतना आकस्मिक और सुस्पष्ट था जो किसी की दृष्टि से छिप नहीं सकता था। क्षण भर पहले जो कौतुक की हँसी की उज्ज्वल रेखाएँ निर्मला के चेहरे पर दिखाई दे रही थीं, पलक झपकते मिटकर करुण छाया में बदल गईं। गोकुल के फिर से एक बार प्रश्न दुहराने तक उसने अपने को सम्हाल लिया। वह अस्फुट स्वर में बोली, "कुछ नहीं। हाँ, क्या कह रहे थे, बताओ।" गोकुल बाद में अन्य कुछ समझ कर बुरा न माने, यह सोच निर्मला ने और भी यथासाध्य सहज होने की चेष्टा की। किंतु दोनों के बीच पहले जैसा स्वर फिर नहीं लौटा।

गोकुल जिन चीजों को लेकर फेरी लगाता, उनमें सबसे प्रधान चीज जयनगर का लड्डू था। जयनगर नामक जगह कहाँ है, यह वह नहीं जानता था। जहाँ भी हो, इस बेलेघाटा की बस्ती के एक खपरैल के घर में उसके सारे स्थान-माहात्म्य ने आकर स्थान ले लिया था। मुहल्ले-मुहल्ले इस चीज की भारी माँग थी और वह भी क्रमशः बढ़ती जा रही थी। नियमित माँग को पूरा करना अकेले उसको संभव नहीं रह गया था। गाँव के घर में उसके दो लड़के और उनकी माँ थी। कुछ मामूली जमीन वगैरह थी, उसे देखना-भालना होता था। उनमें से किसी को लाना संभव नहीं था। इसलिए वह ऐसे किसी को खोज रहा था, जो लड्डू बनाने के काम में उसे मदद कर सके। निर्मला को देख और घटनाचक्र में उसका सारा हाल जानने के बाद पहले मन में आया था इस ब्राह्मण कन्या को उसकी जीविका की हीनता से मुक्ति दे, उसके भरण-पोषण का भार अपने हाथ में ले ले। किंतु जब देख लिया, यह महिला अपने हाथों के अलावा किसी अन्य पर भार नहीं बनेगी, तब उसने तय कर लिया, इसी को वह समझा-सिखा कर अपने व्यवसाय में भागीदार बना लेगा। निर्मला के प्रति शुरू से ही जो मोह हो गया था, उसके साथ जुड़ गई थी श्रद्धा और उसके व्यक्तित्व के प्रति संभ्रम-बोध। उसे इस महिला की कार्यक्षमता पर एक विश्वास पैदा हो गया था। उसके साथ से उसकी 'जयनगर' की परिकल्पना सफल होगी, इसमें उसे संदेह न रहा।

इस असहाय-संबलहीन विधवा ब्राह्मण महिला को आत्मसम्मान-बोध कितना सजग है, यह समझने में गोकुल को देर नहीं लगी। इसमें कोई सहायता या दया का आभास पाकर बाद में वह पीछे न हट जाय, इसीलिए सारे मामले को संयुक्त कारोबार के प्रस्ताव के रूप में पेश किया। समझाने की कोशिश की कि वह कोई निस्वार्थ परोपकार की भावना लेकर नहीं आया है। उसका एकमात्र उद्देश्य व्यवसाय है, और परिश्रम के बदले में निर्मला का जितना उचित पावना होगा, उतना ही उसे दिया जायगा। उससे ज्यादा और कुछ नहीं। निर्मला ने अवश्य सिर्फ इसी ओर नहीं देखा। व्यवसाय-

"मुझे तुम माफ करो, गोकुल काका! यह लड्डू मैं मुँह में रख ही नहीं सकती। मेरे मुन्ना को यह बहुत अच्छा लगता था।"

"तुम्हारा मुन्ना!"

"हाँ, एक दिन जिद पकड़ गया था, खरीद कर देना ही पड़ेगा। घर में एक पैसा नहीं था, कैसे खरीदती? उलटा उसे बहुत डाँट दिया था। उसके बाद फिर कभी नहीं माँगा उसने।"

कहते-कहते निर्मला की आँखों से जलधारा बह निकली। गोकुल उस ओर देख निस्तब्ध खड़ा रह गया। मुन्ने की बात यह पहली बार निर्मला से सुनी थी, आँखों में आँसू भी पहली बार देखे थे। और कोई बात न कह, हाँड़ी उठा कर नतमुख धीरे-धीरे निकल कर चला गया।

• • •

आठ

आशुतोषबाबू का सेवा काल समाप्त हो गया। दीर्घ तीस वर्ष एकसार बन्द्राल में काटने के बाद अब उनके अवकाश की बारी थी। उनके जाने से पहले लड़के अपने सेकेंड सर का विदाई-अभिनंदन करना चाहते थे। 'हॉल' में लगे लकड़ी के पार्टीशन हटा कर कोलाहल सहित कुर्सी-बेंच सजाने का प्रथम कार्य शुरू हो गया। सभा होगी। बीच-बीच में सुपर या कोई दूसरा बाबू जब बदली होकर जाता, तब यहाँ इसी प्रकार सभा का आयोजन होता था। आज की बात तो और भी बड़ी थी। बदली नहीं, मास्टरजी हमेशा के लिए विदाई ले रहे थे। इसलिए अनुष्ठान भी व्यापक था। सिर्फ दो फूल मालाएँ और एक गुलदस्ता देकर ही काम खत्म नहीं होगा, उसके साथ केले के खंभा और देवदारु के पत्तों का द्वार बनाया जायगा, रंगीन कागज की झंडियाँ लगाई जायेंगी, दीवारों पर मौसमी फूलों और पत्तों को लगा कर रिंग बनाये जायेंगे।

एक और दूसरा विशेष आयोजन चल रहा था, जो बदली के समय कभी नहीं होता था। एक छोटा-मोटा विदाई भोज देने की तैयारी थी। लड़कों के दल ने अपने बहुत आदरणीय सेकेंड सर को घेर कर अंतिम बार और खिलाने का निश्चय किया था। 'स्टार बॉयज' ने सरकारी रोजगार से अपने पारिश्रमिक का एक रुपया खुले हाथों चंदे में दिया था। अन्य लड़कों ने, जिनके घर से तीज-त्योहार पर कुछ हाथ खर्च आता था, भी कम नहीं दिया। इनके साथ ही जुड़ा था उनका उत्साह और उत्तेजना। जितना काम था, उससे कहीं ज्यादा शोर था।

सभी लगे थे, सभी कुछ-न-कुछ कर रहे थे, नहीं था तो सिर्फ एक जन। इस

दिन आकर बोला, "तुम्हारे हाथ में क्या जादू है, माँ ? इस बीच मेरे ग्राहकों को तोड़ लिया। अब गोकुल बुड्ढे के हाथ की बनी चीजें किसी को नहीं रुचतीं। क्या कहते हैं, जानती हो ? वही जो उस दिन दे गये थे, उसी तरह का लाना।"

निर्मला मन-ही-मन गर्व अनुभव करती किंतु प्रकट में प्रतिवाद जताती, "यह तुम्हारी बनाई हुई बात है, गोकुल काका! तुम्हारे पास तक पहुँचने में मुझे अभी एक युग लगेगा।"

"नहीं माँ! तुम्हारे हाथ में बहुत मिठास है। उसका स्पर्श जिसमें भी लगता है, उसी का स्वाद बढ़ जाता है। खाना खाकर भी नहीं देख लिया है क्या ? एकदम अमृत।"

धूप की ओर देख गोकुल हठात् व्यस्त हो उठा। टोकरी सिर पर रखते हुए बोला, "समय हो गया, जा रहा हूँ। तुम्हें भी तो खाना-वाना बनाना है।"

वृद्ध की मनोगत इच्छा निर्मला से छिपी नहीं रही। बोली, "तुम्हें जो दो कौर खा जाने को कहती, आज उसका कोई उपाय नहीं। उधर का दरवाजा बंद है।"

"क्यों ?" गोकुल ने अवाक् हो देखा।

"आज मेरी एकादशी है।"

"ओह", कहकर निःश्वास छोड़ अन्यमनस्क-सा बाहर के दरवाजे की ओर चल दिया।

उस दिन शाम को ही गोकुल फिर आ उपस्थित हुआ। निर्मला कुछ सिलाई लिये बैठी थी। मृदु हँसकर बोली, "आज तो मेरी छुट्टी है, गोकुल काका।"

गोकुल उस प्रसंग में न जाकर एक मुँहबंद छोटी नई हाँड़ी बरामदे में रख बोला, "उठा के रखो।"

"यह क्या है ?"

"कुछ नहीं, दो लड्डू हैं। कल सुबह स्नान करके उठने पर मुँह में डाल पानी पीना।"

"नहीं गोकुल काका! इसे तुम ले जाओ।"

"मैंने तालाब में स्नान करने के बाद शुद्ध कपड़ों में अलग से तुम्हारे लिए बनाये हैं।"

"नहीं, यह बात नहीं है।"

"फिर ?"

निर्मला चुप हो गई। गोकुल बोला, "पहली बार जिस दिन इन लड्डूओं की बात कही थी, उस दिन भी तुम्हारा मुख ऐसा ही अंधेरा हो गया था। निश्चय ही इससे तुम्हारे मन में कोई दुःख है। बेटे के आगे भी क्या वह नहीं बताया जा सकता माँ ?"

"मुझे तुम माफ करो, गोकुल काका ! यह लड्डू मैं मुंह में रख ही नहीं सकती। मेरे मुन्ना को यह बहुत अच्छा लगता था।"

"तुम्हारा मुन्ना !"

"हां, एक दिन जिद पकड़ गया था, खरीद कर देना ही पड़ेगा। घर में एक पैसा नहीं था, कैसे खरीदती ? उलटा उसे बहुत डांट दिया था। उसके बाद फिर कभी नहीं मांगा उसने।"

कहते-कहते निर्मला की आंखों से जलधारा बह निकली। गोकुल उस ओर देख निस्तब्ध खड़ा रह गया। मुन्ने की बात यह पहली बार निर्मला से सुनी थी, आंखों में आंसू भी पहली बार देखे थे। और कोई बात न कह, हांड़ी उठा कर नतमुख धीरे-धीरे निकल कर चला गया।

• • •

आठ

आशुतोषबाबू का सेवा काल समाप्त हो गया। दीर्घ तीस वर्ष एकसार वस्त्राल में काटने के बाद अब उनके अवकाश की बारी थी। उनके जाने से पहले लड़के अपने सेकेंड सर का विदाई-अभिनंदन करना चाहते थे। 'हॉल' में लगे लकड़ी के पार्टीशन हटा कर कोलाहल सहित कुर्सी-बेंच सजाने का प्रथम कार्य शुरू हो गया। सभा होगी। बीच-बीच में सुपर या कोई दूसरा बाबू जब बदली होकर जाता, तब यहां इसी प्रकार सभा का आयोजन होता था। आज की बात तो और भी बड़ी थी। बदली नहीं, मास्टरजी हमेशा के लिए विदाई ले रहे थे। इसलिए अनुष्ठान भी व्यापक था। सिर्फ दो फूल मालाएं और एक गुलदस्ता देकर ही काम खत्म नहीं होगा, उसके साथ केले के खंभा और देवदारु के पत्तों का द्वार बनाया जायगा, रंगीन कागज की झंडियां लगाई जायेंगी, दीवारों पर मौसमी फूलों और पत्तों को लगा कर रिंग बनाये जायेंगे।

एक और दूसरा विशेष आयोजन चल रहा था, जो बदली के समय कभी नहीं होता था। एक छोटा-मोटा विदाई भोज देने की तैयारी थी। लड़कों के दल ने अपने बहुत आदरणीय सेकेंड सर को घेर कर अंतिम बार खीर खिलाने का निश्चय किया था। 'स्टार बॉयज' ने सरकारी रोजगार से अपने पारिश्रमिक का एक रुपया खुले हाथों चंदे में दिया था। अन्य लड़कों ने, जिनके घर से तीज-त्योहार पर कुछ हाथ खर्च आता था, भी कम नहीं दिया। इसके साथ ही जुड़ा था उनका उत्साह और उत्तेजना। जितना काम था, उससे कहीं ज्यादा शोर था।

सभी लगे थे, सभी कुछ-न-कुछ कर रहे थे, नहीं था तो सिर्फ एक जन। इस

अनुष्ठान में वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। एक 'स्टार' की हठात नजर पड़ते ही बोल उठा, "अरे दिलीप कहाँ है ? वह तो दिखाई नहीं देता।"

"अरे हाँ," कई जन इधर-उधर देख कर बोल उठे। बगल से कोई व्यंग्य के स्वर में बोला, "वह तो हमारे-तुम्हारे जैसा खराब लड़का नहीं है। पढ़ रहा होगा।"

"जा, आज के दिन क्या पढ़ेगा ! तबीयत-वबीयत तो खराब नहीं हो गई ?"

केशव एक ऊँचे स्टूल पर खड़ा केले के खंब में देवदारु के पत्ते लगा रहा था। बोला, "वह यह सब शोर-गुल पसंद नहीं करता। इसके अलावा आशुबाबू सर चले जा रहे हैं !"

अनेक लड़कों ने हाँ में हाँ मिलाई। मास्टरजी सबको प्यार करते हैं, इस बारे में दो मत न होने पर भी दिलीप पर उनकी थोड़ी विशेष स्नेह-दृष्टि थी, यह किसी से अज्ञात नहीं था। दिलीप भी उनके प्रति कितना अनुरक्त है, यह भी सब जानते थे।

एक अन्य लड़के को कहते सुना गया, "सबसे ज्यादा नुकसान उसको ही हुआ। अगले वर्ष परीक्षा है।"

सभारंभ के पहले तक जो कुछ शोर-गुल, भाग-दौड़ थी, सेकेंड मास्टरसाहब के कमरे में घुसते ही उन्हें देख सब जैसे मंत्रबद्ध हो गये। साहब तब तक नहीं आये थे। डिप्टी सुपर ने उस शून्य आसन के एकदम बगल में आशुबाबू को ले जाकर बिठा दिया। कल तक जो स्वतः प्रफुल्ल थे, सदा हास्यमय थे, एक रात बीतते ही न जाने किसने उनके चेहरे से सारी दीप्ति-रेखा पोंछ ली थी। दोनों गाल झूले पड़ रहे थे; आँखों के नीचे कालिमा बढ़-सी गई थी और निष्प्रभ दृष्टि में न जाने कैसी एक असहाय व्याकुलता थी। लड़के आश्चर्य से तांकते ही रह गये, सेकेंड सर तो जैसे पहचान में ही नहीं आ रहे थे। दिलीप एकदम पीछे की बेंच पर बैठा था। कोई-कोई लड़का उसे सामने की ओर बैठाने के लिए खींचतान कर रहा था। सबसे ऊँची क्लास के छात्र के नाते, वहीं उसका स्थान था। किंतु उसे किसी भी तरह खींच कर नहीं लाया जा सका। मास्टर-जी के मुंह की ओर एक बार देखने के बाद उसने जो सिर झुकाया, तो फिर आँखें ऊपर नहीं उठा सका।

कुछ मिनट बाद ही सुपर आ पहुँचे। एक छोटे लड़के ने बगीचे से तोड़े फूलों की अपने हाथ से बनाई मालाएँ उन्हें और आशुबाबू को पहना कर अभ्यर्थना की। दो-तीन लड़कों ने स्व-रचित कविता पाठ कर विदा होने वाले शिक्षक को श्रद्धा-निवेदन किया। कविता में छंद और भाषा की त्रुटियाँ जितनी भी हों, एक गहरी आंतरिकता का स्वर सभी के अंतर को स्पर्श कर गया। हेडमास्टर ने अपने दीर्घकाल के सहयोगी के गुणों का बखान करते हुए वक्तृता दी। डिप्टीबाबू भी कुछ बोले। शिक्षकों और छात्रों में से अनेक की इच्छा थी, दिलीप भी बोले। वही तो बस्ट्राल स्कूल का उपयुक्त प्रतिनिधि था। अध्यक्ष के अनुरोध पर वह उठ कर खड़ा हुआ, किंतु एक बात भी नहीं

बोल सका। जब आशुबाबू का आवाहन किया गया, तब वह कुछ देर अभिभूत से खड़े रहने के बाद धीरे-धीरे बोले, "तीस वर्ष तक जो लोग मेरे आसपास रहे, वे मेरे निकट नहीं रहेंगे फिर भी मैं रहूँगा, यह बात मैं सोच ही नहीं पा रहा हूँ। जितने दिन भी जीवित रहूँगा, तुम सब मेरे समस्त मन, मेरी समस्त चेतना पर छाये रहोगे। और मैं कुछ नहीं कह पा रहा हूँ।"

सबसे बाद में घोषसाहब ने जो सामान्य बातें कहीं, वे आशुबाबू की ही प्रति-ध्वनि थीं। वह बोले, "आशुबाबू बस्त्राल स्कूल छोड़ कर जा रहे हैं, यह बात प्रत्यक्ष होने पर भी सत्य नहीं है। वह जिस पर विश्वास नहीं कर पा रहे हैं, हम भी नहीं मान पा रहे हैं। इस प्रतिष्ठान के बाहर हम सब के ही नाना प्रकार के आकर्षण हैं, घर-संसार हैं, आत्मीय-बांधव हैं और उनके साथ कितनी ही तरह के पारिवारिक और सामाजिक बंधन हैं। इनके लिए जो कुछ है वह स्कूल और इसके एक क्षुद्र लड़के हैं। इनके बाहर इनका कोई अस्तित्व नहीं। इन्हें हम कभी भी नहीं खोयेंगे। यह जहाँ भी रहें, हम इन लड़कों में इन्हें देख सकेंगे।"

अगले सवेरे ही चले जाना था। सहकर्मियों से मेल-मुलाकात के बाद आशुबाबू अंतिम विदाई लेने के लिए रात में साहब के घर गये। बात जितनी भी हुई, ज्यादातर समय दोनों जन मन-ही-मन नीरव रहे। काफी देर चुप बैठे रहने के बाद साहब ने पूछा, "गाँव के घर ही जा रहे हैं ना?"

"जी नहीं। वहाँ कोई नहीं है। घर-द्वार भी न होने के बराबर है!"

"फिर?"

"अभी तो गुरुदेव के पास जा रहा हूँ। उसके बाद वह जो भी आदेश दें।"

"सारे जीवन की सब कुछ आय तो गुरुजी को दान किये बैठे हैं। बाकी जीवन....."

आशुबाबू दाँतों से जीभ काट, जोर से सिर हिला कर बोल उठे, "उन्हें मैं दान कर सकता हूँ। ऐसी धृष्टता कभी मन में आई ही नहीं। कह सकते हैं उनके ही अनु-ग्रह का दान उनके हाथ में सौंप दिया। उन्होंने ग्रहण कर लिया, इसी से मैं धन्य हूँ।"

साहब बहुत कुछ अपने मन में बोले, "इसका मतलब पेंशन और प्राविडेंट फंड के ये थोड़े कुछ रुपये भी इसी ढंग से चले जायेंगे। जाने दीजिए, ये सब बातें उठा कर जाते समय आपके मन को कष्ट नहीं देना चाहता। जब इच्छा हो एक बार चक्कर लगा जाया करें। आपका बस्त्राल आपका ही रहेगा।"

आशुबाबू की आँखें छलछला आयीं। उत्तर में कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कुछ कहने गये, पर कह नहीं सके। साहब कुछ क्षण बाद बोले, "आप थे, इसीसे एक विषय में मैं निश्चिंत था।"

आशुबाबू के आँख उठाते ही उन्होंने आगे कहा, "दिलीप की बात कर रहा हूँ।

जाने से पहले परीक्षा देकर जा सकेगा या नहीं, कौन जाने ?"

"यथासाध्य चेष्टा कर के भी आपके आदेश का मैं पालन नहीं कर सका, सर !"

"नहीं, नहीं, इससे ज्यादा आप और क्या कर सकते थे ? इतने कम समय में जितना आगे बढ़ा दिया, वह और किसी से संभव नहीं होता।"

"विशेषकर उसका खयाल ही मुझे सारे समय कष्ट देगा। बीच-बीच में पत्र लिख कर शायद आपको विरक्त करूँ।"

"सौ बार कीजिए। मैं भी जब जैसा होगा, आपको लिखूंगा।"

आशुबाबू के गुरुदेव के बारे में उनके सहकर्मी वर्ग में भी यथेष्ट कौतूहल था। होना ही स्वाभाविक था। वह कौन हैं, क्या नाम है, उनका कीर्ति-कलाप क्या है, आश्रम कहाँ है—इत्यादि नाना प्रश्न प्रायः ही सबके मुंह पर रहते। आशुबाबू व्यंग अनुभव करते। वह जानते थे उत्तर से उन्हें खुशी नहीं हो सकेगी। नाम निश्चय ही था एक, किंतु वह अन्य दस जनों के समान साधारण, सीधा-सादा था। आदि में 'स्वामी' नहीं और अंत में भी 'आनंद' नहीं था। 'आश्रम' के नाम पर हुगली जिले के एक नगण्य ग्राम के अंतिम छोर में गंगा तट के पेड़ों के आवरण में दो-चार खपरैल के घर थे। कार्य-कलाप भी प्रचार करने लायक कुछ नहीं थे। गाँव में ज्यादातर लोग मछुए थे। उनके पास न तो जमीन-जायदाद थी और न ही पड़ोसी गाँवों के मुसलमानों की भाँति कल-कारखाने में खटने वाले थे। ग्वालों की भाँति दूध-पनीर का कारोबार भी नहीं करते थे। उनका एकमात्र आश्रय गंगा थी। मृत्यु के बाद तो सभी को होती है, पर उनके जीवन और मरण दोनों में गंगा ही सब कुछ थी। लेकिन जैसे धरतीमाता सहज में कुछ नहीं देती, बहुत खोद-खाद करने पर ही 'शस्य कन्या' का संधान मिलता है, वैसी ही गंगा माँ है। बहुत सारा लाव-लश्कर न होने पर उनके 'शस्य' भंडार तक नहीं पहुँचा जा सकता। वह सब सामान न जुटने से ही वर्ष के बाद वर्षों तक गंगा उन्हें (मछुओं को) गोद में स्थान देने के अलावा और कुछ बड़ी चीज नहीं दे पा रही थी तब भी उन्होंने गंगा को नहीं छोड़ा था। बाप-दादा की छोड़ी दो-चार टूटी नौकाएँ और कुछ फटे जाल ले कर सुबह होते-न-होते तैरना शुरू कर के शाम को प्रायः खाली हाथ ही लौट जाते थे।

ऐसे समय में उनकी बस्ती से कुछ दूर एक पतले बहुत पुराने आम-कटहल के पास कहीं से आ कर एक 'साधू बाबा' ने डेरा डाला। अद्भुत साधू था। दाढ़ी नहीं, जटा नहीं, गेरुवा कपड़े नहीं पहनता, गांजा नहीं पीता और धूनी भी नहीं रमाता। सारे दिन घर में बैठा कुछ पढ़ता रहता और शाम होने से कुछ पहले आँख पर चश्मा लगा और पैरों में सेंडल पहन गंगा के किनारे-किनारे बहुत दूर चला जाता। संगी-साथी कोई नहीं। रविवार को या छुट्टी के दिन विभिन्न ट्रेनों से नाना वयस के लोगों का एक

झुंड उनके पास पहुँचता। उस दिन वह पढ़ते नहीं, घूमने भी नहीं निकलते। प्रायः सारे दिन सिर्फ बातचीत चलती रहती।

भद्र लोगों की बस्ती वहां से कुछ दूर थी। वे लोग इधर ज्यादा करके नहीं आते थे। एक-दो जन जब-तब दिखाई पड़ते अवश्य, लेकिन वे मछली खरीदने या तक-सील चुकाने के लिए ही आते। शिक्षित लोग थे। उनमें से कोई-कोई साधू बाबा के दर्शन-लाभ को आ कर निराश हो लौट जाता। सोचता, यह कैसा 'साधू' है, धर्म-चर्चा नहीं, आध्यात्मिक आलोचना नहीं, अगर महापुरुष कहा जाय तो उनके समान दार्शनिक मत-वाद ले कर विचार-विश्लेषण भी तो नहीं करता। इनकी तो जितनी कुछ जिज्ञासा और आग्रह था केवल सांसारिक विषयों में था। गांव में और आसपास में कितनी जन-संख्या है, उनकी आजीविका क्या है, कैसी आय है, युवक क्या करते हैं, पढ़ाई-लिखाई का कितना स्थान है इत्यादि। उलटे प्रश्न कर उन्हें साधू के बारे में जो तथ्य मिलते, वे भी निराशाजनक कभी किसी सरकारी दफ्तर में नौकरी करते थे, रिटायर होने के बाद संसार का कोलाहल अच्छा नहीं लगा, इसलिए नीरवता देख यहां आ कर आश्रय लिया है। ब्रिटिश शासन का जमाना था। 'सरकारी' नाम सुनते ही मन संदेह से भर उठा। उन्होंने लौट कर नाना कथाएँ फैला दीं। कोई बोला, "आदमी पुलिस का जासूस है", कोई बोला, "फरार आसामी है", जो ज्यादा बुद्धिमान थे, उन्होंने गंभीरता से राय प्रकट की, "जासूस है, वह भी पुलिस का नहीं। उसका असली मतलब कोई नया कर लगाने के लिए माल-मसाला जुटाना है। अतः शत हस्तों से ...।" जो कुछ निष्कर्म युवक ताश खेल कर और थियेटर में रिहर्सल कर के दिन बिताते थे, उन्होंने एक दिन समूह बना कर साधू को परखने के लिए जाने का निश्चय किया। उन्हें उनके अनुभवी अभिभावकों ने चेतावनी दे दी—कोई भूले से भी उधर न जाय। न जाने कहाँ किस 'स्वदेशी' हंगामें में फँसा देगा।

साधू भी भद्र बस्ती में नहीं गया। वह धीरे-धीरे मछुओं की बस्ती में गया। वे बहुत व्यस्त हो उठे—'साधू बाबा' ने खुद आ कर उनके गंदे घर के आंगन में चरण-धूलि दी है। पर वे बाद में उस समय आश्चर्यचकित रह गये, जब 'साधूबाबा' देवी-देवता, भजन-कीर्तन, पूजापाठ या ऐसे किसी दूसरे प्रसंग में न जा कर सीधे-सीधे घर-संसार की बातें करने लगे। उन्होंने पूछा—"सारे वर्ष मछली पकड़ने के लिए कितनी नौकाएँ, कितने जाल चाहिए, मोटा खर्च कितना है, किसे महाजन को कितना चुकाना है? सबसे बाद में उन्होंने निष्कपट भाव से स्वीकार कर लिया कि वह 'साधू' नहीं है, साधारण सांसारिक व्यक्ति है, उनके साथ रह कर अपने लोगों की भांति बाकी कुछ दिन काटना चाहते हैं। उसके बाद भी उनका संदेह मिटाने में कुछ दिन बीत गये। लेकिन बुद्धि की दौड़ जो ज्यादा नहीं थी, इसी से अंत में और दूर नहीं खड़े रह सके। खुले मन से अभाव-अभियोग की लंबी कहानी लेकर आगे बढ़ आये। साधू बा ...

नामकरण हुआ 'बाबा ठाकुर' (महाराज)। इसी बीच उन्हें पता चल गया था कि प्रति माह के शुरू में कितने ही मनिआर्डर आश्रम के पते पर आते हैं। उनकी लोलुप-दृष्टि उसी ओर गई। दल बना कर आये और प्रार्थना की, "ठाकुर बाबा यदि दया करें तो उनके सारे कष्ट दूर हो सकते हैं।" वह बोले, "ये रुपये तुम्हें देना संभव नहीं है। इनके बहुत से भागीदार हैं। (हँस कर एक गड्डी मनिआर्डर फार्म दिखा दिये) अपने रुपये तुम अपने आप जुटाओ।"

"हम कहाँ पायेंगे?" बुजुर्गों का दल जैसे एकबारगी ही आकाश से गिरा।

"बैंक से मिलेंगे।"

बैंक का नाम उनमें से किसी-किसी ने सुना था। शहर में जाने पर एक-दो को दिखाई भी दिये थे। बहुत बड़ा पक्का घर, गेट पर बंदूकधारी दरवान, सामने खड़ी थी मोटर। जो लोग घुस और निकल रहे थे, वे सब बड़े-बड़े बाबू थे—दमदमाता चेहरा, चमचमाती पोशाक। वहाँ उन जैसे गरीब लोगों का घुसना हो सकेगा? ठाकुर बाबा क्या मजाक कर रहे हैं?

वह बोले, "वह बैंक नहीं, यह दूसरी बैंक है। उसके मालिक तुम्हीं होगे। तुम्हारे में से ही किसी एक के घर में उसका दफ्तर होगा। उधार भी तुम्हीं लोग लोगे, उसके सूद से जो लाभ होगा वह भी तुम्हारा रहेगा।"

एक जन, जो उनमें सबसे चतुर था, हँस कर बोला, "रुपये कहाँ से आयेंगे?"

"शहर के बड़े बैंक से। उधार भी और मूलधन भी। इसके लिए तुम सबको एक कमेटी बनानी होगी। जितना रुपया आयगा, तुम सबका रुपया होगा। समान हिस्सा, समान अधिकार। उससे जो कुछ खरीदा जायगा, नाव, जाल का सूत, बाँस-डोरी, वगैरा-वगैरा—उसकी मालिक भी यह कमेटी रहेगी। उसका नाम होगा समवाय समिति। जितनी मछली पकड़ी जाय, उसे एक साथ शहर ले जाओ। बिक्री से जितने रुपये मिलें, उससे बैंक की किस्त चुका कर बाकी हिस्सा तुममें अर्थात् समिति के मेम्बरों में बंट जायगा।"

बुजुर्गों के चेहरों पर उत्सुकता का प्रकाश चमक उठा, इसमें भविष्य का उज्ज्वल सपना था। साथ ही फिर उन पर उदासी छा गयी। इतना बड़ा काम करने लायक उनमें कौन है? सभी तो निरक्षर भट्टाचार्य हैं। लिखा-पढ़ी तदबीर-तरकीब, हिसाब-किताब का भी झमेला तो कम नहीं है।

ठाकुर बाबा बोले, "मैं करूँगा तुम्हारी सहायता।"

यह सन् १६२२-२३ की बात है। ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी ऋण समितियों के गठन की ओर अंग्रेज सरकार ने थोड़ा ध्यान दिया था। महाजनों ने यथाशक्ति बाधा दी। लालफीते का दौर भी कम नहीं था। सरकारी अंचलों में मैत्र महाशय की थोड़ी-बहुत पहुँच थी (मैत्र ठाकुर बाबा की पैतृक पदवी थी)—सहकर्मियों के साथ सौहार्द

भी था। उसी के जोर पर अनेक अनावश्यक जटिलताओं के हाथ से बच कर कुछ ही दिनों में आवश्यक मंजूरी आ गयी। एक अज्ञात और उपेक्षित क्षुद्र ग्राम की कुछ श्रीहीन टूटी झोपड़ियों के एक कोने में खुल गयी इस बस्ती की पहली कोऑपरेटिव क्रेडिट सोसायटी।

छोटे-बड़े सब तरह के बैंक व्यवसाय का असली मूलधन रुपये नहीं, सत्यता होती है; अभागे देश के जातीय चरित्र में जिसका बहुत अभाव है। मैत्र महाशय इस बात से अनजान नही थे और इसीलिए उन्होंने शुरू से ही उधर नजर रखी थी। इन लोगों की अत्यधिक अज्ञानता ने भी उनके लिए कम झंझट पैदा नहीं किये। अज्ञान दूर करने के लिए उनके कई लड़कों की थोड़ी पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था भी उन्हें करनी पड़ी थी। बाप-दादा के पेशे से निकाले बिना अथवा उस पर किसी प्रकार की अनिच्छा और अश्रद्धा पैदा किये बिना जितना पढ़ाया जा सकता है, उतना ही पढ़ाया जाय यही उनका लक्ष्य था, ताकि कालक्रम में उनमें से ही किसी पर बैंक के कागज-पत्रों का भार डाला जा सके।

इसी गाँव के ब्राह्मण मुहल्ले में एक परिवार के साथ आशुबाबू को दूर की रिश्तेदारी थी और उसी सूत्र में थोड़ा आर्थिक योगायोग भी रखना पड़ता था। उस परिवार के ही किसी सदस्य की बीमारी की खबर पाकर वह एक रविवार बिताने यहां आये थे। शाम के समय गंगा-तट पर घूमने निकले तो एक वृद्ध मछुए के साथ बात-चीत में 'ठाकुर बाबा' का जो वर्णन सुना, इसी से उनकी ओर आकृष्ट हुए। आलाप-बातचीत के बाद आकर्षण क्रमशः गहरा होता गया। बाद में और एक रविवार को आकर देखा, महाराज के पूरे कमरे में बाहर के लोग भरे थे। उनमें से ज्यादातर उनके जैसे निम्न स्तर के नौकरी पेशा व्यक्ति थे।

उन लोगों पर नाना कामों का भार था। इसी संबंध में उपदेश और निर्देश लेने गुरु के पास आये थे। मंत्रदाता और दीक्षादाता गुरु नहीं, जिस-जिस कार्य में वे व्रती थे, उसी में प्रेरणा और परामर्श देने वाले गुरु। एक अगर किसी बस्ती में नाईट स्कूल चलाता था, तो दूसरा निम्नवित्त भद्र परिवार की महिलाओं में [illegible]न कुछ कच्चा माल देता और तैयार माल को बाजार में पहुँचा कर अतिरिक्त आय की व्यवस्था कर देता उस परिवार को। किसी का गोपनीय कर्म स्थल मर्चेंट के क्लर्क-समाज में था। मामूली सूद पर और क्षेत्र-विशेष में बिना सूद के जरूरतमंदों को कुछ-कुछ उधार देना। इस प्रकार भेड़िये रूपी पश्चिमी दरबानों और बाघ रूपी पठानों के पंजे से कर्ज में डूबे सब लोगों को धीरे-धीरे बाहर निकाल लाने का दुरूह काम का भार उन्होंने लिया था। रुपये से सहायता मैत्र महाराज देते। अपने रुपये से नहीं, दस लोगों के पास से जो आते, उनसे। ऐसा ही एक शिष्य पीछे की तरफ बैठा था। उसके सिर पर पट्टी बँधी थी। गुरु ने सहास्य पूछा, "तुम्हारे सर

पर यह आशीर्वादी निर्माल्य किसके हाथ का है? पांडेजी का या खां साहब का? द्वार-तोड़क या अफगानी?"

"जी, अफगानी का होता तो क्या इतने कम में छोड़ जाता? यह हमारे बड़े दरवानजी के भाड़े के लठैतों का प्रसाद है। अवश्य ही विशेष सुविधा नहीं पा सके।"

"उधर भी शायद असुविधा है?"…वृद्ध ने अँगूठे पर तर्जनी लगा कर पैसा बजाने की भंगिमा बनाई।

"बहुत। इस महीने एक भी नया मुवक्किल जो नहीं जुटा। पुरानों में से भी तीन को छुड़ा लिया।"

"आहा बेचारा! तुम उसके पेट पर लात मारोगे और वह क्या हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा?"

कमरे में दूसरी ओर बैठे एक २५-२६ वर्ष के बलिष्ठ युवक की ओर देख कर बोले, "महीन की क्या खबर है, गर्दन का दर्द दूर हुआ?"

युवक ने लज्जित भाव से सिर हिला कर बताया, "हाँ।"

किसी एक ने पूछा, "गर्दन में दर्द कैसे हुआ?"

"अच्छा, तो तुम नहीं जानते? महीनबाबू को ईश्वरचंद्र विद्यासागर बनने का शौक चर्राया है। हावड़ा स्टेशन पर एक बाबू छोटे से सूटकेस के लिए कुली बुला रहा था। इन्हें यह सहा नहीं गया। बोल बैठे, मुझे दीजिए और इच्छा हो तो मजदूरी भी दे सकते हैं। बाबू को कुछ सन्देह हुआ, छोकरे का निश्चय ही कोई मतलब है। कोई बात न कह कर माल कुली के ही सिर पर उठा दिया। कुली ने मामले को इतने सहज में नहीं छोड़ दिया। उसके मुंह बिचका कर थोड़ा कुछ कटाक्ष करते ही इन्होंने डपट कर जवाब दिया। उसके बाद वही हुआ जो होता है। भीड़ में पीछे से गर्दन पर थोड़ी दवाई दी गई। फिर भी बांगाल (पूर्वी बंगाल के लोग सुपुष्ट शरीर और तेजमिजाजी के कारण 'बांगाल' कहे जाते हैं) की ही तो गर्दन ठहरी, इतनी आसानी से सीधी होने वाली नहीं है। अब नियम से कुलीगीरी चला रहे हैं महीनचंद्र। ऑफिस से छुट्टी के बाद ५-३६ की ट्रेन से घर लौटते थे, अब ६-४२ की गाड़ी पकड़ते हैं। एक घंटा सामान ढोने की मजदूरी करते हैं।"

एक भलामानस बोला, "कुली होने के लिए भी तो लाइसेंस चाहिए। पुलिस नहीं पकड़ती?"

"पकड़ पाये तभी तो! महीन वहाँ सामानवालों का अपना आदमी जो है। किसी का भाई है तो किसी का बड़ा साला। 'चलिए जमाईबाबू', 'आइए दीदी इतना ही तो सामान है, कुली की क्या जरूरत?' कह कर बाएं कंधे पर एक बड़ा ट्रंक उठा कर और दाएं हाथ में बिस्तरा दबा कर आगे चल पड़ता है। इसके बाद लाइसेंस और

कौन चाहेगा ?"

महीन बोला, "रेल के बाबू कोई-कोई जान गये हैं। कुछ कहते नहीं हैं।"

"क्या कहेंगे ? वे भी बाल-बच्चों वाले इन्सान हैं। गरीब भले लोगों पर अपनी कुली-पलटन के जुल्म आँखों से देखते तो रहते हैं ? साथ में अगर थोड़ा ज्यादा सामान-वामान होता है, एकदम से बेटा लोग रुला कर छोड़ते हैं।"

"सचमुच, महीनबाबू एक अच्छा काम कर रहे हैं," एक महाशय प्रशंसा के स्वर में बोल उठे, "उनके जैसे दो-चार लड़के अगर आगे बढ़ें, तो सब कुली ठीक हो जायें।"

मैत्र महाशय बोले, "यह कोशिश भी चल रही है। महीन बैठा रहने वाला लड़का नहीं है। क्या हुआ ? एक-दो शागिर्द जुटा सके या नहीं ?"

"जी, अगले सप्ताह से दो मित्र जुट जायेंगे, लग रहा है। आना तो और भी कई चाहते हैं। पर भारी सामान ढोने लायक शरीर में जोर भी तो होना चाहिए। ऐसे लोग मिलना कठिन है। फिर कुली भी क्रुद्ध हो उठे हैं। उसके लिए भी तैयार रहना है।"

महीन ने उठ कर कुछ रेजगारी मैत्र महाशय के पैरों के पास रख दी और बोला, "पाँच रुपये दस आने हैं। यही पिछले हफ्ते की आय है।"

मैत्र महाशय ने जिज्ञासु दृष्टि से देखा।

महीन बोला, "सहायता लेने लायक गरीब पार्टी ज्यादा नहीं थीं। दो-चार शौकीन बड़े लोगों को पकड़ लिया। कुछ बख्शीश मिल गई। दिये बिना छोड़ा नहीं।"

"वाह, तब तो कुछ रोजगार भी हो गया। तो एक काम करो। एक दिन के लिए अपना काम छोड़ दो। यहाँ कितने बताये तुमने ? पाँच रुपये दस आने ? अच्छा, इसके साथ यह लो चार रुपये छह आने। ये रुपये तुम्हें बहू बाजार में एक घर में पहुँचाने होंगे। ठहरो, पता लिखे देता हूँ।"....कह कर कापी के पन्ने उलटने लगे और उसी में से एक नाम-पता खोज, कागज के टुकड़े पर लिखा। पता और रुपये दोनों महीन की तरफ बढ़ा दिये। फिर बोले, "गली खोजने में थोड़ा कष्ट होगा। एक बहुत पुराने घर के इकतल्ले पर पीछे की ओर रहते हैं यह सज्जन। भीतर जा कर रुपये उनके ही हाथ में देना और किसी को नहीं।"

शाम बढ़ते ही कई लोग उठ खड़े हुए। कुछ देर बाद कलकत्ता की ओर जाने के लिए एक ट्रेन थी। ज्यादातर लोग उसी से लौटते थे। जाने से पहले प्रायः सभी ने कुछ-न-कुछ रुपये गुरुदेव के पैरों के पास रख, प्रणाम किया। उन्होंने किसी के सिर पर हाथ और किसी की बाँह पकड़, पात्र-विशेष को नाना प्रकार के सरस मंतव्य और सस्नेह परिहास के साथ एक-एक करके विदा किया। जो दो-चार जन रह गये, भीतर जा कर खाना-वाना बनाने लग गये। मैत्र महाशय का एक नौकर जैसा आदमी था,

मधु। रविवार को उसका काम कुछ बढ़ जाता था।

आशुबाबू के उठने का लक्षण नहीं दिखा। इतनी देर एक कोने में बैठे चुपचाप देखते रहे थे और बहुत ध्यान से उनकी बातचीत सुनते रहे। अब आकर कुंठा के साथ बोले, "मुझे क्या काम दे रहे हैं ?"

परिचय आदि पहले ही हो चुका था। मैत्र धीमे स्वर में बोले, "आप जो कुछ कर रहे हैं, महाशय, उससे कठिन काम और क्या है ? सरकार ने एक झुंड ऊधमी बंदर पकड़ रखे हैं। आप लोग उनकी दुम हटा कर उन्हें इंसान बनाने की कोशिश कर रहे हैं।" बोल कर जोर से हँस पड़े। फिर कुछ मिनट तक कुछ सोचने के बाद एकदम बदले स्वर में बोले; "लेकिन इंसान बन रहे हैं क्या ?"

'पता नहीं। हम लोग तो सिर्फ नौकरी किये जा रहे हैं, बस।"

"इसके अलावा आप लोग और कर ही क्या सकते हैं ? जिन पर उनके भविष्य का भार है, वही नहीं सोचते। सरकारी दफ्तर में इस चीज का बहुत अभाव है। सच है, सिर्फ 'इमैजिनेशन' (कल्पनाशीलता) नहीं है। मैं खुद ही इसका प्रमाण हूँ।"

वस्ट्राल की नीति, पद्धति और दैनिक कार्यसूची लेकर बहुत देर बातचीत हुई। आशुबाबू को अनेक प्रश्नों का जवाब देना पड़ा। उनके अपने मन को जो बातें बहुत दिनों से उलझाए हुए थीं, वे बातें और साहब के साथ बीच-बीच में हुई सब विवेचना को भी उन्होंने इस प्रसंग में खुल कर कह डाला। सुनने के बाद मैत्र बोले, "लड़कों के सम्बन्ध में मेरा कौतूहल बढ़ गया है। समय मिलने पर बीच-बीच में आइयेगा, और भी सुनूंगा।"

वहीं से शुरुआत हुई। फिर अवसर मिलते ही एक दिन की छुट्टी लेकर यहां का चक्कर आशुबाबू लगा जाते। मैत्र महाशय को भी खुले दिल का यह व्यक्ति अच्छा लगता था। अन्य अनेक के समान आशुबाबू ने भी उन्हें-मन-ही-मन 'गुरुदेव' के रूप में स्वीकार लिया था। बीच-बीच में उनकी फरमाइश के अनुसार एक-दो छोटे-मोटे काम कर तृप्ति अनुभव करते। किंतु मैत्र ज्यादातर उन पर भारी काम का भार नहीं डालते थे। कहते, "तुम तो दस से पांच बजे तक के कलमजीवी नौकर हो नहीं, चौबीस घंटे के नौकर हो। करोगे कब ?" किंतु कुछ काम न मिल पाने पर आशुबाबू के मन को शांति न मिली। इसलिए काम या 'सेवा' के बदले रुपये भेजते। सामान्य आय का एक मोटा भाग गुरुदेव के आश्रम में चला जाता। पहले तो उन्होंने आपत्ति की थी, किंतु आशुबाबू को दुःख होगा, सोच कर इन दिनों आपत्ति छोड़ दी थी। अंत में बोले थे, "तुम अभी जो कर रहे हो, करते रहो। सरकार जिस दिन छुट्टी दे, उस दिन यदि जीवित हो, तो यहां आ जाना। सोच कर देखा जायगा, क्या किया जाय। और एक काम कर सकते हो ? तुम्हारे यहां से जो लड़के निकलें उनके साथ जितना सम्पर्क रख सको, उतना रखने की चेष्टा करो।"

आशुबाबू जितनी बार आश्रम में आते, खाली हाथ आते। काफी दिनों से आत्मीय के घर में ठहरना छोड़ दिया था। सीधे यहीं पहुँचते। सुबह आकर शाम को चले जाते, सामान की जरूरत नहीं होती। आज उनके साथ एक छोटा संदूक और दरी में लिपटा बिस्तरा देख मैत्र महाशय बोले, "मामला क्या है? जेल से छुट्टी पा गये?"

"जी हाँ" कहकर आशुबाबू ने गुरुदेव के चरणों की धूल ली।

"भगवान ने रक्षा की। यहाँ के खाना-विभाग को लेकर बहुत चिंता में पड़ गया था। मधु है जरूर, लेकिन एक पक्के मैनेजर की जरूरत थी। प्रायः ही लोग यहाँ रह जाते हैं। तुम्हें पाकर बच गया। सब कुछ होने पर भी समझदार हो।"……कहकर हँस दिये।

आशुतोष का भोजन-अनुराग यहाँ भी प्रचारित हो चुका था। अपने प्रति गुरु के स्नेह के इस संकेत से वह सलज्ज मुख बोले, "रसोईघर की असली चीज पर मेरा आकर्षण है, लेकिन उसकी चौकीदारी की विद्या तो सीखी नहीं है।"

"अब बाध्य होकर सीख जाओगे। ऐसा न होने पर खुद ही ठगे जाओगे। मेरा भी थोड़ा स्वार्थ है। बुढ़ापे में थोड़ा अच्छे-बुरे का लोभ किसे नहीं होता?"

आशुबाबू जानते थे कि यह गुरु की अतिशयोक्ति है। आहार के संबंध में वह अत्यंत संयमी और संपूर्ण स्वावलंबी थे। इधर जो भी आयोजन हो, बहुत दिन पुराने मित्र सनातन इकमिक-कुकर के अलावा अन्य किसी का बनाया खाना उन्हें नहीं रुचता। वह व्यवस्था भी वह अपने हाथ से ही करते, मधु या किसी को हाथ नहीं लगाने देते। छुआछूत का परहेज कुछ नहीं था। यही उनकी नीति और अभ्यास था। इसे लेकर हँसी-मजाक करना अवश्य ही नहीं छोड़ते। इकमिक के नाममात्र उपकरण देकर अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी कर, बीच-बीच में रसोईघर के दरवाजे पर जाकर झाँकते। छुट्टी के दिन दोपहर के वक्त कुछ 'शिष्य' मिलकर शायद विशेष आयोजन कर रहे थे। गुरु बनावटी आश्चर्य से बोल उठे, "हिश्श, क्या हो रहा है। यह तो पूरी फीस्ट (दावत) है। मुझे तो तुम लोगों ने एक बार भी निमंत्रण नहीं दिया।"

उनमें से किसी एक ने जवाब में परिहास किया, "आपको बुलाकर लाभ क्या होता? 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनम्'।"

"ओहो! एक बार परख कर भी तो देख सकते थे, सचमुच अरसिक हूँ या नहीं। रहने दो, तुम लोग खाओ……मैं नजर नहीं लगाना चाहता…" कहकर हँसते-हँसते अपने कमरे में चले जाते। कभी-कभी दरवाजे के सामने बैठकर उनका खाना देखते और इस-उसके विषय में नाना प्रकार के सरस मंतव्य करके भोजन का रंग जमा देते।

मैत्र महाशय मुँह से जो भी कहें, अपने रसोई विभाग का भार लेने के लिए आशुबाबू को नहीं बुलाया था। यह कई दिन बाद पता चला। संध्या के बाद बल्कि

मधु। रविवार को उसका काम कुछ बढ़ जाता था।

आशुबाबू के उठने का लक्षण नहीं दिखा। इतनी देर एक कोने में बैठे चुपचाप देखते रहे थे और बहुत ध्यान से उनकी बातचीत सुनते रहे। अब आकर कुंठा के साथ बोले, "मुझे क्या काम दे रहे हैं?"

परिचय आदि पहले ही हो चुका था। मैत्र धीमे स्वर में बोले, "आप जो कुछ कर रहे हैं, महाशय, उससे कठिन काम और क्या है? सरकार ने एक झुंड ऊधमी बंदर पकड़ रखे हैं। आप लोग उनकी दुम हटा कर उन्हें इंसान बनाने की कोशिश कर रहे हैं।" बोल कर जोर से हँस पड़े। फिर कुछ मिनट तक कुछ सोचने के बाद एक-दम बदले स्वर में बोले; "लेकिन इंसान बन रहे हैं क्या?"

'पता नहीं। हम लोग तो सिर्फ नौकरी किये जा रहे हैं, बस।"

"इसके अलावा आप लोग और कर ही क्या सकते हैं? जिन पर उनके भविष्य का भार है, वही नहीं सोचते। सरकारी दफ्तर में इस चीज का बहुत अभाव है। सच है, सिर्फ 'इमैजिनेशन' (कल्पनाशीलता) नहीं है। मैं खुद ही इसका प्रमाण हूँ।"

वस्ट्राल की नीति, पद्धति और दैनिक कार्यसूची लेकर बहुत देर बातचीत हुई। आशुबाबू को अनेक प्रश्नों का जवाब देना पड़ा। उनके अपने मन को जो बातें बहुत दिनों से उलझाए हुए थीं, वे बातें और साहब के साथ बीच-बीच में हुई सब विवेचना को भी उन्होंने इस प्रसंग में खुल कर कह डाला। सुनने के बाद मैत्र बोले, "लड़कों के सम्बन्ध में मेरा कौतूहल बढ़ गया है। समय मिलने पर बीच-बीच में आइयेगा, ...र भी सुनूंगा।"

वहीं से शुरुआत हुई। फिर अवसर मिलते ही एक दिन की छुट्टी लेकर यहाँ ...ा चक्कर आशुबाबू लगा जाते। मैत्र महाशय को भी खुले दिल का यह व्यक्ति अच्छा ...गता था। अन्य अनेक के समान आशुबाबू ने भी उन्हें-मन-ही-मन 'गुरुदेव' के रूप में ...ीकार लिया था। बीच-बीच में उनकी फरमाइश के अनुसार एक-दो छोटे-मोटे काम कर तृप्ति अनुभव करते। किंतु मैत्र ज्यादातर उन पर भारी काम का भार नहीं डालते थे। कहते, "तुम तो दस से पाँच बजे तक के कलमजीवी नौकर हो नहीं, चौबीस घंटे के नौकर हो। करोगे कब?" किंतु कुछ काम न मिल पाने पर आशुबाबू के मन को शांति न मिली। इसलिए काम या 'सेवा' के बदले रुपये भेजते। सामान्य आय का एक मोटा भाग गुरुदेव के आश्रम में चला जाता। पहले तो उन्होंने आपत्ति की थी, किंतु आशुबाबू को दुःख होगा, सोच कर इन दिनों आपत्ति छोड़ दी थी। अंत में बोले थे, "तुम अभी जो कर रहे हो, करते रहो। सरकार जिस दिन छुट्टी दे, उस दिन यदि जीवित हो, तो यहाँ आ जाना। सोच कर देखा जायगा, क्या किया जाय। और एक काम कर सकते हो? तुम्हारे यहाँ से जो लड़के निकलें उनके साथ जितना सम्पर्क रख सको, उतना रखने की चेष्टा करो।"

आशुबाबू जितनी बार आश्रम में आते, खाली हाथ आते। काफी दिनों से आत्मीय के घर में ठहरना छोड़ दिया था। सीधे यहीं पहुँचते। सुबह आकर काम को चले जाते, सामान की जरूरत नहीं होती। आज उनके साथ एक छोटा संदूक और दरी में लिपटा बिस्तरा देख मैत्र महाशय बोले, "मामला क्या है? जेल से छुट्टी पा गये?"

"जी हां" कहकर आशुबाबू ने गुरुदेव के चरणों की धूल ली।

"भगवान ने रक्षा की। यहां के खाना-विभाग को लेकर बहुत चिंता में पड़ गया था। मधु है जरूर, लेकिन एक पक्के मैनेजर की जरूरत थी। प्रायः ही लोग यहां रह जाते हैं। तुम्हें पाकर बच गया। सब कुछ होने पर भी समझदार हो।"……कहकर हँस दिये।

आशुतोष का भोजन-अनुराग यहां भी प्रचारित हो चुका था। अपने प्रति गुरु के स्नेह के इस संकेत से वह सलज्ज मुख बोले, "रसोईघर की असली चीज पर मेरा आकर्षण है, लेकिन उसकी चौकीदारी की विद्या तो सीखी नहीं है।"

"अब बाध्य होकर सीख जाओगे। ऐसा न होने पर खुद ही ठगे जाओगे। मेरा भी थोड़ा स्वार्थ है। बुढ़ापे में थोड़ा अच्छे-बुरे का लोभ किसे नहीं होता?"

आशुबाबू जानते थे कि यह गुरु की अतिशयोक्ति है। आहार के संबंध में वह अत्यंत संयमी और संपूर्ण स्वावलंबी थे। इधर जो भी आयोजन हो, बहुत दिन पुराने मित्र सनातन इकमिक-कुकर के अलावा अन्य किसी का बनाया खाना उन्हें नहीं रुचता। वह व्यवस्था भी वह अपने हाथ से ही करते, मधु या किसी को हाथ नहीं लगाने देते। छुआछूत का परहेज कुछ नहीं था। यही उनकी नीति और अभ्यास था। इसे लेकर हँसी-मजाक करना अवश्य ही नहीं छोड़ते। इकमिक के नाममात्र उपकरण देकर अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी कर, बीच-बीच में रसोईघर के दरवाजे पर जाकर झांकते। छुट्टी के दिन दोपहर के वक्त कुछ 'शिष्य' मिलकर शायद विशेष आयोजन कर रहे थे। गुरु बनावटी आश्चर्य से बोल उठे, "हिश्श, क्या हो रहा है। यह तो पूरी फीस्ट (दावत) है। मुझे तो तुम लोगों ने एक बार भी निमंत्रण नहीं दिया।"

उनमें से किसी एक ने जवाब में परिहास किया, "आपको बुलाकर लाभ क्या होता? 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनम्'।"

"ओहो! एक बार परख कर भी तो देख सकते थे, सचमुच अरसिक हूँ या नहीं। रहने दो, तुम लोग खाओ……मैं नजर नहीं लगाना चाहता……" कहकर हँसते-हँसते अपने कमरे में चले जाते। कभी-कभी दरवाजे के सामने बैठकर उनका खाना देखते और इस-उसके विषय में नाना प्रकार के सरस मंतव्य करके भोजन का रंग जमा देते।

मैत्र महाशय मुँह से जो भी कहें, अपने रसोई विभाग का भार लेने के लिए आशुबाबू को नहीं बुलाया था। यह कई दिन बाद पता चला। संध्या के बाद

वारे में वात शुरू की और इसी प्रसंग में पूछा, "वहाँ से निकलने पर सव लड़के जाते कहाँ हैं?"

आशुबावू वोले, "कोई-कोई घर लौट जाता है।"

"ऐसे होते ही कितने हैं? ज्यादातर तो माँ के मरने पर वाप द्वारा निकाले गये ही होते हैं। अनेक तो शायद आलतू-फालतू जन्म लेने के वाद ही छोड़े हुए होते हैं। उन्हें लेकर क्या करते हो?"

"उनके लिए कोई विशेप व्यवस्था नहीं है। नाममात्र के लिए एक 'आफ्टर-केयर' का स्थान है। वहाँ कुछ दिन रह सकते हैं।"

"उसके वाद?"

"उसके वाद और क्या? जहाँ खुशी हो चले जाते हैं। वे लोग चेष्टा अवश्य कर रहे हैं कि कोई काम उन्हें जुटा कर दिया जा सके।"

"काज-कर्म सिखाने का हाल जो तुमसे सुना है, उससे विशेप कुछ जुट जाता हो यह तो लगता नहीं। इसके अलावा इस उम्र का कोई लड़का काम ही क्या कर सकता है, अगर उसे और थोड़ा वढ़ाने की व्यवस्था नहीं होती? ऐसा कुछ है क्या? अंग्रेजी में जिसे कहते हैं फॉलो-अप कोर्स।"

"जी नहीं, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।"

"इसका मतलव सीधी वात है--जाओ वावा, चरो, खाओ।"

आशुवावू ने जवाव नहीं दिया, देने लायक कुछ था भी नहीं। इस वारे में होंने भी सोचा था। सरकारी भाष्य के अनुसार जो लोग किशोर अवस्था से ही ...ाज-विरोधी' वर्ग में चले गये हैं, उन्हें कुछ वर्प पकड़े रखकर ड्रिल, दो पन्ने 'अज-म' पढ़ा कर, और उसके साथ कुछ कीलें ठोंकने अथवा दो वार तकली चलाने का ...का देकर रास्ते पर छोड़ देने से ही क्या उनकी समाज-विरोधी प्रवृत्ति की चिकित्सा जाती है? यहीं सरकार का सारा दायित्व समाप्त हो जाता है? वस्ट्राल स्कूल्स एक्ट जिनकी सजा है अर्थात् जो वीस-इक्कीस वर्प की उम्र पार कर जाते हैं, उन्हें तो फिर ... दायें-वायें हाथ का ज्ञान हो जाता है, लेकिन इंडस्ट्रियल ग्रुप के लड़के? सोलह वर्ष होते ही जव एक-एक को छोड़ दिया जाता है, तव वह विश्वास ही नहीं करना ...हता कि आज से घंटा वजा कर, थाली सजा कर कोई उसे खाने को नहीं वुलायगा। ...थवा कमीज, पैंट फट जाने पर कोई डाँट कर नहीं कहेगा—गोदाम में जाकर वदल ...र आओ। दुतल्ले के हॉल में अपने छोटे विस्तरे और जिन दूसरी चीजों को वह इतने ...पं तक अपनी मानते रहे थे, कितने यत्न से दो कंवलों को तहा कर रखते, उसके ऊपर अपने हाथ से धोया सफेद गिलाफ चढ़ाया, तकिया सजा कर रखते, सव वहीं पड़े रह गये। 'हमारा स्कूल', 'हमारा ग्रीन हाउस' कह कर जिसे जानते थे, उसके साथ उनका संवंध सदा के लिए समाप्त हो गया। अव वह कहाँ जायगा, कौन थोड़ा-सा खाना देगा

रात के अँधेरे में सिर छिपाने को कहां जगह मिलेगी ?

रिहाई के दिन सिर्फ छह आने का सम्बल लेकर साहब के कमरे से निकल, वस्ट्राल की खाकी पोशाक में नहीं, दीर्घकाल पहले जो पहन कर आये थे, वही जीर्ण मलिन कपड़े जिस तिस प्रकार शरीर में चढ़ा कर, जब ये सब लड़के फटी-फटी आंखों से देखते हुए गेट पार कर अनजान रास्ते पर पैर रखते थे, आशुबाबू ने उनके चेहरों पर यही प्रश्न स्पष्ट देखे थे। वह वहां से चुपचाप हट जाते। यदि कोई पूछ बैठा, तो वह क्या उत्तर देंगे ? उनके पास कोई समाधान नहीं था।

आज उसी वस्ट्राल को छोड़ दूर चले आने पर भी वही चेहरे आंखों के आगे आ गये। थोड़ा अन्यमनस्क हो उठे। गुरु के कंठस्वर ने अचानक चौंका दिया। मेज महाशय कह रहे थे, "तुम्हारी बात से जितना कुछ समझा हूं, वहां जो सब धंधे तुम सिखाते हो, उनमें प्रेस और बुक बाईंडिंग यही दो काम भले घर के लड़कों को लगाने लायक हैं। इसके अलावा ये काम मोटे तौर पर सीखने में उन्हें ज्यादा समय भी नहीं लगता। सीख जाने पर मोटा भात और कपड़ों की व्यवस्था हो सकती है। क्यों ?"

आशुबाबू सिर हिला कर बोले, "वस्ट्राल से निकलने के बाद अनेक लड़के मुझे चिट्ठी लिखते हैं। आपके कहने के बाद मैंने भी जितना हो सका, उनके साथ संबंध रखा है। उससे देखता हूं इन दो सेक्शनों में जो थे, उनमें से एक-दो छोटे-मोटे प्रेसों में घुस सके हैं। बाकी 'कमान' के लड़के कहीं ठिकाना नहीं पाते।"

"कैसे पायेंगे ? वहां से जो विद्या वे लेकर गये हैं, उससे कुछ नहीं होता। जाने दो, तुम एक काम करो। कलकत्ते जाकर 'बोई पाड़ा' के आस-पास कम भाड़े पर एक मकान लो और एक छोटा प्रेस खोल के उसके साथ किताबों की जिल्दसाजी का काम शुरू कर दो। एक दो ट्रेंड आदमी भी रख लो। फिर जितने जुटा सको, पुराने मुव-क्किल ले आओ। बंदरों के लिए एक ठिकाना तो बने।"

आशुबाबू चुपचाप विस्मय से मुंह ताकते रहे। वस्ट्राल के संबंध में गुरु के साथ कुछ दिन से ही उनकी तरह-तरह की बातें चल रही थीं। किंतु इस प्रकार की एक परिकल्पना उन्होंने मन-ही-मन निश्चित कर ली है, इसका अनुमान तक नहीं लगा सके थे। शिष्य की अभिभूत दृष्टि की ओर देख मेज बोले, "क्या सोच रहे हो ? नहीं कर सकोगे ?"

"जी; आपका आशीर्वाद होने पर क्यों नहीं कर सकूंगा ? सोच रहा हूं...."

"रुपये कहां से आयेंगे ? इसके लिए काम रुकेगा नहीं। आज तक तुमने भी तो कम रुपये नहीं दिये हैं।"

आशुबाबू प्रतिवादस्वरूप विनयपूर्वक कुछ कहने जा रहे थे, तभी मधुपा मुहल्ले से कोआपरेटिव बैंक के कई मेम्बर सोरगुल करते-करते आ पहुंचे। मेज बोले, "आगे बात नहीं हो सकेगी। इस संबंध में जितनी जानकारी लेने की जरूरत से

नौ

जिन्हें 'जेंटरी' और 'मिडिलक्लास' में गिना जाता है (वित्त की दृष्टि से प्रायः जो 'मध्य' से 'निम्न' की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं) उन्हें नौकरी नामक परम वस्तु सदा दुर्लभ रहती है। उस बाजार में विद्या-बुद्धि का जोर कितना भी हो, सबसे मूलधन 'मामा का जोर' है। विशेषकर अंग्रेजों के जमाने में व्यावसायिक कार्यालयों में यह अपरिहार्य था। विजन बनर्जी का यह संबल शुरू से ही मजबूत था। बाप रेल कंपनी के क्लेम्स ऑफिस में घुसे थे और अधिकारियों का खूंटा पकड़ कर काफी ऊंचे भी उठ गये थे। तीस वर्ष बाद जब निकले, तब उनके हाथ में प्राविडेंट फंड की मोटी रकम से भी ज्यादा संचित थी कई दम-खम वाले 'ऊपर वालों' की कृपा दृष्टि। उसी जोर पर बड़े और मंझले दो लड़कों की पक्की व्यवस्था अपने जीवित रहते ही कर दी थी और तृतीय अर्थात् विजन की 'बर्थ' भी रिजर्व करके रख गये थे। प्रतीक्षा सिर्फ उसकी बी० ए० की डिग्री की थी। यथा समय उसे प्राप्त कर चुकने पर जब माँ और भाइयों की ओर से ताकीद आई, तब विजन बोल बैठा, 'एम० ए० पढ़ूंगा'। भाइयों ने समझाया, 'उससे कुछ लाभ नहीं। बस दो वर्ष और उसके साथ ही दो 'इंक्रीमेंटों' से हाथ धोना है। क्योंकि रेल के साहब लोग 'बैचलर' और 'मास्टर' में फर्क ठीक से नहीं जानते हैं।'' इस पर भी विजन अपनी बात पर अटल रहा।

एम० ए० का परीक्षा फल निकलते ही फिर जब वही पुरानी बात उसे याद दिलायी गयी, तब विजन 'रिक्त स्थान' का विज्ञापन देख-देख, चुस्त अंग्रेजी में दरख्वास्त का मसविदा लिखने में व्यस्त था। सिर न उठा कर सीधा जवाब दे दिया, "रेल की नौकरी नहीं करूंगा।" सारे परिवार के मुख पर सिर्फ विस्मय ही नहीं था, उसके साथ शोक की छाया भी उतर आई थी। सभी ने एक वाक्य में ही राय दी थी—'इस लड़के के भाग्य में दुःख है। ऐसा न होने पर हाथ की लक्ष्मी पैर से ठेल कर कौन मृग-मरीचिका के पीछे भागता है? इस बाजार में एम० ए० पास की कीमत क्या है? एक सौ पचास रुपये की मास्टरी भी नहीं जुटती।' बात झूठ नहीं थी। फिर भी विजन ने उलटे प्रश्न किया था, "रेलवे के क्लर्क का वेतन भी तो ३० रुपये है?"

'ओ हो, वेतन ही तो सब कुछ नहीं होता,'' कह कर बड़े भाई ने एक सुस्पष्ट संकेत किया। प्रकट में बोले, "इसके अलावा भविष्य की संभावनाएं भी नहीं देखना है क्या?"

"यह नौकरी मुझे अच्छी नहीं लगती।" विजन ने तर्क के रास्ते पर और आगे न जा कर यहीं दृढ़ हाथ से विराम लगा दिया था।

एक-सवा वर्ष तक कई दस्ते दरख्वास्तें भेजने के बाद सी० पी० अर्थात् मध्य भारत के प्रख्यात शहर से जवाब मिला। नया कालेज खुला था, उसे लाजिक का एक

अध्यापक चाहिए था। दर्शन शास्त्र में द्वितीय श्रेणी में प्रथम नाम विजन वनजा का था। सौ रुपये के वेतन पर उसे चुन लिया गया। घर में सभी ने विरोध किया। माँ बोली, "रेलवे की नौकरी नहीं करना चाहता, मत कर। इसके लिए इतनी दूर क्यों जाना चाहता है?"

"ग्रासपास में कोई मिल जो नहीं रही है।"

"ग्राज नहीं तो कल मिलेगी। पानी में तो पड़ा नहीं है।"

विजन ने उस अनिश्चय की अपेक्षा में बैठा रहना उचित नहीं समझा। पैसे का अभाव भले ही न हो, फिर भी बेकार जीवन में कैसा एक असम्मान है, जिसकी सूक्ष्म धार उठते-बैठते लगती है, विशेषकर जिस परिवार में ग्रौर दो जन काम कर रहे हों। इससे भी बड़ा एक ग्रौर कारण था, जो किसी से कहा नहीं जा सकता।

निर्मला उसके जीवन में विगत हो जाने पर भी एकदम से नहीं चली गई थी। ग्राँखें बंद करते ही लगता ग्राज भी वह विह्वल अंतर की गहराई में बैठी है। ग्रानंद के रंग में रंगीन, वेदना के रक्त में रंजित। जिस स्वप्न की माया-माधुरी लेकर वह ग्राई थी, जिस वास्तविकता का कठोर ग्राघात देकर चली गई थी, उसमें से कोई भी प्रभाव मिट नहीं सका था। एक ग्रोर दो प्रसन्न नयनों का स्निग्ध प्रकाश था, दूसरी ग्रोर रुष्ट चक्षुग्रों की विपाक्त ग्राग ग्रासपास छाई रहती उसकी ग्राँखों के ग्रागे। किसी को भी भुला नहीं पा रहा था, भूलने की इच्छा भी नहीं थी। फिर भी भूलना तो पड़ेगा ही। जो द्वार सदा के लिए बंद हो गया है, बार-बार उस पर दस्तक देने से क्या लाभ? उसका जो टूट गया है, उसे फिर जोड़ा नहीं जा सकता, उसके एक क्षीण सूत्र को जीवित रखना सिर्फ विडंबना है। किंतु लोभी अंतर पर उसे विश्वास नहीं था। इसलिए खुद को बहुत दूर ऐसी जगह ले जाकर फेंकना होगा, जहाँ से इच्छा होते ही दौड़कर न ग्राया जा सके। निकटता में जो उज्ज्वल ग्रौर ग्रम्लान है, दूरत्व की दिगंत रेखा में उसे एक दिन धूमिल हो कर मिट जाने दे, यही उसकी एकमात्र कामना थी।

शाम की गाड़ी थी। तीसरे पहर विमला देवर के कमरे में ग्राकर सूटकेस में कपड़े सजाने लगी। थोड़ी दूर बैठा विजन एक मित्र को पत्र लिख रहा था। विमला स्वर में थोड़ा रोष लाकर बोली, "सौ बार कहा था, इससे बड़े साइज की लाग्रो। 'नहीं, इतना ही ठीक रहेगा।' हुग्रा ना? गरीब की बात बासी होने पर फलती है। ग्रब क्या उपाय करूँ, बतलाग्रो?"

विजन मुख उठाये बिना विज्ञ की भाँति गंभीर भाव से बोला, "उपाय बहुत सरल है।"

"जैसे?" विमला ने कौतुक के स्वर में पूछा।

"जो अंदर नहीं समाता, उसे रहने दो, बस।"

"वाह, वाह, वाह। इसी बुद्धि को लेकर संसार चलाग्रोगे?"

"संसार करने जा रहा हूँ ?" मृदु हँसी से विजन बोला।

"और फिर क्या ? माँ, भाई, भाभी—इन्हें लेकर इंसान का काम कब तक चलता है ? नौकरी मिलते ही नये संसार की शुरुआत, नये मनुष्य का···क्या कहते हैं ?···आवाहन।"

"दूसरों के लिए तो शायद यही है, किंतु मेरे लिए ? मेरी बात और कोई भले ही न जाने, तुम तो जानती हो।"

विजन ने शायद कहना नहीं चाहा था, फिर भी उदास स्वर का करुण आभास लेकर बात निकल पड़ी।

विमला ने चकित दृष्टि उठा कर देवर की ओर देखा। चेहरे पर गांभीर्य की छाया झलक उठी, कंठ में वह तरल भाव नहीं रहा। उठ कर आ कर उसकी टेबिल से सट कर खड़ी हो बोली, "जानती हूँ, इसीलिए तुमसे एक बात कहना चाहती हूँ, देवरजी ! तुम्हीं एक दिन किसी प्रसंग में मजाक करके बोले थे, प्रकृति शून्यता नहीं सह सकती। बात सच है। मुझे लगता है मनुष्य के जीवन में यह और भी सच है। शून्यता लेकर जीवित नहीं रहा जा सकता। जो नहीं हुआ, हो नहीं सकता, उसी की आशा लेकर कोई कभी सुखी हो सकता है ?"

"सुखी होना शायद सबके भाग्य में नहीं होता।"

"यह तो औरतों जैसे विचार हैं। नारी यही मान कर खुद को मिथ्या सांत्वना दे भुला कर रखती है। तुम पुरुष हो, तुम्हारे मुंह से यह बात शोभा नहीं देती।"

विजन चुप रह गया। विमला तिक्त स्वर में बोली, "एक को चाहा था, पाया नहीं। इसलिए सारा जीवन क्या कसक-कसक कर काट दोगे ? जीवन से भी बड़ी एक लड़की हो गई ?"

"मंझली बहू !"—दरवाजे के बाहर से सास की पुकार कान में जाते ही विमला ने जवाब दिया, 'आई मांजी।' सिर से आंचल खिसक गया था, उसे जल्दी से ठीक किया। वह कमरे में आकर बोलीं, "विजू का खाना तुम अपने हाथ से रख दो। टिफिनकैरियर की कौन सी कटोरी में क्या रहता है, महाराज उन्हें ठीक से रख नहीं पाएगा।"

"नहीं मां, वह सब मैं ठीक कर दूँगी। अभी देर है।"

"ओह, देख रही हूँ तुम संदूक ठीक कर रही हो। सब देख-भाल कर तो रख दिया है ना ?···सूटकेस तो लगता है छोटा पड़ रहा है, बहू। उसमें क्या सब आयेगा ?"

"नहीं, इसमें अब नहीं समा रहा है। 'उनका' सूटकेस लाये देती हूँ।"

"वही करो। पास तो है नहीं, जो कुछ जरूरत पड़ने पर कोई ला कर

पहुँचा आये।"

विजन ने क्षीण स्वर में प्रतिवाद किया, "इतने सब लटखट उठा कर ले जा कर क्या होगा ? मैं कह रहा हूँ...."

"तुम्हें कुछ कहने की जरूरत नहीं। तुम इसकी बात मत सुनो, बहू। जो-जो जरूरी हो सब दे दो।"

विमला ने सिर हिला कर 'हाँ' कही और सास से अलक्ष्य देवर की ओर देख भ्रू-भंगिमा से कह दिया—"हुआ न!" फिर द्रुत गति से बाहर जाते-जाते बोली, "मैं सूटकेस लेकर आती हूँ।"

माँ बेटे के पास खिसक आईं। सर्वांग पर स्नेहपूर्ण दृष्टि फिरा कर बोलीं, "यहाँ की तरह वहाँ भी तो गरमी की छुट्टियाँ होती हैं ?"

"वह तो शायद होती हैं। वहाँ तो और भी ज्यादा गरमी पड़ती है।"

"छुट्टी होते ही चले आना। जेठ के महीने की सतरह तारीख का एक दिन है। आखिर में वही दिन तय हुआ है।"

विजन ने समझते हुए भी पूछा, "काहे का दिन ?"

माँ ने प्रश्न का जवाब नहीं दिया। जैसे अपने साथ ही बात कर रही हों, ऐसे बोलीं, "इसके बाद तो छुट्टी आते-आते पूजा आ जायगी। आश्विन मास। उसके बाद बड़ा दिन, वह भी पौष मास। फिर....नहीं, इतनी देर नहीं की जा सकती। जितनी जल्दी हो शुभ काम निवटा डालना चाहिए।"

विजन तत्क्षण बोल उठा, "वह सब अभी रहने दो।"

"क्यों ?" माँ के कंठ में विस्मय का स्वर था।

"इस बारे में मैंने अभी तक मन स्थिर नहीं किया है।"

"क्यों, यह संबंध किस तरह से बुरा है ? इतनी सुंदर लड़की है, इतना अच्छा घर है, देगा भी बहुत कुछ। सब तरह से सोच कर ही 'वह' अपने मुँह से वचन दे गये हैं।"

"जानता हूँ। संबंध अच्छा है या बुरा, मैं इस बारे में कुछ नहीं कहता। मेरी आपत्ति तो विवाह ले कर है। मुझसे विवाह करने को न कहो। मैं नहीं कर सकूँगा।"

माँ को सहसा कुछ कहते नहीं बना। 'क्यों'—यह प्रश्न भी नहीं उठा सकीं। विस्मय से क्षोभस्तब्ध हो खड़ी रहीं। कुछ मिनट बाद सूटकेस हाथ में लिए विमला के कमरे में घुसते ही वह खुद को और रोक नहीं सकीं। रुद्ध स्वर में बोल उठीं, "सुना बहू ? सुना क्या कहता है विजू ? मेरे मुंह पर कह दिया, विवाह नहीं करेगा।"

विमला जल्दी से आगे आकर दाएँ हाथ से सास को पकड़, दरवाजे की ओर

ले जाते हुए बोली, "आप उस कमरे में जाइये, मांजी। इतनी उतावली मत होइये। लड़के ऐसा बोलते ही हैं। मैं सुनती हूं क्या कहना चाहते हैं वह।"

मां की आंखों से उसी समय अश्रुधारा बह निकली, बोलीं, "अब क्या सुनोगी तुम? वह हमारा कुछ भी नहीं चाहता। इतनी अच्छी तरह नौकरी ठीक कर गये थे, मंजूर नहीं की। लड़की के बाप को वचन दे गये थे, वह भी नहीं मानता। इसीलिए क्या इतना कष्ट उठा कर, इतना पढ़ा-लिखा कर बड़ा किया!" कहते-कहते दोनों आंखें आंचल से दबाये निकल गयीं।

उस दिन इस प्रसंग पर और कोई बात नहीं हुई। किंतु यात्रा के पहले सभी के मुंह पर जो गंभीर, तमतमाहट का भाव दिखाई दिया, वह सिर्फ विच्छेद की वेदना नहीं, उससे कहीं ज्यादा क्षोभ और निराशा थी। अव्यक्त होने पर भी विजन को वह अस्पष्ट नहीं रहा। गार्डसाहब के गाड़ी छूटने की सीटी बजाते ही विमला खिड़की से मुंह सटा फुसफुसा कर बोली थी, "पत्र में सब लिखूंगी। एक-दो महीने जाने दो, थोड़ा ठीक से जम जाओ। उसके बाद।"

एक के बाद एक कई लंबे पत्रों में विमला ने बहुत कुछ बता दिया। उनमें सबसे ज्यादा जगह घेरे रहतीं मां। दिनों-दिन उनका शरीर टूटता जा रहा है, जो घर-संसार उन्हें प्राण था, उससे एकबारगी ही अलग हट गयी हैं। सारे दिन अपने कमरे में चुप बैठी रहती हैं। लोगों को देख विरक्त हो जाती हैं। किसी के कुछ पूछने जाने पर निर्लिप्त स्वर में कहती हैं—मैं कुछ नहीं जानती। तुम लोग जो ठीक समझो करो—इसी प्रकार के विस्तृत वर्णन पत्रों में रहते। सिर्फ वर्णन करके ही शांत हो जायें, भाभी ऐसी नहीं थीं। इस सब कुछ का मूल आधार वही है और प्रतिकार की चाबी भी उसी के हाथ में है; विमला अपने विशेष ढंग से इस सुस्पष्ट सत्य बात को भी दृढ़ता से प्रकट करती। विजन को अस्वीकार करने का उपाय नहीं था। मां को वह जानता था। विजू उनकी आखिरी उम्र की संतान था। पति उसे पाल-पोस कर बड़ा करके नहीं जा सके, किंतु उसकी सीढ़ी तैयार कर गये थे; लड़के को उसी पर पैर रख-रख आगे बढ़ना होगा, इतना वह जानते थे। वहां वह इतने हेर-फेर बरदाश्त नहीं कर सकते थे। फिर भी लड़के का मुंह देख कर, उन्होंने घेरे के बाहर उसके अनेक पदक्षेप स्वीकार कर लिये थे। उसे एम० ए० पास करने दिया, रेल की नौकरी न कर कॉलेज की नौकरी में घुसने दिया था, घर-बार छोड़ एकदम अकारण ही अकेले-अकेले दूर देश में घर बसाना दुर्बुद्धि है, इसमें भी अंतपर्यंत बाधा नहीं दी। किंतु स्वर्गवासी पति की अंतिम इच्छा और आदेश तथा उनके अपने मन की अंतिम कामना को जान-बूझ कर भी जब वह पैर से ठोकर मार कर चला गया, परलोकवासी पिता के वचन की मर्यादा तक नहीं रखना चाही, तब उस चरम आघात को कलेजे पर सहना उन्हें संभव नहीं हुआ। इतने दिन किसी-न-किसी प्रकार खड़े रह कर अब वह टूट गयीं। उनकी यह

परिणति विजन को अप्रत्याशित नहीं थी। शिशु अवस्था में वह अत्यधिक मातृ-निर्भर रहा। इसलिए दूर रह कर भी उदासीन नहीं रह सका, माँ के बारे में सोच-सोच प्रवास के दिन दुःसह हो उठे।

भाभी ने लिखा था, प्रतिकार उसके हाथ में है। वह भी जानता था। मुँह से सिर्फ एक बात 'मैं राजी हूँ' कहने की देर है। माँ-बाप की मनोनीत और समस्त परिवार की मनोमत पात्री को ग्रहण करते ही सब समस्या मिट जायगी। किंतु ग्रहण करना क्या सिर्फ पाणिग्रहण है? बहुत आडंबर के साथ उत्सव की रात में वरासन पर बैठ संस्कृत में 'ग्रहणामि', 'ग्रहणामि' बोल कर पुरोहित की प्रतिध्वनि कर लेने से ही कहना हो जायगा—'तुम्हें स्वीकार करता हूँ?' अपने दिल को वह जानता है। वहाँ तो कोई तैयारी नहीं है, कोई उत्सव नहीं है! यह बात वह दिल खोल कर किसी से कह भी नहीं सकता। एक निर्दोष, सरल, निरीह लड़की के साथ धोखा करने का उसे क्या अधिकार है?

यह बात उसने विमला को लिखी भी। उत्तर तुरंत आ गया। लिखा था—"देवरजी, तुम बहुत पढ़े-लिखे हो। तुम्हें उपदेश देना मुझे शोभा नहीं देता। मेरी विद्या की सीमा तो जानते हो। मुहल्ले की लाइब्रेरी के कुछ बंगला नाटक-नॉविल तक है। याद आ रहा है, उन्हीं में से किसी एक में पढ़ा था। मनुष्य का मन नदी के स्रोत के समान होता है। जीवन के छोटे-बड़े सुख-दुःख नौका की भाँति इस पर तैरते जाते हैं। कोई द्रुत गति से, कोई मंथर गति से। उसी में एक-दो नौकाएँ शायद कुछ दिन के लिए लंगर डालती हैं। किंतु रहता कोई नहीं। पुराना जाता है, नया आता है। स्रोत किसी को पकड़ कर रोकता नहीं। तुम्हारे मन में जो लंगर डाले बैठा है, लगता है अब हटेगा नहीं, पर वह भी दो दिन बाद बह कर चला जायगा। जो आ रहा है उसे जगह देनी होगी। यही नियम है। मैं तुमसे अनेक विषय में छोटी होने पर भी, उम्र में बड़ी हूँ, अनुभव में बड़ी हूँ। यह मेरी सिर्फ उपन्यास पढ़ी विद्या नहीं है, अपनी आंखों से देखा है। मेरी इस बात पर ध्यान देना, भाई।

"सुरमा के लिए भी तुम्हें कोई चिंता नहीं करनी है। वह आ कर अपना पावना ठीक समझ कर ले लेगी। उसके लिए उसे यदि दो दिन अपेक्षा करनी होगी, तो करेगी। लड़कियाँ सब कुछ के लिए ही तैयार होकर आती हैं। तुम्हारा मन इस समय 'विमुख' है इसलिए तुम डर रहे हो। विमुख को उन्मुख करने की चेष्टा ही तो नारी की साधना है। उदासीन को उत्सुक बना लेना ही उसका व्रत है। उमा की कथा नहीं पढ़ी? देवाधिदेव के समान श्मशानचारी वैरागी ने भी उससे हार मान ली थी। तुम क्या शिव से भी बढ़ कर असाध्य हो? याद रखो, सब लड़कियों में ही उमा है। सुरमा भी एक दिन जयी होगी।"

सबसे अंत में थी सबसे जरूरी बात—"माँ की अवस्था दिन-दिन खराब होती

जा रही है। और देरी करने पर शायद उन्हें हम खो देंगे। यह दुःख क्या सह पाओगे? माघ के शुरू में ही दिन है, तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में हम उत्कंठित हो दिन गिनेंगे।"

उसके बाद उस समवेत उत्कंठा का निवारण करने के अलावा विजन के सामने और कोई उपाय न रहा। माघ के शुरू में ही जो दिन थे, उसी में एक शुभ लग्न में सब की इच्छा को मान कर सुरमा को उसने ग्रहण किया था। माँ में जैसे फिर नया जीवन लौट आया था। बहुत धूमधाम से, सब की सब साधें मिटा कर, प्रायः सब कुछ लुटा कर छोटे बेटे का विवाह किया। सभी को एक-एक कर बुला के बोली थीं, "यह मेरा आखिरी काज है; बोलो तुम्हारी क्या इच्छा है।" किसी ने चाहा गढ़ का बैंड रहे और किसी ने कई जोड़ी बैंड बुलाये जाने की बात कही, तो किसी ने बाई जी का नाच कराये जाने की फरमाइश की। उन्होंने कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रखी।

लग्न शुभ होने से ही क्या उसका फल शुभ होता है? सब समय नहीं होता। मंगल अनुष्ठान के समाप्ति-पर्व में मंगल का आविर्भाव होगा ही, यह बात जोर दे कर नहीं कही जा सकती। विजन के जीवन में भी नहीं घटा। मांगलिक कार्य समाप्त होते-न-होते उसके लक्षण दिखाई दिये।

पुष्प शय्या के दो दिन बाद। अब तक सुरमा के साथ उसकी एक बात भी नहीं हुई थी। सुहाग रात की निर्जन शय्या में अवसर नहीं मिला, यह बात नहीं, किन्तु कैसे एक संकोच ने आ कर जैसे मुंह बांध दिया था। शायद सिर्फ संकोच ही नहीं, उसके साथ कुछ अपराध बोध भी था—'जगह नहीं है जान कर भी क्यों उसे ले आया।' उससे अगली रात में फिर भेंट हुई, जब एक ही चिंता भाव से उसका मन जकड़ा हुआ था—यह फूल जैसी लड़की अन्य किसी के साथ बंधने पर सुखी हो सकती थी। मैं क्यों इसके रास्ते में आ खड़ा हुआ? वह खुद को बहुत छोटा, बहुत स्वार्थी दिखाई पड़ने लगा। प्राणपण से चेष्टा कर, सारे सोच को झटक कर, सहज-भाव से दो बातें करनी चाहीं, हर बार कोशिश बेकार रही। प्रहर-पर-प्रहर बीतते गये। विस्तीर्ण शय्या के एक ओर उसकी सहधर्मिणी, शोभा-सज्जा में नवोढ़ा पत्नी सिकुड़ी-सिमटी करवट लिए सोती रही। एक बार भी उसके कोमल हाथ का स्पर्श नहीं कर सका, पास बुला कर नहीं कह सका, सुनो। फिर न जाने कब गहरे अवसाद के भार से पलकें झपक गयीं। सुबह नींद टूटते ही आंख खोलकर देखा, पलंग सूना था। सुरमा कहीं गयी। कमरे के एक कोने में दरी पर कंबल ओढ़े एक कपड़ों की गठरी-सी पड़ी थी। विजन के पलंग पर उठ कर बैठते ही, वह भी हड़बड़ा कर उठी और किसी ओर देखे बना त्रस्त-सी बाहर चली गयी।

उस रात जोड़े के साथ ससुराल जाने के बाद का दूसरा दिन था।

निश्चय कर लिया, आज जैसे भी होगा, दुर्बलता छोड़ना ही होगा। जो हो गया है, स्वेच्छा से हुआ चाहे वाध्य हो कर, जिस सत्य को मान लिया है, उसके सामने खड़े होने का सद्साहस उसे जुटाना ही होगा। जिसे पत्नी मान कर ग्रहण किया है, उसे यदि उसके योग्य आसन न दे सका, तो यह अपराध भी कम नहीं। भाभी ने कहा था, लड़कियाँ सब कुछ के लिए तैयार हो कर आती हैं। शायद यही ठीक हो। फिर भी पुरुष को ही अग्रणी हो कर आवाहन करना होता है। इस संकल्प को ले कर वह शयन कक्ष में पहुँचा। कुछ क्षण वाद ही सुरमा आई और पति के कुछ बोलने से पहले ही निस्संकोच पग रखती पास आ कर अपना तकिया उठा सहजभाव से बोली, "आप सो जाइये। मैं नीचे सो जाऊँगी।"

विजन ने विस्मय से पूछा, "क्यों?"

सुरमा ने तुरंत जवाव नहीं दिया। कुछ क्षण फर्श की ओर देखते रह कर मृदु स्वर में कहा, "आपको असुविधा होगी, इसीलिए।"

"असुविधा होगी! किसने कहा?"

"मैं जानती हूँ। इस विवाह में आपकी सहमति नहीं थी। आपके पिताजी मेरे पिताजी को वचन दे चुके थे, उसे रखने के लिए ही वाध्य हो कर आपको विवाह करना पड़ा।"

विजन स्तब्ध हो देखता रहा। अस्वीकार करने का उपाय नहीं था। फिर भी, विवाह का उत्सव समाप्त होते-न-होते सद्य-परिणीता पत्नी के मुंह से यह वात सुनने को मिलेगी, उसे कल्पना तक नहीं थी। सुरमा एक पलक उसकी ओर देख कर बोली, "आपकी माँ और भाई-भाभियों ने वहुत मुश्किल से आपको राजी किया, यह भी मैं जानती हूँ।"

कल्पना के साथ वास्तविकता का कितना निर्मम विरोध होता है। कौन सी प्रत्याशा ले वह आज कमरे में आया था, और उसे क्या सुनने को मिला। आशा-भंग के इस कठोर आघात से विजन का मन विपाक्त हो उठा। सुरमा के वारे में सोच कर भी नहीं देखा। तिक्त स्वर में वोला, "यह जान कर भी तुम क्यों राजी हो गईं? कह सकती थीं कि यह विवाह मैं नहीं करूँगी।"

"मैं!" दो विस्फारित दीप्त चक्षु पति की आँखों पर टिका कर सुरमा बोली, "आप पुरुष हो कर जो नहीं कह सके, मैं लड़की हो कर यह कहती! सुनता कौन मेरी वात?"

सुरमा ने ठीक ही कहा। कोई नहीं सुनता। उसे ही उलटे वहुत सी वातें सुननी पड़तीं। सभी छीः छीः करते, निर्लज्ज-वेहया कह कर अभिभावक उसका तिरस्कार करते। 'यह सव नाटक-उपन्यास पढ़ने का फल है'—कह कर व्यंगोक्ति करता पड़ोसिन वृद्धाओं का दल। तरुणियाँ मुंह दवा कर हँसतीं। जिस परिवार में

उसका जन्म हुआ है, जिस समाज में जिन सब आत्मीय स्वजनों के घेरे में वह पली है, वहां एक अविवाहित लड़की के मुंह से इतनी बड़ी स्पर्द्धा की बात सुनने के लिए कोई तैयार नहीं था। विवाह क्या लड़की करती है? उसका विवाह तो कराया जाता है। वह तो सिर्फ दत्ता है, सिर्फ तृतीय पक्ष।

विजन भी उसी समाज में, उसी परिवेश में पला है। इसलिए उसका प्रश्न नितांत अर्थहीन है, सहज में ही समझ गया और उत्तर में जो विस्मय था, उससे तनिक भी विस्मित नहीं हुआ। उत्तर में सिर्फ विस्मय ही नहीं था, उसके साथ जड़ित एक प्रच्छन्न तिरस्कार तीक्ष्ण बाण की भांति उसके कलेजे में आ कर लगा। कहने लायक और कोई बात नहीं खोज सका। सुरमा और भी एक कदम आगे बढ़ी। हाथ के तकिए की ओर देख, जैसे अन्य कोई विषय ले कर बात कर रही हो और जिसमें वह शामिल नहीं है, ऐसे निर्लिप्त स्वर में वह बोली, "आप जिस कारण विवाह नहीं करना चाहते थे, वह भी मैं जानती हूं। सब सुन चुकी हूं।"

"क्या जानती हो? क्या सुना है तुमने?" बिजली के स्पर्श से जिस प्रकार कोई चौंक कर चीख उठता है, वैसा ही एक त्रस्त स्वर विजन के कंठ से निकल पड़ा।

"जाने दीजिए, यह बात आपको अच्छी नहीं लगेगी।" शांत स्वर में यही दो बात बोल सुरमा दीवाल के पास कंबल बिछा कर उस पर तकिया रख लेट गई। शायद थोड़ी देर सो भी ली। किंतु विजन एक बार भी आंख नहीं झपका सका। अनेक बार मन में आया, अभी उठ कर जाय और उसे जगा कर हाथ पकड़ अपने पास बिठा ले और कहे, "तुम्हारे सब आरोप मैं निष्कपट मन से स्वीकार लेता हूं, सुरमा। किंतु तुम्हारे और मेरे बीच जो बाधा खड़ी है, वह अलंघ्य नहीं है। उसे मैं जीत लूंगा। इसके लिए मैं तुमसे कुछ दिन का समय चाहता हूं।"

यह बात अगर वह मुंह खोल कर कह सकता तो सुरमा शायद मुंह मोड़े न रहती। कैशोर्य में कदम रखते ही वह सुनती आ रही थी कि वह विजन के साथ वाग्दत्ता है। दूर से उसे अनेक बार देखा भी था। ऐसे प्रियदर्शन-स्वस्थ-उज्ज्वल युवक के पास खुद को बिठा कर वर्ष के बाद वर्ष मन-ही-मन कितने ही मधुर स्वप्नों की रचना भी की थी। उसके कल्पित स्पर्श की सिहरन सर्वांग में अनुभव करती। फिर नाना काना-फूसियों में कहीं से एक काला मेघ आ कर उस नित्य प्रतीक्षित मिलन-आकाश के एक कोने पर छा गया। मां से ले कर बहुत पुरानी नौकरानी शारदा तक के मुंह पर उसकी छाया थी। शंका और वेदना के साथ ही एक अर्थहीन रोष से सुरमा का भीरु हृदय भर उठा। विजन उसे नहीं चाहता, उसका मन किसी और से बंधा है—ये बातें नाना सूत्रों से पल्लवित हो कर उसके कानों में पहुंचने लगीं। उसमें एक ओर व्यर्थता की वेदना थी और दूसरी ओर अपमान की लज्जा। सब की आंखों की ओट, अपने कमरे के एकांत कोने के अलावा उसका कोई आश्रय नहीं रहा।

फिर एक दिन उनका बोझिल घर अचानक जैसे जादू मंत्र से जाग उठा। बहन-भाभी और सखियों ने उसे उस कोने से खींच ला कर हास-परिहास, हँसी-मजाक से बेहाल कर डाला। उस कलरव में आसन्न उत्सव का आयोजन शुरू हुआ। मेघ छँट गया। सब के साथ सुरमा के मन में भी उसी आश्वासन का आनंद था। बाजे-गाजे के साथ बरात में वर की गाड़ी जब उनके दरवाजे पर आ कर रुकी, तब सुरमा के शृंगार का दौर बीच में था। कंघा, चंदन, माला, काजल छोड़ लड़कियां एक छलांग में वायु की गति से पलक झपकते गायब हो गयीं। सुरमा की भी इच्छा क्या नहीं हुई थी कि वह भी उनके समान किसी एक खिड़की की आड़ से कितनी ही बार देखे-पहचाने मुख को आज फिर नई दृष्टि से जा कर देख आये? किंतु लाज ने आ कर उसके दोनों पैर पकड़ लिये। लड़कियाँ लौट कर आ कर बोला-बोली कर रही थीं—कैसा तबले जैसा मुंह वाला वर है। सुरमा चौंक उठी थी। यह क्या! वह तो जिसे देखती थी, उसका मुँह तो सदा हास्य-उज्ज्वल था। फिर खुद को ही समझाया था, लड़कियां क्या जानें! विवाह करने आ कर कोई वह क्या गाड़ी से हंसते-हँसते उतरता है। चारों ओर तो सब गुरुजन रहते हैं ना? किंतु जहाँ गुरुजन नहीं, कोई नहीं, सिर्फ दोनों जन अकेले हैं, वहाँ जब मिलन हुआ, कीमती बनारसी साड़ी के आधे घूंघट की ओट से जब दो भीरु आँखें अलक्ष्य में पति के चेहरे पर डालीं, तब वह फिर कोई कैफियत या सांत्वना दे कर अपने को नहीं समझा सकी। उसके बाद रात व्यर्थ की उपेक्षा में काट सुरमा निश्चय रूप से समझ गई, 'नहीं, मेघ छँटा नहीं है।' यही नहीं, अपने नव-निर्मित यात्रा पथ पर जितनी दूर तक दृष्टि गई, वह पथ मेघाच्छादित ही दिखाई दिया।

बाद का इतिहास दीर्घ होने पर भी घटनाबहुल नहीं है। छुट्टी समाप्त हो जाने का कारण बता कर बिजन शायद उस समय के एक आसन्न संकट से निस्तार पा गया था। सोचा था, आखिर भाग कर भाराक्रांत मन को थोड़ा हल्का होने का अवसर देना जरूरी है। सुरमा की उन दो निरुत्ताप आँखों को वह सह नहीं पा रहा था। इससे तो वह अगर तीव्र भाषा में शिकायत करती, रसना में या आँखों में विष-ज्वाला भड़का उस पर आक्रमण करती, तो बिजन को वही बहुत सहज और सुसह्य होता। उसने इसी की प्रत्याशा की थी। किंतु सुरमा उस पथ पर नहीं गई। शायद सोचा हो, पावना जब शून्य है, यहाँ न मिलने पर रोष प्रकट करना हास्यास्पद होगा। न पाने में वेदना है, उसे सहा जा सकता है। किंतु तिरस्कार में अपमान है। इच्छा कर के, हाथ बढ़ा कर कौन उसे सिर पर लेना चाहता है?

विमला ने शायद ठीक ही कहा था। लड़कियाँ जब भी पति के संसार में आती हैं, बहुत कुछ के लिए तैयार हो कर आती हैं। वैसे ही यह बात भी सच है, प्रथम पावना दे कर ही वे भविष्य में पाने और न पाने का हिसाब करती हैं। इस दिन का रूप उनके जीवन में अक्षय है। पुरुष जिसे पाता है, उसे वह सारे जीवन में धीरे-धीरे

पहचानता है। किंतु नारी जिसके हाथ में प्रथम बार हाथ रखती है, उसे वह एक ही स्पर्श में समझ जाती है; शुभ दृष्टि की ग्राड़ में या घर के कोलाहल में एकमात्र दृष्टि डाल कर ही। भूल नहीं होती, यह बात नहीं। लेकिन वह भूल सहज में नहीं छोड़ती। सारे जीवन में उसे उसका मूल्य कई बार चुकाना पड़ता है।

सुरमा ने अपने पति के संबंध में भूल नहीं की। फिर भी सब जानते हुए, दिल से न सही, प्रकट में घटना-प्रवाह को स्वीकार कर लिया। अपने को समझाया, मनुष्य के जीवन में जो कुछ घटता है, वह सब क्या उसके मनोनुकूल ही होता है? ज्यादातर नहीं होता। अनेक घटनाएँ दुर्घटनाएँ होती हैं। फिर भी वह सत्य, 'नहीं मानता' कहने से ही झूठ नहीं हो जाता। अस्वीकारने पर भी उससे मुक्ति नहीं होती। इसलिए जो घट गया है उसी के प्रवाह में खुद को छोड़ दे। जिस परिवार में, जिस परिवेश में वह पली, जहाँ पा कर वह बड़ी हुई, वहाँ मामूली पढ़ी-लिखी साधारण लड़की के सामने इसके अलावा और कौन सा रास्ता है? मन? कोई नहीं देखता। संसार बड़ा निर्मम है। वह अपने मन से अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है। किसी का मन रखना उसका काम नहीं। वह अलक्ष्य वस्तु कहाँ, किस पहिए के नीचे पिस-टूट गई है, यह देखने से उसे नहीं चलता।

विवाह के दो माह बाद सास एक दिन बोलीं, "बहूरानी, अगले रविवार को विमान तुम्हें विजू के पास पहुँचा आयगा। उसे आने को लिखा था। कहता है छुट्टी नहीं मिलती।"

सुरमा चुपचाप सिर झुकाए खड़ी रही, जैसे खड़ा रहना होता है—नवविवाहिता वधू सास के मुख से इस प्रकार के प्रस्ताव को सुन कर जैसे रहती है। सास सोचने लगीं, अपने समय में वह क्या करतीं। लाज से सिमट कर धरती में समा जातीं, नहीं तो भाग खड़ी होतीं। किंतु युग बदल गया है। ये इनमें लज्जित नहीं होतीं। जाने के लिए दोनों पैरों से तैयार रहती हैं। इसके अलावा बड़ी उम्र की लड़की ठहरी, विवाह की रात से ही पति को समझना सीख जाती है। उनके समय की कोई छोटी बहू नो होती नहीं। कहना अपना कर्त्तव्य समझ कर ही बोलीं, "अभी-अभी तो आई हो। सोचा था, दो दिन तुम्हें ले कर आमोद-आह्लाद करूँगी। सभी की यह इच्छा है। सबसे छोटी तुम हो। पर उधर विजू अकेला है। अनजान जगह में कोई मनपसंद रसोइया तक नहीं मिलता। मिल जाने पर भी काम उससे कौन ले। तुम्हारे न जाने से उसे कष्ट होगा।"

थोड़ा रुक कर स्निग्ध कंठ से बोलीं, "अपना घर-संसार समझ लो। तुम लोग सुखी रहो, यही मेरी सबसे बड़ी साध है।"

सास और उसके साथ ही श्वसुर तथा पितृकुल की सामूहिक साध पूरी करने के लिए ही जैसे सुरमा शुभ दिन में अपने जेठ के साथ यात्रा करके पति के कर्मस्थल पर जा पहुँची। अपने मन को नहीं देखा। वहाँ कोई उमंग या आकांक्षा था या नहीं इस प्रश्न को एकदम अनावश्यक समझ एक ओर ठेल दिया। जाना है, इसलिए आयगी!

घटना की गति के साथ कदम बढ़ाते चलो। इससे अधिक और कुछ सोचना नहीं, करना नहीं था।

दो जन का संसार शुरू हुआ। विजन के प्रायः सभी सहकर्मी उम्र में बड़े थे। सब के घर में दो-चार लड़के-लड़कियाँ और आनुषंगिक झंझट और विशृंखलता थी। वे मिलने आते, कभी अकेले, कभी जोड़े से। सुरमा हँसमुख भाव से उनका स्वागत करती, सत्तू और समय के अनुसार चाय, फल, शरबत, अपने हाथ से बनाई एक-दो मिठाई दे कर अतिथियों का आदर करती। हास-परिहास में योग देती। छोटे घर के हर कोने को वे खोज-खोज कर देखते। कहीं कोई त्रुटि नहीं। सब स्वच्छ और परिपाटी से सज्जित। प्रत्येक वस्तु की साज-सँवार के ढंग में गृहस्वामिनी के सयत्न निपुण हाथों का स्पर्श था। सभी के मुख पर उच्छ्वसित प्रशंसा रहती। "ठीक जैसे दो कपोत-कपोती हों, ह्वाट ए लविंग पेअर।" 'आपको देख कर ईर्ष्या होती है,' इत्यादि। वे भी इस-उस घर घूमने जाते। एक दिन सुरमा शायद साधारण साड़ी पहन कर तैयार हुई थी। विजन ने देख कर कहा, "यह क्यों, कोई अच्छी सी साड़ी पहन लो न?" सुरमा ने बात नही काटी। वह जा कर कपड़े बदल आई। 'यही ठीक है, कहने का उदासीनता का भाव भी नहीं और पति की इच्छानुसार नूतन साज सजने का आग्रह भी नहीं था।

काम-काज की भीड़ और लोगों, बन्धु-बांधवों के साहचर्य में दिन बीतते जा रहे थे। रात आ रही है, सोचते ही एक अकथनीय शंका से विजन का कलेजा भर उठता। वहाँ दोनों के बीच कोई अंतराल नहीं था। सुरमा में वही निस्पृह-निर्विकार भाव बना हुआ था। अत्यंत निकटता में भी वह कितनी दूर है, रात की नीरवता में इसी कठोर सत्य को निर्ममता से पकड़े रहती। वे एक टेबिल पर एक साथ बैठ कर खाते, (इस बारे में उसका अपना विचार कुछ भी हो, सुरमा ने पति की इच्छा मान ली थी) खाने के बाद बरामदे में पास-पास बैठ कर बातें करते, साधारण सांसारिक बातें—जिनमें सुरमा का स्थान प्रधानतया श्रोता का होता; फिर रात बढ़ जाने पर एक ही पलंग पर लेटते ही सो जाते। फिर भी विजन के मन में आता, उसके एकदम निकट जो लड़की सो रही है, उसे स्पर्श किया जा सकता है; उस पर स्वामित्व की सारी इच्छा और अधिकार का अनायास ही प्रयोग किया जा सकता है; किंतु उस तक पहुँच नहीं हो सकती। बीच का यह व्यवधान सामान्य होने पर भी अलंघ्य था।

इस पर भी शिकायत के लायक कहीं कुछ नहीं था। सुरमा आदर्श गृहणी थी। सब ओर उसकी प्रखर दृष्टि रहती। खाना-वाना, साज-सज्जा, यत्न-परिचर्या सब त्रुटि-हीन था। जिसकी जब जरूरत हो, हाथ के पास रहता। इसे ले जाओ, वह कहाँ है—कहने का अवसर ही नहीं था। सारे काम आलस्यहीन रह कर प्रतिदिन निपटाती रहती। क्लांति नहीं, विरक्ति नहीं, सिर में दर्द के होने पर भी दो मिनट का विश्राम

नहीं। विजन यदि कभी कहता, "इतना खटने की क्या जरूरत है ? नौकरानी है, नौकर है।" सुरमा कोई जवाब नहीं देती, जो करना है करती जाती। कभी संक्षेप में कह देती, 'वे लोग दूसरा काम करते हैं।' संसार की वही यांत्रिक शृंखला, गृहस्वामिनी की यह त्रुटिहीन निपुणता विजन को उठते-बैठते पीड़ा देती। सुरमा को देख कर लगता, जैसे वह एक सचल पुतली हो, अन्दर प्राण नहीं, संचालन के लिए स्प्रिंग लगी हो। उसी के जोर पर चलती-फिरती है। और विजन अनुभव करता, सतत स्वच्छंदता और पूर्ण आराम से जहाँ वह दिन बीत रहा है, वह उसका घर नहीं, सुसंचालित होटल है और यह महिला जिसे वह अपनी पत्नी के रूप में देखता है, उस होटल की सुदक्ष मैनेजर है। इससे अधिक और कुछ नहीं।

'इससे अधिक और कुछ' की वह आशा नहीं कर सकता, यह बात विजन से अधिक और कौन जानता था ? जानने पर भी इसका प्रतिकार कैसे हो, यह तो नहीं जानता। बीच-बीच में लगता, इस तरह से और नहीं चलेगा, एक बार खुल कर बात होना जरूरी है। फिर अगर अलग रहना पड़े तो वही रास्ता चुन लेगा। सुरमा को समझा कर कहेगा, तुम्हें मैं सुखी नहीं कर सका, यह मेरा परम दुर्भाग्य है। लेकिन तुम्हारी इच्छाएँ मैं यथासम्भव मान कर चलूंगा। तुम्हारा जहाँ रहने को मन हो, मेरी माँ के पास या अपनी माँ के पास, वहाँ जाकर रहो। किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। तुम्हारा सारा भार, सारा दायित्व मेरा ही है।

मन-ही-मन यह संकल्प ले कितने ही दिन कॉलेज से लौटा, किंतु सुरमा की उन निर्विकार-निरपेक्ष आँखों के सामने खड़ा होकर कुछ भी बोल नहीं सका। उसके घर लौटते ही सुरमा व्यस्त हो जाती। फिर यंत्र की भाँति एक के बाद एक नित्य निर्धारित काम-काज करती रहती। विजन को कैसा एक मोह जागता। जो बात कहने का विचार लेकर आता, उसके बदले बोलता, "घूमने चलोगी सुरमा ?"

"मेरा तो अभी तक काम नहीं निपटा है," सुरमा दीप्तिहीन क्लांत आँखें पति की ओर उठा कर क्षीण स्वर में कहती।

"काम बाद में होगा। चलो, घूम आयें।"

सुरमा और कुछ नहीं कहती। चुपचाप धीरे कदमों कमरे में जाकर थोड़ा-बहुत अच्छे कपड़े पहन आ खड़ी होती। रास्ते में आकर विजन पूछता, "किधर चलना चाहती हो ?"

वही निस्पृह उत्तर—"जिधर चाहें चलिए।"

"अच्छा चलो, इस पहाड़ पर चढ़ा जाय। चढ़ तो सकोगी ?"

सुरमा सिर हिला कर जताती, "चढ़ सकूंगी।"

कुछ देर चुपचाप चलने के बाद विजन मत बदल देता, "नहीं, पहाड़ पर चढ़ने जाकर लौटने में रात हो जायगी। इससे तो चलो, प्रोफेसर शुक्ल के घर चला जाय।

वे दो दिन आ चुके हैं, हम एक वार भी नहीं जा पाये।"

सुरमा वैसे ही विना वोले अनुसरण करती। नहीं कहती, अभी तो दिन वहुत वाकी है, पहाड़ से शाम से पहले ही लौट आया जा सकता है। या फिर, जो कपड़े पहन कर निकलती हूँ, वे मित्र के घर जाने लायक नहीं हैं। इसके लिए तैयार होकर भी नहीं आई, यह वात भी नहीं उठाती।

कुछ देर वाद विजन को खुद ही ध्यान आता है, "इस हालत में वहाँ नहीं जाया जा सकता। चलो, लौट चलें। क्यों?"

सुरमा इस पर भी सिर्फ सिर हिला कर जवाव देती।

एक दिन किसी वजह से कॉलेज की छुट्टी जल्दी हो गई। विजन ने निश्चय कर डाला, इतने दिनों में वह जो कई वार कहना चाह कर भी नहीं कह सका, आज ही उसका मौका है। इसी समय सुरमा को फुरसत रहती है। शायद सोई होगी, या किताव अथवा सिलाई लेकर वैठी होगी। किस ढंग से वात शुरू करेगा, किस प्रकार से कहने पर कठोर नहीं लगेगी, सुरमा के मन को न लगे कि वह सिर्फ उसे अलग कर देने का छल है, अगर वह कह दे 'मैं कहीं नहीं जाऊँगी' तो वह उत्तर में क्या कहेगा, उसके वाद उसे क्या करना है—इत्यादि विभिन्न पहलुओं से सारे मामले को नाना ढंग से सोच, वक्तव्य-वातचीत को मन-ही-मन सजा कर घर पहुँचा। सदर दरवाजा खुला रख कर नौकर कुछ कर रहा था, कुंडी खटकाने या आवाज लगाने की जरूरत नहीं पड़ी। वैठक पार कर दक्षिण के वरामदे में पैर रखते ही चौंक कर खड़ा रह गया। ठीक सामने कुछ फुट दूरी पर सुरमा खड़ी थी। दूर शाल वन की ओर ताक रही थी। इस ओर से उसका पूरा मुख दिखाई नहीं पड़ रहा था, किंतु खड़े होने की विशेष मुद्रा दिख रही थी। उस ओर एक वार देखते ही विजन को लगा, 'विषाद प्रतिमा' नामक जो कहानी या काव्य उपन्यास पढ़ा था, वह कहीं नहीं थी, यही उसका जीवंत रूप है। वेदना का रूप एक नारी तन के प्रत्यंग में मूर्त हो सकता है—यह परम सत्य वह अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहा है।

कितनी देर स्थिर खड़ी वह उसी एक स्थल को निष्पलक दृष्टि से देखती रही, विजन को पता नहीं। शायद इस ध्यान-मग्न मूर्ति की ओर देखता वह कितनी ही देर तक अपेक्षा करता रहता। हठात् किसी कारण से सुरमा ने इधर घूम कर देखा। श्रांत, विषण्ण, ज्योतिहीन आँखों के नीचे जैसे किसी ने स्याही पोत दी हो। उस पर से वह रही थी जलधारा। पति को देखते ही व्याधभीता-त्रस्ता हरिनी-सी भाग कर शयन कक्ष में घुस गई। विजन लौट कर वैठक में सोफे पर जा वैठा। उस क्षण सिर्फ एक ही वात मन में आई—अपने शयनकक्ष में भी उसे प्रवेश का अधिकार नहीं। वहाँ की शय्या पर जो गुप्त रूप से संचित अश्रुधारा झर रही है, उसकी अमर्यादा होगी।

सुरमा के भी मन में आया, पति के सामने वह पकड़ी गयी है। अंतर का जो

गुप्त कक्ष उसने सयत्न बंद कर रखा था, एक असतर्क दुर्बल क्षण में सहसा उसका द्वार खुल गया, उघड़ गया वेदना-मलिन हीन रूप। छीः छीः उसके बाद वह मुंह कैसे दिखायगी ? इसके बाद एक को दूसरे के सान्निध्य से जितना संभव है उतना बच कर चलने के अलावा दोनों को और कोई उपाय नहीं रहा। यह भी कैसे संभव है ? तीन कमरे के इस छोटे घर में हर क्षण एक साथ रहना, बीच में एक अंतराल पैदा करने लायक और कोई परिजन नहीं है।

यह समस्या जब दोनों के लिए दुरूह हो उठी थी, तब एक दिन आकस्मिक रूप से उसका काफी हद तक समाधान हो गया। कोई सूचना दिये बिना ही सुबह की गाड़ी से सुरमा का छोटा भाई मोहन आ पहुँचा। बिजन बाहर के कमरे में था। विस्मय और आनंद से पुकार उठा—"तुम ! वाह खूब। कोई खबर दे कर आते तो स्टेशन पहुँच सकता था।"

फर्स्ट ईयर के लड़के के पौरुष को आघात लगा। बहुत गर्व के साथ बोला, "क्यों, क्या मैं ठीक से पहचान कर नहीं आ सकता था ?"

"क्यों नहीं। क्यों नहीं। इसका सबूत तो हाथों हाथ मिल गया। लेकिन गाड़ी आती है सुबह पाँच बजे, अब साढ़े छह बज रहे हैं। दो मील की दूरी है, रिक्शा में आने पर ज्यादा-से-ज्यादा आधा घंटा लगता। इतनी देर किसलिए ?"

"तो क्या करूँ ? ऐसे देश में पहुँचा हूँ कि रिक्शा वाले थोड़ी सी बात भी नहीं समझते। बस मुंह बाए चेहरे की ओर देखते रहते हैं।"

"यह कहो !" कह कर बिजन हो-होकर के हँस पड़ा, "अच्छा, अब सीधे अंदर चले जाओ। कपड़े बदल कर मुंह-हाथ धो लो।"

दीदी से सामना होते ही मोहन चौंक उठा, "यह क्या ! तू तो पहचान में ही नहीं आ रही है। क्या हुआ ?"

"होगा क्या ? ले, इस पसीने से सराबोर कमीज को उतार कर हवा में आकर बैठ। लड़का एकदम से ही लायक बन गया है। क्यों, जरा खबर भेज कर आने में क्या बुराई थी ?....या फिर कहीं भाग कर तो नहीं आया है ?"

मोहन के कान में शायद इसमें से कोई बात नहीं गई। दीदी के पास पहुँच काफी ऊँची उठ आई गले की हड्डी पर हाथ रख कोमल स्वर में बोला, "सच दीदी, तू बहुत दुबली हो गई है। निश्चय ही कोई बीमारी हुई है। क्यों हम लोगों को तो एक बार भी नहीं लिखा ?"

"क्या मुश्किल ! बीमारी हो तभी न लिखती ?"

"होने पर भी क्यों लिखोगी ? यहाँ तो हम कुछ नहीं हैं। सबसे अधिक जो अपने हैं, उन्हीं...."

बात पूरी होने से पहले ही सुरमा सस्नेह भाई का गाल खींच कर बोली, "खूब

वकवास सीख ली है, देख रही हूँ। कॉलेज में जाकर यही उन्नति की है ?"

उसी दिन शाम को पता चला, मोहन का इतनी दूरी तय कर मध्यप्रदेश में आने का असली उद्देश्य घूमना नहीं, भाई के विवाह में दीदी और जीजा को ले जाना है। विवाह में अभी भी एक महीने की देर थी। बीच में कुछ दिन घूम-फिर कर देश देखेगा। इसीलिए कॉलेज वंद होने पर वहुत कुछ कह सुन कर माँ और भाइयों को मना कर चला आया। कव किस गाड़ी से रवाना हो रहा है, कव पहुँचेगा, इत्यादि विवरण दे कर वड़े भाई ने विजन को जो चिट्ठी लिखी थी, उसे डाक में डालने का भार उसी पर था। यह काम उसने जानवूझ कर नहीं किया। मन में सोचा था—हठात् जा कर दीदी और वहनोई को चौंका देगा। वहाँ से उन्होंने गाड़ी में चढ़ा दिया, बीच में गाड़ी वदलने का झंझट नहीं था, यहाँ के स्टेशन से रिक्शा कर के घर आना था। इसमें क्या मुश्किल होगी! तव किसने सोचा था, इतने कष्ट से सीखी शुद्ध हिंदी ही लोगों के दिमाग में नहीं घुसेगी और उनकी देहाती वोली भी उसके आगे 'विशुद्ध ग्रीक' वन कर आयगी?

कुछ दिन में माँ का पत्र भी सुरमा को मिल गया। विवाह की सूचना विस्तार से दे कर वेटी-जमाई से उन्होंने कुछ दिन पहले ही आने का अनुरोध किया था। पांच जन को ले कर ही तो कुछ धूमधाम होती है। विजन-सुरमा के न आने पर कामकाज भी कौन करेगा? पत्र पढ़ कर विजन वोला, "यह तो जरूरी है। पर मेरा कॉलेज वंद होने में तो अभी कई दिन की देर है।"

"इससे पहले कुछ दिन की छुट्टी ले लीजिए ना।" मोहन ने प्रस्ताव रखा।

"यह नहीं हो सकेगा। इससे अच्छा तो एक काम करो। तुम आये हो तो दो-चार दिन रहो फिर अपनी दीदी को ले कर चले जाओ। भाषा-विभ्राट से मत डरो। मैं जा कर तुम्हें गाड़ी में चढ़ा दूँगा।"

सुरमा किसी वात में कुछ नहीं वोली। अतः यही व्यवस्था हुई। कुछ दिन वाद ही सुरमा मोहन के साथ चली गयी। वात रही, विजन भी ठीक समय पर पहुँच कर उत्सव में योग देगा। पर यह वात उसने रखी नहीं या शायद रख नहीं सका।

विवाह का उत्सव हो चुकने के वाद विमला ने लिखा था, "तुम नहीं आये, इसके लिए उन लोगों को वहुत दुःख हुआ। इस-उस घर के प्रत्येक को आशा थी, तुम आओगे। लेकिन मैं जानती थी, नहीं आओगे। सुरमा को देखते ही समझ गई। आश्चर्यजनक लड़की है। घुमा-फिरा कर कितने ही ढंग से कितने ही प्रश्न किये। पर असली वात पता नहीं चल सकी। मुँह खोल कर कुछ न कहने पर भी, क्या समझा नहीं जा सका? तुम्हीं ने कहा था, नारी को एक तीसरा नेत्र होता है, उसके आगे सव पकड़ में आ जाता है। इसी से तो सोच कर आश्चर्य होता है, सव कुछ जानवूझ कर भी यह तुमने क्या किया। तुम इतने दुर्वल होगे, इतने अवूझ होगे, यदि जानती

तो इतनी बड़ी भूल मैं न करती। इस लड़की के आगे मन-ही-मन मैं क्या सफाई दूँ ?"

विजन ने इस प्रसंग का कोई उत्तर नहीं दिया। देने लायक कुछ नहीं था। अन्य दो-चार फालतू बातें लिख कर इस समाधानहीन तीक्ष्ण प्रश्न को दबा देना चाहा था। यह समझ कर ही शायद विमला ने उस आवरण को और नहीं उधाड़ना चाहा। घटना की गति ने तब और रास्ता पकड़ा। उसमें शुभ-समाधान का इंगित पा कर नई आशा जागी थी उसके प्राणों में। लिखा था : "एक बहुत बड़ी शुभ खबर है। तुम निश्चय ही जानते होगे। फिर भी बताये बिना रह नहीं पा रही हूँ। मैं नाई बनने जा रही हूँ। अभी करीब सात महीने की देर है। फिर भी दोनों घरों में उत्सव छा गया है। किंतु तुम्हारे न होने पर पूरी तरह जम नहीं रहा है! तुम पर हमारा बहुत सा संदेश (एक बंगाली मिठाई) उधार हो गया। कब मिलेगा, लिखना। हाथ से न दिये जाने पर नहीं लूँगी, हाँ।"

अंत में था—"सुरमा का स्वास्थ्य देख उसकी माँ की इच्छा है कि वे इन कुछ महीनों में उसे अपने पास रखें। माँ जी ने सहमति दे दी है। इसका मतलब है तुम्हें कई महीने तक शून्य शय्या पर छटपटाहट और उसके साथ ही इस करवट-उस करवट करना होगा। कितनी जबर्दस्ती है! गुस्सा हो कर और करोगे भी क्या ? बाप बनने जा रहे हो, उसकी कीमत नहीं चुकाओगे ? एक तरह से अच्छा ही हुआ। दीर्घ विरह के बाद ही मिलन में ज्यादा मजा आता है।"

इन सब मामलों में भाभियाँ हास-परिहास करती हैं, देवर उसे खुशी-खुशी सहते हैं। यही साधारण रीति है। किंतु विजन ने तुरंत जवाब दिया था, लिखा था, "तुम्हारा सुसमाचार पा कर मैं सिर्फ खुश ही नहीं निश्चिंत भी हुआ। तुमने जो लिखा है या सोचा है, उन सब कारणों से नहीं, अन्य कारणों से। जिसे स्पर्श किया या पकड़ा जा सकता है, जिसे एकदम अपना मान कर सोचा जा सकता है, ऐसे एक अवलंबन की मनुष्य को विशेषकर नारी को कितनी आवश्यकता होती है, यह बात मैंने जितनी गत छह माह में समझी है, उतनी पहले कभी अनुभव नहीं की। इसी की संभावना देख कर मैं सचमुच चैन की साँस ले रहा हूँ।"

सिर्फ विजन ने ही नहीं, सुरमा ने भी इस उपाय से बचना चाहा था। जिस दिन आलो गोद में आई, तब लगा कि इतने दिन तक उसके आकाश में सिर्फ अंधकार था, आज उसी के किसी नूतन दिगंत का द्वार भेद एक क्षीण रश्मि आ कर उसके सामने खड़ी हो गई है। लड़की का नाम इसीलिए उसने आलो (रोशनी) रखा। सोच-विचार कर नहीं, सहसा मुँह से निकल गया। कोई-कोई अभिभाविका यह सुन मुँह दबा कर हँसी थी। हुई तो एक लड़की है, पेट से बाहर आते-न-आते ही उसका नामकरण भी हो गया! नाम यदि रखना ही था, तो वह उसकी नानी, दादी, मामा, ताऊ आदि को रखना था। इसे ले कर प्रथम बार की प्रसूता की यह 'बढ़ाबढ़ो' कहाँ किसने सुनी

है ? खबर जब इस घर में पहुँची, तब इनमें से भी कोई प्रसन्न मन से ग्रहण नहीं कर सका। सिर्फ विमला समझी, नाम सुरमा ने नहीं रखा, उसके विधाता पुरुष ने उसके अंतर में जगा दिया था। निःश्वास छोड़ मन-ही-मन बोली थी—नाम जैसे सार्थक हो गया। आहा, लंबी उम्र जिये, यही तो संबल है। दूर बैठे और एक जन ने शायद यही कामना की थी।

किंतु सिर्फ संतान पा कर ही कौन नारी परिपूर्ण हो जाती है ? उसकी आकांक्षा अतलस्पर्शी जो ठहरी। जो पति के प्रेम में गर्विणी हैं, वे भी मातृत्व की कामना से जर्जर हैं और जो अनन्य संतान-सौभाग्य वाली हैं, उनके भी विगत अथवा विमुख पति के लिए हाहाकार का अंत नहीं। (विगत में फिर भी एक सांत्वना है, वह शोक सह लिया जा सकता है किंतु 'विमुखता' में सिर्फ वंचना है। उसकी यंत्रणा दुःसह है।) यहीं अंत नहीं होता। पत्नी और माता के दुहरे आसन पर बैठ कर भी उसे तृप्ति नहीं होती। तब वह चाहती है पति के आत्मीय-परिजन की स्वीकृति, बहू का सम्मान और गृहणी का शासन-दंड। सब कुछ अजस्र भाव से पा लेने पर भी पति की ख्याति और प्रतिष्ठा का अनन्य अधिकार न मिलने पर अपना और दूसरे का जीवन विषमय कर देती हैं, ऐसी हीन रमणियों का भी संसार में अभाव नहीं। नारी जब देने पर आती है, अपने को पूर्णतः मिटा कर भी जिस तरह नहीं रुकती, उसी प्रकार जहाँ वह पाना चाहती है, आकंठ पी कर भी उसकी तृष्णा नहीं मिटती।

सुरमा को सब कुछ मिल गया था। फिर भी एक अप्राप्य को ले कर जो वंचना थी, उसी की अमर ज्वाला ने उसे उसको अज्ञानता में अंदर-ही-अंदर क्षीण कर दिया। आलो वह रोक नहीं सकी, बस एक सामयिक प्रलेप मात्र ही लगा सकी। किंतु एक सामान्य शिशु-हाथ को बिसात ही कितनी होती है, आग बुझी नहीं। धीरे-धीरे सभी से अलक्ष्य गुप्त विष-क्रिया अविराम गति से चलती रही।

लड़की होने के बाद एक बार आ कर देख जाने के लिए दोनों घरों से कई बार बुलावे गये थे विजन को। वह नाना कारण बता कर आने को निरंतर आगे टालता रहा। दिन के बाद दिन मन-ही-मन सिर्फ आशा ही जागती रही—सुरमा उठ खड़ी हुई है, उसके मुख का वही स्वास्थ्य उज्ज्वल लावण्य लौट आया है, मातृत्व की आभा से और भी मधुर हो उठा है। जो उसके पास से नहीं पा सकी, उस अभाव को आत्मजा ने पूर्ण कर दिया है। 'आलो' नाम में यही आश्वासन है। विजन को भी यह नाम खूब पसंद था।

आलो जब चार माह की हुई तब वह एक बार बेटी को देखने आया। भाभी ने ठीक ही लिखा था। आलो सचमुच ही भोर के आलोक की झलक थी। ताजा शेफाली फूलों का गुलदस्ता। पालने में सोई बेटी को एक पलक देखते ही विजन का हृदय भर आया। अगले ही क्षण सिहर कर कुछ कदम पीछे हट गया। पालने के पास

यह कौन आ, खड़ा हुआ। सुरमा ? नहीं-नहीं यह तो उसका प्रेत था। कहाँ गया वह रंग, वह स्वास्थ्य, वे पौधों जैसे केश ! सुरमा ने धीरे-धीरे पास आ कर गले में आँचल डाल उसके चरणों में प्रणाम किया। निष्प्रभ आँखें उठा कर क्षीण स्वर में पूछा, "वहाँ के सब समाचार तो ठीक हैं ?" विजन ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। भर्राये गले से बोला, "यह तुम्हें क्या हो गया है ?"

"कुछ तो नहीं", सिर हिला कर जमीन की ओर देखते हुए सुरमा ने उत्तर दिया। फिर चुपचाप बगल के कमरे में चली गयी।

विमला से भेंट होते ही, शिकायत का स्वर निकल पड़ा, "सुरमा की बीमारी की बात तो तुमने लिखी नहीं थी ?"

"क्या लिखती ? रोग-व्याधि उसे कुछ नहीं है। मामूली हाजमे की गड़बड़ है। बच्चा होने के बाद थोड़ा-बहुत सभी को होता है। इसके अलावा""

विजन के आँख उठा कर देखते ही विमला आगे बोली, "उसने कुछ लिखने ही नहीं दिया। सिर की कसम दे कर रोक दिया। माँ की ओर से लिखती, उसके लिए भी सौ बार मना कर दिया।"

कुछ देर दोनों चुप रहे। फिर विमला बोली, "उसे तुम ले जाओ, देवरजी। यहाँ रहने पर यह बीमारी दूर नहीं होगी।"

"वहाँ जाने से ही क्या दूर हो जायगी ?"

प्रश्न कठिन था। विमला को तुरंत कोई उत्तर नहीं सूझा। कुछ क्षण सोचने के बाद बोली, "यह बहुत कुछ तुम पर निर्भर करता है। अच्छी तरह से सोच कर देखो।"

सिर्फ अच्छी तरह ही नहीं, आकाश-पाताल एक कर भी अध्यापक विजन बनर्जी सोच कर देख चुका था। किंतु कूल-किनारा नहीं मिला। एक दिन फिर शायद मिल जाय। कुँआरे मन की स्वच्छता और सामान्य आकांक्षा ले कर प्रथम बार जब सुरमा आ कर खड़ी हुई थी, तब वह अनायास ही उसकी दो सुकुमार खाली मुट्ठियाँ भर सकता था। उसके बाद अनेक सुअवसर निकल गये। इस निर्मल आकाश में अनेक मेघ घिर कर छाये, जिन्हें उड़ा देने का मंत्र उसे ज्ञात नहीं था। वही दोनों क्षीण मुट्ठियाँ बंद हो गया, द्वार रुद्ध हो गये; खोलने की चाबी उसके हाथ में नहीं थी। अब सिर्फ बाहर खड़े रह कर दस्तक देना था।

अंत में माँ ने ही आपत्ति की "बहू की तबियत ठीक नहीं चल रही है। थोड़ी देख-भाल जरूरी है। विजू अकेला कैसे करेगा ? उसे कौन देखे इसका ही ठीक नहीं। इस पर छोटे बच्चे का झंझट। दो-चार महीने और रहने दो। फिर जायगी।" बात एकदम उचित थी। इसके बाद और कौन रह जाता था बात कहने के लिए ? विजन अकेला ही शून्य गृह में लौट गया।

दो माह वाद विमान की वदली कानपुर हुई। संभवतः 'ऊपरी' आय का कोई मामला था, जिसके फलस्वरूप ऊपर वाले रुष्ट हो गये थे। रँगे हाथ पकड़ने का अवसर नहीं मिला। न ही कोई पक्का सवूत मिला कोई।

विमान ठहरे भोजन-विलासी व्यक्ति। किसी गँवार रसोइये की 'पूरी-सब्जी' पर निर्भर रहने से उन्हें एक दिन नहीं चलता। अतः विमला को साथ चलना पड़ा। वह भी अकेली कैसे रह पायगी? चारो ओर तो वस 'आता है, जाता है' लोग हैं। दिल खोल कर दो वातें भी किस से करेगी? सारे दिन क्या करेगी? भगवान ने तो गोद-कंधे पर कोई दिया नहीं, जो उसी की साज-सँवार में समय काट दे। यहाँ वह अभाव आलो ने दूर कर रखा था। इस घर में आने के वाद अपने आप ही लड़की का भार उसके ऊपर पहुँच गया था। 'मंझली वहू' जैसा झंझट हीन इंसान और मिलता ही कौन? यह जरूरत दिन-दिन और भी वड़ी हो कर दीख रही थी। लड़की वड़ी हो रही थी। इससे भी वड़ी एक वात और थी। इस घर में सुरमा को एक जन ही तो समझता था। फिर उसे किस के पास छोड़ जाय? मंझली दीदी चली जा रही हैं, सुन कर वह भी वहुत मुश्किल में पड़ गयी थी। साथ ले जाने का प्रस्ताव रखे जाते ही उत्फुल्ल हो उठी। सव तरह से सोच कर सास ने भी सहमति दे दी। विजन की राय का इंतजार करना अनावश्यक था। वह विमला का दायित्व था। उससे ज्यादा कौन जानता था कि विजन इस व्यवस्था से निश्चिंत ही होगा! कानपुर पहुँच कर खवर दे देना ही काफी होगा। वही किया।

विजन ने लिखा था, "इसमें नयी वात क्या है? मंझले दादा की कानपुर वदली की खवर जिस दिन मिली थी, उसी दिन यह जान गया था। अपनी इन दोनों नूतन पोषिताओं को छोड़ कर तुम जातीं ही कैसे? यदि तुम जा पातीं, तव वह वात एक नई खवर होती।"

विमला ने लिखा—"लोटा-कंवल ले कर तुम भी चले आओ ना। हमारा एक पोषित और वढ़ जायगा। डर नहीं। घर वहुत वड़ा है। कुंजन-गुंजन को असुविधा नहीं होगी। उस समय आलो को मैं सम्हाल लूंगी।"

इस प्रसंग में और कोई जवाव नहीं आया।

कानपुर आ कर सुरमा ने एक नये जीवन का स्वाद पाया और उसे ही सर्वांत भाव से ग्रहण करने की चेष्टा की थी। विवाह के वाद प्रथम वार उसकी वातचीत और चाल-ढाल में थोड़ी उत्फुल्लता दिखाई पड़ी। सदा-विषण्ण मुख पर कारण-अकारण हँसी की एक झलक, मंझली दीदी के साथ छोटी-मोटी छेड़-छाड़, लड़की को ले कर खेलना, वातें, भाग-दौड़ में लगने लगी। जेठ से यथेष्ट परिमाण में दूरत्व रखना ही उस समय की प्रचलित रीति थी। कुछ परिवारों में यह टूटना शुरू हुई थी, उस सतर तक नहीं पहुँच सके थे। सुरमा उस ओर भी थोड़ा आगे वढ़ी थी। इस

में पहले-पहल उसने ही जेठ को 'दादा' कह कर पुकारा था। वीच-वीच में इधर-उधर घुमाने ले जाने का आग्रह ले कर भी उनके पास जा खड़ी हुई थी। छोटी-मोटी फरमाइश जो पहले सिर्फ मंझली दीदी के पास होती थी, अब कुछ-कुछ 'दादा' तक पहुँचने लगीं। विमान खुश हुआ। यह वहू उनके घर में आ कर सुखी नहीं हो सकी, यह वह जानता था। फिर भी करने को कुछ भी नहीं है, जान कर अंदर-ही-अंदर थोड़ा अशांत था। इस परिवर्तन का उसके मन ने सारा भार उठा लिया। सबसे ज्यादा खुशी विमला को हुई। आशा बँधी, मेघ छँट रहे हैं, यह उसी का पूर्वाभास है। अनुकूल हवा ने चलना शुरू कर दिया है, एक दिन कानपुर छोड़ कर मध्य प्रदेश जा पहुँचेगी। वह शुभ दिन आने वाला है।

कुछ माह वीतने पर ही विमला समझ सकी कि वे दोनों पति-पत्नी ही गलती पर थे। विमान तो पुरुष था, उसकी आँख में पड़ने की तो वात नहीं थीं, किंतु नारी की दृष्टि ले कर वह भी तो नहीं समझ सकी। जिस पेड़ की जड़ में कीड़ा लग जाता है, वह भी फाल्गुन के आने पर नये पत्ते दिखाने लगता है। फिर धीरे-धीरे वह उज्ज्वलता म्लान हो जाती है, शाखा-प्रशाखा में क्षय के चिन्ह स्पष्ट हो उठते हैं। सुरमा को देख जो लोग उसके क्षणिक विकास में आनंद की वात खोज सके थे, वे अपनी गलती समझ गये। साथ ही यह भी समझ गये कि इन पत्तों के निकलने में एक निष्फल-प्रयास का करुण इतिहास छिपा है। उसने जीवित रहना चाहा था, किंतु रह नहीं सकी। जड़ में लगा विष उसके जीवन रस को सोखे ले रहा था। यह लक्षण विमान की आँख में भी पड़ा। पत्नी से वोला, "सुरमा की तवीयत तो सुधर नहीं रही है। वीमारी क्या है?"

विमला कुछ कर रही थी। उसी ओर आँख रख संक्षेप में उत्तर दिया, "वह तुम लोग नहीं समझोगे।"

विमान सहज वुद्धि का सरल व्यक्ति था। इस मामले में जो साधारण समाधान उसके मन में आया, उसे ही प्रकट किया, "आलो तो अव थोड़ा वड़ी हो गयी है। उन्हें अव विजू के पास भेज दो। पत्र लिख दो, दो-चार दिन के लिए आ कर लिवा ले जाय।"

पत्नी को जवाव देते न देख आगे वोला, "न हो, तुम भी इसके साथ थोड़ा घूम जाओ। जरूरत होने पर कुछ दिन के...."

इस वार विमला ने मुँह उठाया। पति की वात पूरी होने से पहले ही गंभीर मुख से वोली, "टेलिग्राम का कागज है क्या?"

"टेलिग्राम का क्या होगा? चिट्ठी लिख दो ना। दो दिन में मिल जायगी।"

"नहीं, नहीं, उसके लिए नहीं, तुम्हारे लिए कह रही हूँ।"

"मेरे लिए!"

"मुझे जाने कह रहे हो ना ! पहुँचने तक की देर सह लोगे क्या ? या इससे पहले ही—"कंडीशन होपलेस, कम एट वन्स' ?"

विमान हँस पड़ा। फिर बोला, "तो मैं क्या करूँ ? आँचल तले रख-रख कर हालत तो सचमुच 'होपलेस' कर डाली है।"

पति ने जो प्रस्ताव रखा था, इस बारे में विमला भी कुछ दिन से मन-ही-मन सोच रही थी। अब सीधे-सीधे सुरमा के सामने प्रकट कर दी। वह पहले तो चौंक उठी। बेटी के मुंह की ओर देख शायद उसके मन की बात समझना चाही। फिर म्लान हँसी हँस कर बोली—"देखती हूँ, भगाना चाहती हैं।"

"चाह तो रही हूँ। और कितने दिन मुझे जलायगी। अब जिसका बोझा है, उसके कंधे पर जा कर डाल आऊँ।"

सुरमा ने उसी समय जवाब नहीं दिया। बाहर उस समय संध्या उतर आई थी। बरामदे की रेलिंग पकड़े चुपचाप खड़ी थी। और भी कुछ क्षण उसी प्रकार दूर किसी अलक्ष्य वस्तु की ओर देखते हुए धीरे-धीरे बोली, "जिस दिन देखूंगी, तुम्हें सच-मुच मुसीबत दे रही हूँ, आलो और मैं सचमुच बोझा बन कर तुम्हारे पास पड़ी हूं, उस दिन खुद ही चली जाऊँगी, तुम्हें कहना नहीं पड़ेगा।"

कहते-कहते उसकी आँखों से जलधारा बह निकली। विमला ने पास जा कर अपने आँचल के छोर से उसके आँसू पोंछ दिये और बोलि, "छीः छीः भरी संध्या के समय यह सब बुरी बातें कोई मुंह से निकालता है ?"

एक बात विमला ने आज स्पष्ट रूप से लक्ष्य की। विवाह के बाद जो सुरमा पति के साथ घर करने गयी थी, उस सुरमा और आज की सुरमा में बहुत अंतर है। उस दिन उसमें अनिच्छा थी, आग्रह का अभाव था, किंतु असहमति या अनिच्छा की तीव्रता इतनी प्रबल नहीं हुई थी। उस दिन घटना-प्रवाह के समक्ष अनुत्सुक आत्म-समर्पण था, आज उसे रोक सकने का कठोर संकल्प था।

इसके बाद कानपुर और मध्यप्रदेश के बीच जो पत्र-व्यवहार चलना शुरू हुआ, उसमें उभय पक्ष की मामूली कुशलक्षेम आदि के प्रश्नों के अलावा सुरमा के भविष्य के संबंध में कोई उल्लेख नहीं रहा। किंतु दो उल्लेखनीय घटनाओं के फलस्वरूप वर्तमान व्यवस्था भी दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रही। माँ की बीमारी की खबर पा कर सुरमा को अपने मैके जाना पड़ा और विमला की माँ को पति की मृत्यु के बाद आ कर अपनी मंझली बेटी के पास आश्रय लेना पड़ा। सुरमा फिर कानपुर वापस नहीं आई, विमला ने भी उसे आने की जिद नहीं की। शायद इसके मूल में अपनी माँ की उपस्थिति भी एक कारण थी। क्या पता, वह कारण सिर्फ इसी तरफ से नहीं उस तरफ से भी हो।

आलो चार वर्ष की हो गयी। इतने दीर्घ काल का अधिकांश भाग सुरमा ने माँ के पास ही विताया। वीच में दो-चार दिन के लिए ही सास के पास जाती रही। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। वड़ी वहू अपने वाल-वच्चों में व्यस्त रहती। इसलिए इच्छा होने पर भी वह अधिक दिन रोक कर नहीं रख सकीं। एक-दो वार अपनी गरज से ही वुला भेजा। नातिन नानी का अंतःप्राण थी। इसलिए ससुराल वालों के मन में थोड़ा अप्रकट रोप था। फिर करने को ही क्या था? जहाँ पुत्र रहता हो नहीं, वहाँ अपनी पौत्री पर जोर किस वूते पर दिखायें? वहू को भी इसीलिए अपना समझ पास नहीं खींच सकीं। उसके शीर्ण-मलिन मुख को देख खुद को अपराधी-सा अनुभव करतीं। इस लड़की के चरम दुःख के लिए जैसे वही जिम्मेदार हों। वेटे पर भारी रोप से उनका कलेजा भर उठता। मुँह खोल कर किसी दिन वहू से भी नहीं कह सकीं, "चल वहू, तुझे विजू के पास छोड़ आऊँ। उसे भी एक वार नहीं लिख सकीं कि आ कर उसे ले जा।"

यही क्षोभ हृदय में समेटे उन्होंने एक दिन आँखें मूंद लीं। तार मिलने पर जव विजन पहुँचा, तव उन्हें अस्पष्ट ज्ञान था। कमरे में उस समय कोई नहीं था। लड़के की ओर वार-वार फटी-फटी आँखों से देखती रहीं। क्या कुछ उन्हें कहने को था, किंतु वोल नहीं सकीं।

विजन समझ कर माँ के सीने पर झुक कर वोला, "मुझसे कुछ कहना है, माँ?"

"कहने लायक मेरा मुंह जो नहीं है, वेटा। दोप तेरा नहीं, मेरा है। मैं समझ नहीं सकी थी।"

"तुम विश्वास करो माँ, अगर मैं उसे सुखी होते देखता, तो मैं उसे अपने पास ही ले जा कर रखता। मैं अभी भी तैयार हूँ। लेकिन...."

माँ के होंठ हिलते देख विजन चुप हो गया। उन्होंने अत्यंत क्षीण स्वर में धीरे-धीरे कहा, "देख, वह ज्यादा दिन जिंदा नहीं रहेगी। मैं जो उसे जीवित छोड़ कर जा रही हूँ, यही मेरा परम भाग्य है। अगर वह दुर्दिन आये तो लड़की को तू अपने पास रखना। वनर्जी घर की लड़की पराये घर में न पले।"

अगले दिन माँ मर गयी। उनके अंतिम समय में घर भर लोगों में सुरमा भी थी। उसकी ओर हठात् नजर पड़ते ही विजन चौंक उठा। समझ गया, माँ की आशंका निर्मूल नहीं थी। फिर भी, यह उस दिन नहीं सोच सका कि साल पूरा होते-न-होते ही माँ का अंतिम आदेश पूरा करने की जरूरत पड़ेगी। सुरमा के साथ दो-चार वातें जो हुई थीं, उनमें भी ऐसा कोई लक्षण नहीं देख सका था कि वह इतनी जल्दी चली जायगी।

घर भर लोगों की भीड़ में एकांत में मुलाकात होने का अवसर नहीं के [illegible]

था। अवसर जो जुटा दे सकती थी, वह आई नहीं थी। वह तो बहुत दिन पहले से ही कानपुर में टायफायड में शय्यासीन थी। सिर्फ विमान आया था श्राद्ध के पहले दिन और अगले दिन रह कर उसी दिन चला गया। भाभी का अभाव विजन को उस दिन जितनी तीव्रता से अनुभव हुआ, उतनी तीव्रता से पहले कभी नहीं हुआ था। अपनी कोशिश से पत्नी के साथ कुछ क्षण का एकांत पा कर बोला था, "मेरे साथ चलोगी, सुरमा?"

सुरमा ने आँखें उठा कर नहीं देखा। धरती की ओर देखते हुए आँचल का छोर उँगली में लपेटते-लपेटते बोली, "आलो, बहुत नटखट हो गई है। मैं उसे बिल्कुल नहीं सम्हाल पाती।"

"उसके लिए अलग नौकरानी रख लेना।"

"नौकरों के पास ठहरे, तभी ना। नानी न होने पर उसे एक मिनट नहीं रहा जाता।"

"अच्छा! तो उसे नानी के पास ही रहने दो ना?"

सुरमा ने तत्क्षण उत्तर नहीं दिया। कुछ क्षण बाद अस्फुट मृदु स्वर में बोली, "मैं किसे लेकर रहूँगी?"

गला कुछ भर आया था। शायद भर ही आया था या फिर विजन के सुनने की भूल थी। वह और कोई बात नहीं बोला था। बहुत दिन बाद उसके मन में आया, सुरमा की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर न करके उस दिन यदि वह द्विविधाहीन स्वर में कहता, 'तुम्हें मैं ले जाने को आया हूँ, सुरमा', तो शायद उसके जीवन का स्रोत दूसरा पथ पकड़ लेता; घटना की धारा अन्य राह पर बहती। किंतु सुरमा के सामने खड़े हो कर यह बात उस दिन वह कह नहीं सका।

सुरमा जब कानपुर में थी, तब विमला ने देवर को अनेक बार लिखा था, "वह नौकरी तुम छोड़ दो, देवरजी। किसके लिए तुम उस जंगल में पड़े हो? कलकत्ता या उसके आसपास कोई एक जुटा लो। जितने दिन न जुटे, घर में रहने में क्या बाधा है? आज वह जरूरत अनिवार्य रूप में दिखाई दी। माँ का मृत्युशय्या से दिया गया निर्देश उसे मानना ही होगा। पर इतनी छोटी बच्ची को तो इस बांधवहीन दूर देश में लाकर रखा नहीं जा सकता। कलकत्ता लौट जाने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहा। इसके लिए पहली जरूरत एक नौकरी की थी और एक अलग घर की। इसी भाभी के एक झुंड बच्चों के बीच सुरमा का शिशु अवहेलना में पले, यह बात वह सोच नहीं सका।

नौकरी की दरख्वास्त का सूत्र पकड़ कर ही बेले घाटा की फुफेरी बहन के घर उसे जाना पड़ा था। उसे बहनोई से काम था। जिस कॉलेज में स्थान रिक्त था, वह उसकी 'गवर्निंग बॉडी' के प्रभावशाली सदस्य थे। शायद कोई सुविधा मिल जाय, इसी आशा से उनके ऑफिस में जा कर उनसे मुलाकात की थी। दीर्घ काल बाद मिले साथ

साले को उन्होंने उसी समय नहीं छोड़ा। वहुत ग्रादर के साथ घर ले गये।

किसे पता था, इतना वड़ा निर्मम विस्मय उसके लिए वहाँ ग्रपेक्षा कर रहा होगा। वहाँ इस ग्रवस्था में निर्मला के साथ मुलाकात होगी, ऐसी संभावना मन के किसी कोने में भी कभी स्थान नहीं पा सकी थी !

●●●

दस

जिस दिन 'सेकेंड सर' को धूमधाम से विदाई दी थी, उस दिन वस्ट्राल स्कूल के लड़कों ने ग्रपने में भी नहीं सोचा था कि तीन महीने के ग्रंदर ही फिर उन्हें केले के खंव ग्रौर देवदारु के पत्तों की जरूरत पड़ेगी। इस वार का ग्रायोजन ग्रौर भी व्यापक था। माला ग्रौर भी वड़ी गूँथनी थी, द्वार ग्रौर भी वड़ा लगाना था। ऐसे-वैसे का नहीं, सुपर साहव का विदाई-ग्रभिनंदन करना था।

घोप साहव खुद भी इस वदली के लिए तैयार नहीं थे। प्रशासकों के मत में यह सिर्फ 'ट्रासफर' नहीं, 'प्रमोशन' था; वस्ट्राल स्कूल के क्षुद्र विभाग के केंद्रीय जेल के वृहद् इलाके का ग्रध्यक्ष। क्षुद्र कैदियों की छोटी-मोटी नालिश-फरियाद के वदले खूंख्वार ग्रपराधियों की जटिलतर समस्याएँ ग्रौर व्यापकतर दायित्व मिला था। खुश होने की वात थी। ग्रन्य कोई होता तो इस परिवर्तन को ग्रपने कृतित्व की स्वीकृति मान ग्रहण करता, ऊपर वालों के दरवार में कृतज्ञता प्रकट करता। किंतु लेफ्टीनेंट घोप सदा के ग्रनोखे ढंग के व्यक्ति थे। पदोन्नति का सुसमाचार पा कर मुँह भारी हो गया। क्लव के गण्यमान व्यक्तियों में से एक ने उनकी पीठ ठोक कर उत्साह वढ़ाया, "सोच क्या रहे हैं, महाशय ? भाग्य खुल गया है। ये वृंदावन के ग्वाल-राजा, कलम के एक खोंचे से एकवारगी ही मथुरेश्वर वन गये।"

घोप साहव ने मृदु हँसी के साथ जवाव दिया, "सोच रहा हूँ, वह 'खोंचा' सिर पर सहना ही पड़ेगा। सभी तो कृष्ण-कन्हैया नहीं हैं।" यह कह कर तिरछी दृष्टि से वक्ता महाशय के मुँह की ग्रोर देखा। ग्रासपास जितने थे, सभी के मुँह पर दवी हँसी थी। भद्र महाशय ने व्यग्रता ग्रनुभव की। कुछ दिन से उन्होंने शहर के सांध्य-क्लव में नारी सदस्यों की संख्या-वृद्धि के लिए ग्रभियान चला रखा था। इस वारे में उनकी यह थोड़ी विशेप दुर्वलता क्लव में ग्रौर उसके वाहर सरस ग्रौर मुखरोचक चर्चा का विपय वनी हुई थी।

मुँह से जो भी कहें, घोप साहव के मन की वात मन में ही रह गई। वस्ट्राल के ये लड़के, जिन्हें वह वात-वात में 'ग्रभागे' कहते, इस दीर्घकाल में धीरे-धीरे उनके

अंतर का कितना बड़ा स्थान घेर चुके थे, शायद वह खुद भी नहीं जान सके। छोड़ कर जाते समय वहाँ खिंचाव पैदा हुआ। वह वेदना-बोध किसी को जानने नहीं दिया। आशु-बाबू होते तो उनके मुँह की ओर देख अपने आप समझ जाते। एक और जन ने भी समझा। वह है दिलीप। जिन 'विशालकाय साहब' का बाह्य देख कर वह एक दिन डर गया था और उस भय को बहुत दिन तक मन से नहीं हटा सका था, उनके अंतर में उन जैसा ही एक बालक रहता है, मित्र मान कर जिनकी ओर हाथ बढ़ाया जा सकता है, साथी मान कर पास बुलाने पर उत्तर मिल सकता है, दिलीप को यह रहस्य सचमुच अजाना नहीं रहा था। साहब के कमरे में हर समय ही भीड़ रहती। चले जाने का समय निकट होने पर वह भीड़ और भी बढ़ गयी थी। इसी बीच, वह कब जा कर उनसे मिले, यह सोच ही रहा था, तब साहब ने खुद ही बुला भेजा।

आशुबाबू के जाने के बाद दिलीप की पढ़ाई में दो ओर से बाधा आई थी। प्रथम तो उस अभाव को बिल्कुल नहीं भुला पा रहा था। फिर उनसे जो नियमित रूप से पाता रहा था, वैसी ही साग्रह और सक्रिय सहायता देने लायक और कोई नहीं था। इसके अलावा बहादुर के चले जाने के बाद उसके रिक्त स्थान की पूर्ति भी उसे ही करनी पड़ी थी। प्रेस का काम भी थोड़ा बढ़ गया था। सारे दिन आसन्न परीक्षा की तैयारी तो दूर, उसके बारे में सोचने तक का समय नहीं मिलता था। प्रेसमास्टर उसे चाहते थे। बीच-बीच में कहते, "इसे अभी रहने दो। कुछ अपना काम करो। परीक्षा तो निकट आ गयी है।" फिर कुछ ही मिनट बाद बुला लेते—"यह देखो, दीनाजपुर जेल ने फिर तगादा भेजा है। फार्म कल तक छाप डालने होंगे। डिप्टी बाबू गुस्सा कर रहे थे।"

दिलीप को तब 'एलजबरा' छोड़ 'कंपोज' पर बैठना पड़ता।

रात में बैरक में पढ़ सकना असंभव था। एक झुंड लड़के शोरगुल करते। 'सेल' अंचल इतना निर्जन था कि दिलीप तो क्या, कोई वयस्क व्यक्ति भी वहाँ रहने का साहस नहीं करता। उस पर वे कमरे भी सजा देने के लिए थे, रहने के लिए नहीं। इसीलिए उसके रहने की व्यवस्था अस्पताल में थी। इतना बड़ा हॉल था, पर तीन-चार रोगियों से ज्यादा नहीं रहते थे। बहुत सी जगह खाली पड़ी थी। एक कोने में बैठ पढ़ने-लिखने में कोई बाधा नहीं थी। साहब के ही निर्देश पर डिप्टी बाबू ने बंदोबस्त कर दिया था, यद्यपि मन में प्रसन्न नहीं हुए। किंतु कंपाउंडर खुश था। एक गट्ठर कापियाँ-कागज दिलीप के सिर पर डाल खुद प्रायः पेंशन उपभोग करने लगा। रात जाग-जाग कर उन्हें लिख कर रखना पड़ता उसे। कहीं थोड़ी कमी होने पर वह नाराज होता। इसीलिए दिलीप की परीक्षा की पढ़ाई ताख पर उठ गयी। सुपर यह सब नहीं जानते थे, डिप्टी जान कर भी निर्विकार थे (सरकार-निर्दिष्ट 'शेड्यूल्ड टास्क' न करके कोई 'इनमेट' सिर्फ परीक्षा की पढ़ाई लेकर ही व्यस्त रहे, यह उनके मनोनुकूल नहीं

था)। हेडमास्टर इसे लेकर माथापच्ची नहीं करते, यह अन्य किसी के भी क्षेत्र से बाहर की बात थी। जो कह सकते थे, जो आवश्यकतानुसार साहब की नजर में ला कर सब कुछ का प्रतिकार कर सकते थे, वही आशुबाबू नहीं थे। कई रात अस्पताल में लालटेन की रोशनी में बैठ 'मार्निंग स्टेटमेंट' या 'बेड हेड टिकट' लिखते-लिखते उन्हीं परम स्नेहपारायण और सुहृदय मास्टरजी की याद उसे बार-बार आती। आँखों में आँसू भर आते।

सुपर का अरदली आकर जब दिलीप को उनके ऑफिस में बुला ले गया, तब वह अकेले बैठे कोई काम कर रहे थे। कुछ क्षण बाद सिर उठा कर बोले, "पढ़ाई कैसी चल रही है?"

दिलीप ने सिर हिला कर बताया, "अच्छी।"

"अच्छी तरह से पास तो हो जाओगे, ना?"

"कोशिश करूँगा।"

"सुनो, तुम्हारी छुट्टी में प्रायः एकाध वर्ष बाकी है। इतने दिन तुम जिस ढंग से रहे, उससे तुम्हें कुछ माह बाद ही यानी टर्म पूरा होने से पहले ही छोड़ दिया जाता। मैंने जानबूझ कर ही वह कोशिश नहीं की ताकि जाने से पहले तुम मैट्रिक हो जाओ। मैंने चाहा था। वह व्यवस्था हो गई। अब तुम्हें तैयारी करनी ही पड़ेगी।"

दिलीप सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा। साहब फिर बोले, "अपनी माँ की कोई चिट्ठी-पत्री तो नहीं मिली तुम्हें?"

"नहीं।" कहने के साथ ही साग्रह दृष्टि उठा कर देखा। हठात् यह बात क्यों पूछी साहब ने? तब क्या कोई नयी आशा का सूत्र कहीं दिखाई पड़ा है? सुपर ने शायद उसकी आँखों का उद्वेगाकुल प्रश्न पढ़ लिया। उसी के उत्तर में धीरे-धीरे बोले, "हमारी ओर से जितना संभव था, हमने खोज-खबर ली। फिर भी उसे ठीक चेष्टा करना नहीं कहा जा सकता। वह तुम बाहर जाने पर करना, और मुझे विश्वास है तुम्हें अधिक दिन अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इस बारे में आशुबाबू तुम्हारी मदद करेंगे। वह इस समय कलकत्ता में ही हैं। उनका पत्र नहीं मिला?"

"मिला था, सर।"

"रिहाई के बाद उनके पास चले जाना। उनकी यही इच्छा है। मुझे लिखा है तुम्हें बताने को। मैं भी एक दिन उनका प्रेस देखने जाऊँगा। शायद वहीं फिर तुमसे मुलाकात हो।"

घोष साहब यहाँ थोड़ा रुके, एक बार उसके आनत मुख की ओर देखा, फिर बोले, "तुम्हें तो पता चल ही गया होगा मैं जा रहा हूँ।"

'जा रहा हूँ' शब्द घोष साहब ने शायद सहज स्वर में ही कहे थे। किंतु दिलीप के कान में वे बहुत गहरी पीड़ा ले कर पहुँचे। साहब जा रहे हैं यह उसे

अंतर का कितना बड़ा स्थान घेर चुके थे, शायद वह खुद भी नहीं जान सके। छोड़ कर जाते समय वहां खिचाव पैदा हुआ। वह वेदना-बोध किसी को जानने नहीं दिया। आशुबावू होते तो उनके मुंह की ओर देख अपने आप समझ जाते। एक और जन ने भी समझा। वह है दिलीप। जिन 'विशालकाय साहव' का वाह्य देख कर वह एक दिन डर गया था और उस भय को बहुत दिन तक मन से नहीं हटा सका था, उनके अंतर में उन जैसा ही एक बालक रहता है, मित्र मान कर जिनकी ओर हाथ बढ़ाया जा सकता है, साथी मान कर पास बुलाने पर उत्तर मिल सकता है, दिलीप को यह रहस्य सचमुच अजाना नहीं रहा था। साहव के कमरे में हर समय ही भीड़ रहती। चले जाने का समय निकट होने पर वह भीड़ और भी बढ़ गयी थी। इसी बीच, वह कब जा कर उनसे मिले, यह सोच ही रहा था, तब साहब ने खुद ही बुला भेजा।

आशुबावू के जाने के बाद दिलीप की पढ़ाई में दो ओर से बाधा आई थी। प्रथम तो उस अभाव को बिल्कुल नहीं भुला पा रहा था। फिर उनसे जो नियमित रूप से पाता रहा था, वैसी ही साग्रह और सक्रिय सहायता देने लायक और कोई नहीं था। इसके अलावा बहादुर के चले जाने के बाद उसके रिक्त स्थान की पूर्ति भी उसे ही करनी पड़ी थी। प्रेस का काम भी थोड़ा बढ़ गया था। सारे दिन आसन्न परीक्षा की तैयारी तो दूर, उसके बारे में सोचने तक का समय नहीं मिलता था। प्रेसमास्टर उसे चाहते थे। बीच-बीच में कहते, "इसे अभी रहने दो। कुछ अपना काम करो। परीक्षा तो निकट आ गयी है।" फिर कुछ ही मिनट बाद बुला लेते—"यह देखो, दीनाजपुर जेल ने फिर तगादा भेजा है। फार्म कल तक छाप डालने होंगे। डिप्टी बाबू गुस्सा कर रहे थे।"

दिलीप को तब 'एलजबरा' छोड़ 'कंपोज' पर बैठना पड़ता।

रात में बैरक में पढ़ सकना असंभव था। एक झुंड लड़के शोरगुल करते। 'सेल' अंचल इतना निर्जन था कि दिलीप तो क्या, कोई वयस्क व्यक्ति भी वहां रहने का साहस नहीं करता। उस पर वे कमरे भी सजा देने के लिए थे, रहने के लिए नहीं। इसीलिए उसके रहने की व्यवस्था अस्पताल में थी। इतना बड़ा हॉल था, पर तीन-चार रोगियों से ज्यादा नहीं रहते थे। बहुत सी जगह खाली पड़ी थी। एक कोने में बैठ पढ़ने-लिखने में कोई बाधा नहीं थी। साहब के ही निर्देश पर डिप्टी बाबू ने बंदोबस्त कर दिया था, यद्यपि मन में प्रसन्न नहीं हुए। किंतु कंपाउंडर खुश था। एक गट्ठर कापियां-कागज दिलीप के सिर पर डाल खुद प्रायः पेंशन उपभोग करने लगा। रात जाग-जाग कर उन्हें लिख कर रखना पड़ता उसे। कहीं थोड़ी कमी होने पर वह नाराज होता। इसीलिए दिलीप की परीक्षा की पढ़ाई ताख पर उठ गयी। सुपर यह सब नहीं जानते थे, डिप्टी जान कर भी निर्विकार थे (सरकार-निर्दिष्ट 'शेड्यूल्ड टास्क' न करके कोई 'इनमेट' सिर्फ परीक्षा की पढ़ाई लेकर ही व्यस्त रहे, यह उनके मनोनुकूल नहीं

था)। हेडमास्टर इसे लेकर मायापच्ची नहीं करते, यह अन्य किसी के भी क्षेत्र से बाहर की बात थी। जो कह सकते थे, जो आवश्यकतानुसार साहब की नजर में ला कर सब कुछ का प्रतिकार कर सकते थे, वही आशुबाबू नहीं थे। कई रात अस्पताल में लालटेन की रोशनी में बैठ 'मार्निंग स्टेटमेंट' या 'बेड हेड टिकट' लिखते-लिखते उन्हीं परम स्नेहपारायण और सुहृदय मास्टरजी की याद उसे बार-बार आती। आँखों में आँसू ...र आते।

सुपर का अरदली आकर जब दिलीप को उनके ऑफिस में बुला ले गया, तब वह अकेले बैठे कोई काम कर रहे थे। कुछ क्षण बाद सिर उठा कर बोले, "पढ़ाई कैसी चल रही है?"

दिलीप ने सिर हिला कर बताया, "अच्छी।"

"अच्छी तरह से पास तो हो जाओगे, ना?"

"कोशिश करूँगा।"

"सुनो, तुम्हारी छुट्टी में प्रायः एकाध वर्ष बाकी है। इतने दिन तुम जिस ढंग ... रहे, उससे तुम्हें कुछ माह बाद ही यानी टर्म पूरा होने से पहले ही छोड़ दिया जाता। ...ने जानबूझ कर ही वह कोशिश नहीं की ताकि जाने से पहले तुम मैट्रिक हो जाओ। ... चाहा था। वह व्यवस्था हो गई। अब तुम्हें तैयारी करनी ही पड़ेगी।"

दिलीप सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा। साहब फिर बोले, "अपनी माँ की ...ोई चिट्ठी-पत्री तो नहीं मिली तुम्हें?"

"नहीं।" कहने के साथ ही साग्रह दृष्टि उठा कर देखा। हठात् यह बात क्यों ...छी साहब ने? तब क्या कोई नयी आशा का सूत्र कहीं दिखाई पड़ा है? सुपर ने ...ायद उसकी आँखों का उद्वेगाकुल प्रश्न पढ़ लिया। उसी के उत्तर में धीरे-धीरे बोले, ...हमारी ओर से जितना संभव था, हमने खोज-खबर ली। फिर भी उसे ठीक चेष्टा ...रना नहीं कहा जा सकता। वह तुम बाहर जाने पर करना, और मुझे विश्वास है ...म्हें अधिक दिन अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इस बारे में आशुबाबू तुम्हारी मदद करेंगे। ...ह इस समय कलकत्ता में ही हैं। उनका पत्र नहीं मिला?"

"मिला था, सर।"

"रिहाई के बाद उनके पास चले जाना। उनकी यही इच्छा है। मुझे लिखा ... तुम्हें बताने को। मैं भी एक दिन उनका प्रेस देखने जाऊँगा। शायद वहीं फिर तुमसे ...लाकात हो।"

घोष साहब यहाँ थोड़ा रुके, एक बार उसके आनत मुख की ओर देखा, फिर ...ले, "तुम्हें तो पता चल ही गया होगा मैं जा रहा हूँ।"

'जा रहा हूँ' शब्द घोष साहब ने शायद सहज स्वर में ही कहे थे। किंतु ...लीप के कान में वे बहुत गहरी पीड़ा ले कर पहुँचे। साहब जा रहे हैं यह

अजाना नहीं था। उसके लिए प्रस्तुत हो कर ही आया था। मन-ही-मन सोच रखा था, इसके बाद फिर शायद उनके साथ ऐसे एकांत में मुलाकात न हो, अभी ही वह साहब को अपनी दीर्घ संचित कृतज्ञता जता देगा। कहेगा, 'आपका स्नेह मैं कभी नहीं भूलूंगा। अगर कभी कोई अपराध कर बैठा हूं, तो उसके लिए क्षमा कर दें।' किंतु उनके मुंह से 'जा रहा हूँ' शब्द उच्चारित होते ही उसकी छाती अंदर से अव्यक्त वेदना से भर उठी। कुछ भी नहीं बोल सका। सिर्फ पास जा कर उनके पैरों में मौन प्रणाम कर सिर झुकाए बाहर निकल आया।

नये सुपर के आने में देर थी। जितने दिन नहीं आयेंगे, उतने दिन तक 'एक्टिंग' का भार डिप्टी सुपर संतोष सेन पर पड़ा। अधिकार हाथ में आते ही उन्होंने, जिसे शाब्दिक अर्थ में 'रूल ऑफ लॉ' कहते हैं, उसी के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग की घोषणा की। सहकर्मियों को बुला कर बोले, "रूल मैंने नहीं बनाये हैं, उनके फलाफल की चिंता करने का अधिकार हमें नहीं दिया गया है। हमारा एकमात्र कार्य उन्हें निर्विकार मानते चलना है। याद रखें यही हमारा वेद, कुरान और बाइबिल है", कह कर उन्होंने अत्यधिक प्रयोग में जीर्ण जेल कोड उठा कर सबकी आँखों के सामने रख दिया।

उसी सनातन 'रूटीन' का पुनः प्रवर्तन हुआ—ड्रिल, बैंड, दो घंटे स्कूल, [illegible] घंटे वर्कशाप, एक घंटा खेल। आठ से अठारह—सभी वयस के लड़कों के लिए एक ही नियम था। वस्ट्राल और इंडस्ट्रियल, दोनों ही दल एक नियम से बँधे थे। दिलीप को भी उसमें पड़ना पड़ा। अंत में उसे घोष साहब ने ड्रिल से छुटकारा दे दिया था। वह 'अनुचित प्रीविलेज' समाप्त कर दिया गया। सुअवसर पाकर ड्रिलमास्टर ने अपना पुराना आक्रोश उतार लेने की तैयारी की। इतने दिनों के अनभ्यास से, छोटी-बड़ी भूल-त्रुटियाँ जो अनिवार्य थीं, सब बड़ी होकर दिखाई दीं। दंडस्वरूप नियमित अतिरिक्त ड्रिल की व्यवस्था हुई। पढ़ने के समय अन्य सबकी भाँति दो घंटे आ कर खड़े हो। उसके साथ पूरे पाँच घंटे प्रेस का काम करना होता है। केवल एक अनियम नये सुपर ने बरदाश्त कर लिया। अस्पताल से हटा कर उसे बैरक में नहीं रखा गया। पढ़ना चाहो तो पढ़ो, यदि पास हो सकते हो, तो बुरा क्या है? स्कूल का नाम होगा। किंतु इसके लिए कानून का उल्लंघन कर कोई अतिरिक्त सुविधा नहीं दी जा सकती। इस व्यवस्था को नितांत दयावश हो कर ही संतोष बाबू ने कायम रखा। इसके साथ ही कंपाउण्डर थोड़ा और सदय हुआ। क्लर्कों के साथ थोड़ा नर्सगीरी भी दिलीप के सि[illegible] पर लाद दी। संध्या के बाद रोगियों को औषधि-पथ्य खिलाना, उनकी जाँच करना, आवश्यकतानुसार माथे पर 'आइसबैग' रखना और इसी प्रकार के दूसरे कई का[म] करना। उसे समझाया, सेवा से बढ़ कर और क्या बड़ा धर्म है? इसके अलावा [illegible] जग कर किताब रटने से क्या होगा? इससे तो यह काम सीख लो। आखिर में का[illegible]

देगा।" अतः परीक्षा के अंत के संबंध में चिंता छोड़ दिलीप को इस नये आदर्श में आत्म-नियोग करना पड़ा।

लेफ्टीनेंट घोष के राजत्व में एक और भीषण अनियम चलता रहा था। वही उसके प्रवर्तक थे।

इस प्रतिष्ठान के लिखित कानून में 'स्टार' होने का अधिकार सिर्फ उन्हीं लड़कों को था, जिन्हें 'वस्ट्राल स्कूल्स एक्ट' में सजा हो, अर्थात् सोलह से इक्कीस तक की उम्र के हों। 'इंडस्ट्रियल वॉयज' अर्थात् आठ से पंद्रह तक की उम्र के लड़के इस अधिकार से वंचित थे। 'स्टार वॉय' जितनी अतिरिक्त सुविधाएँ माँग करते, उनमें प्रधान सुविधा साधारण खाद्यतालिका के अलावा थोड़ी मछली-मांस-अंडा-दूध का अलग राशन शामिल है। एकदम 'थोड़ा' नहीं, दैनिक ढाई छटाँक मछली और मांस या उनके वदले दो अंडे। निरामिष भोजियों के लिए दूध की वैकल्पिक व्यवस्था था।

घोष साहव तव नये-नये आये थे। एक दिन 'फीडिंग परेड' का निरीक्षण करने जा कर उनकी नजर पड़ी, कुछ वड़े लड़के 'मांस करी' खा रहे हैं और उनकी वगल में वैठे छोटे लड़कों का दल सिर्फ दाल-भात खा रहा है। कोई-कोई लड़का फैली आँखों से भाग्यवान दादाओं के थालों की ओर ताक रहे थे और प्राणपण से पत्ते चाट रहे थे।

"उनका मांस कहाँ है?" किंचित रुक्ष स्वर में साहव ने चीफ ऑफीसर से पूछा था।

"जी, वे कल पायेंगे। कल 'जनरल फाइल है।"

"ये लोग तो आज खा रहे हैं?"

चीफ ऑफीसर हँसे—नये साहव की अज्ञानता पर किंचित करुणा की हँसी! फिर वोले, "जी हुजूर, ये 'स्पेशल' हैं। 'स्टार' हैं ना ये। इनके लिए अलग व्यवस्था है।"

"वहुत अच्छी व्यवस्था है! वड़े-वड़े अच्छा खायें और वच्चे वैठ-वैठे हाथ चाटें।"

तुरंत ऑफिस में लौट कर डिप्टी सुपर को वुला कर देखना चाहा कि 'रूल्स' क्या है। फिर देखा गया मोटी किताव को सशव्द टेविल पर फेंक, अपनी पतली छड़ी वगल में दवा कर वह खटखट करते वाहर निकल गये। किंतु मामला समाप्त नहीं हुआ। दो दिन वाद फिर डिप्टी की वुलाहट हुई। उनके आते ही, किसी प्रकार की भूमिका वांधे या परामर्श किये विना सीधे-सीधे वोले, "आपके 'स्टार' प्रभु लोग जितना अलग मछली-मांस पाते हैं उसमें साधारण लड़कों का पावना मिला कर एक साथ खाना वनाने को कह दीजिए।"

डिप्टी निर्देश ठीक से न समझ जिज्ञासु दृष्टि से ताकते रहे थे। तव वाकी

अजाना नहीं था। उसके लिए प्रस्तुत हो कर ही आया था। मन-ही-मन सोच रखा था, इसके वाद फिर शायद उनके साथ ऐसे एकांत में मुलाकात न हो, अभी ही वह साहव को अपनी दीर्घ संचित कृतज्ञता जता देगा। कहेगा, 'आपका स्नेह मैं कभी नहीं भूलूंगा। अगर कभी कोई अपराध कर वैठा हूं, तो उसके लिए क्षमा कर दें।' किंतु उनके मुंह से 'जा रहा हूँ' शब्द उच्चारित होते ही उसकी छाती अंदर से अव्यक्त वेदना से भर उठी। कुछ भी नहीं वोल सका। सिर्फ पास जा कर उनके पैरों में मौन प्रणाम कर सिर झुकाए वाहर निकल आया।

नये सुपर के आने में देर थी। जितने दिन नहीं आयेंगे, उतने दिन तक 'एक्टिंग' का भार डिप्टी सुपर संतोष सेन पर पड़ा। अधिकार हाथ में आते ही उन्होंने, जिसे शाब्दिक अर्थ में 'रूल ऑफ लॉ' कहते हैं, उसी के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग की घोषणा की। सहकर्मियों को वुला कर वोले, "रूल मैंने नहीं वनाये हैं, उनके फलाफल की चिंता करने का अधिकार हमें नहीं दिया गया है। हमारा एकमात्र कार्य उन्हें निर्विकार मानते चलना है। याद रखें यही हमारा वेद, कुरान और वाइविल है", कह कर उन्होंने अत्यधिक प्रयोग में जीर्ण जेल कोड उठा कर सवकी आंखों के सामने रख दिया।

उसी सनातन 'स्टीन' का पुनः प्रवर्तन हुआ—ड्रिल, वैंड, दो घंटे स्कूल, पांच घंटे वर्कशाप, एक घंटा खेल। आठ से अठारह—सभी वयस के लड़कों के लिए एक ही नियम था। वस्ट्राल और इंडस्ट्रियल, दोनों ही दल एक नियम से वंधे थे। दिलीप को भी उसमें पड़ना पड़ा। अंत में उसे घोष साहव ने ड्रिल से छुटकारा दे दिया था। वह 'अनुचित प्रीविलेज' समाप्त कर दिया गया। सुअवसर पाकर ड्रिलमास्टर ने अपना पुराना आक्रोश उतार लेने की तैयारी की। इतने दिनों के अनभ्यास से, छोटी-वड़ी भूल-त्रुटियाँ जो अनिवार्य थीं, सव वड़ी होकर दिखाई दीं। दंडस्वरूप नियमित अतिरिक्त ड्रिल की व्यवस्था हुई। पढ़ने के समय अन्य सवकी भांति दो घंटे आ कर खड़े हो। उसके साथ पूरे पाँच घंटे प्रेस का काम करना होता है। केवल एक अनियम नये सुपर ने वरदाश्त कर लिया। अस्पताल से हटा कर उसे वैरक में नहीं रखा गया। पढ़ना चाहो तो पढ़ो, यदि पास हो सकते हो, तो वुरा क्या है? स्कूल का नाम होगा। किंतु इसके लिए कानून का उल्लंघन कर कोई अतिरिक्त सुविधा नहीं दी जा सकती। इस व्यवस्था को नितांत दयावश हो कर ही संतोष वावू ने कायम रखा। इसके साथ ही कंपाउण्डर थोड़ा और सदय हुआ। क्लर्कों के साथ थोड़ा नर्सगीरी भी दिलीप के सिर पर लाद दी। संध्या के वाद रोगियों को औषधि-पथ्य खिलाना, उनकी जाँच करना, आवश्यकतानुसार माथे पर 'आइसवैग' रखना और इसी प्रकार के दूसरे कई काम करना। उसे समझाया, सेवा से वढ़ कर और क्या वड़ा धर्म है? इसके अलावा रात जग कर किताव रटने से क्या होगा? इससे तो यह काम सीख लो। आखिर में काम

देगा।" ग्रतः परीचा के ग्रंत के संवंव में चिंता छोड़ दिलोप को इस नये ग्रादर्श में ग्रात्म-नियोग करना पड़ा।

लेफ्टीनेंट घोप के राजत्व में एक ग्रौर भीपण ग्रनियम चलता रहा था। वही उसके प्रवर्तक थे।

इस प्रतिष्ठान के लिखित कानून में 'स्टार' होने का ग्रधिकार सिर्फ उन्हीं लड़कों को था, जिन्हें 'वस्ट्राल स्कूल्स एक्ट' में सजा हो, ग्रर्थात् सोलह से इक्कीस तक की उम्र के हों। 'इंडस्ट्रियल वॉयज' ग्रर्थात् ग्राठ से पंद्रह तक की उम्र के लड़के इस ग्रधिकार से वंचित थे। 'स्टार वॉय' जितनी ग्रतिरिक्त सुविधाएँ माँग करते, उनमें प्रधान सुविधा साधारण खाद्यतालिका के ग्रलावा थोड़ी मछली-मांस-ग्रंडा-दूध का ग्रलग राशन शामिल है। एकदम 'थोड़ा' नहीं, दैनिक ढाई छटाँक मछली ग्रौर मांस या उनके वदले दो ग्रंडे। निरामिप भोजियों के लिए दूध की वैकल्पिक व्यवस्था था।

घोप साहव तव नये-नये ग्राये थे। एक दिन 'फीडिंग परेड' का निरीक्षण करने जा कर उनकी नजर पड़ी, कुछ वड़े लड़के 'मांस करी' खा रहे हैं ग्रौर उनकी वगल में वैठे छोटे लड़कों का दल सिर्फ दाल-भात खा रहा है। कोई-कोई लड़का फैली ग्राँखों से भाग्यवान दादाग्रों के थालों की ग्रोर ताक रहे थे ग्रौर प्राणपण से पत्ते चाट रहे थे।

"उनका मांस कहाँ है ?" किंचित रुक्ष स्वर में साहव ने चीफ ग्रॉफीसर से पूछा था।

"जी, वे कल पायेंगे। कल 'जनरल फाइल है।"

"ये लोग तो ग्राज खा रहे हैं ?"

चीफ ग्रॉफीसर हँसे—नये साहव की ग्रज्ञानता पर किंचित करुणा की हँसी ! फिर वोले, "जी हुजूर, ये 'स्पेशल' हैं। 'स्टार' हैं ना ये। इनके लिए ग्रलग व्यवस्था है।"

"वहुत ग्रच्छी व्यवस्था है ! वड़े-वड़े ग्रच्छा खायें ग्रौर वच्चे वैठ-वैठे हाथ चाटें।"

तुरंत ग्रॉफिस में लौट कर डिप्टी सुपर को वुला कर देखना चाहा कि 'रूल्स' त्या [illegible]। फिर देखा गया मोटी किताव को सशब्द टेविल पर फेंक, ग्रपनी पतली छड़ी वगल में दवा कर वह खटखट करते वाहर निकल गये। किंतु मामला समाप्त नहीं हुग्रा। दो दिन वाद फिर डिप्टी की वुलाहट हुई। उनके ग्राते ही, किसी प्रकार की भूमिका वांधे या परामर्श किये विना सीधे-सीधे वोले, "ग्रापके 'स्टार' प्रभु लोग जितना ग्रलग मछली-मांस पाते हैं उसमें साधारण लड़कों का पावना मिला कर एक साथ खाना वनाने को कह दीजिए।"

डिप्टी निर्देश ठीक से न समझ जिज्ञासु दृष्टि से ताकते रहे थे। तव वाकी

अजाना नहीं था। उसके लिए प्रस्तुत हो कर ही आया था। मन-ही-मन सोच रखा था, इसके बाद फिर शायद उनके साथ ऐसे एकांत में मुलाकात न हो, अभी ही वह साहब को अपनी दीर्घ संचित कृतज्ञता जता देगा। कहेगा, 'आपका स्नेह मैं कभी नहीं भूलूंगा। अगर कभी कोई अपराध कर बैठा हूँ, तो उसके लिए क्षमा कर दें।' किंतु उनके मुंह से 'जा रहा हूँ' शब्द उच्चारित होते ही उसकी छाती अंदर से अव्यक्त वेदना से भर उठी। कुछ भी नहीं बोल सका। सिर्फ पास जा कर उनके पैरों में मौन प्रणाम कर सिर झुकाए बाहर निकल आया।

नये सुपर के आने में देर थी। जितने दिन नहीं आयेंगे, उतने दिन तक 'एक्टिंग' का भार डिप्टी सुपर संतोष सेन पर पड़ा। अधिकार हाथ में आते ही उन्होंने, जिसे शाब्दिक अर्थ में 'रूल ऑफ लॉ' कहते हैं, उसी के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग की घोषणा की। सहकर्मियों को बुला कर बोले, "रूल मैंने नहीं बनाये हैं, उनके फलाफल की चिंता करने का अधिकार हमें नहीं दिया गया है। हमारा एकमात्र कार्य उन्हें निर्विकार मानते चलना है। याद रखें यही हमारा वेद, कुरान और बाइबिल है", कह कर उन्होंने अत्यधिक प्रयोग में जीर्ण जेल कोड उठा कर सबकी आँखों के सामने रख दिया।

उसी सनातन 'रुटीन' का पुनः प्रवर्तन हुआ—ड्रिल, बैंड, दो घंटे स्कूल, ... घंटे वर्कशाप, एक घंटा खेल। आठ से अठारह—सभी वयस के लड़कों के लिए एक ही नियम था। बस्ट्राल और इंडस्ट्रियल, दोनों ही दल एक नियम से बंधे थे। दिलीप को भी उसमें पड़ना पड़ा। अंत में उसे घोष साहब ने ड्रिल से छुटकारा दे दिया था। वह 'अनुचित प्रीविलेज' समाप्त कर दिया गया। सुअवसर पाकर ड्रिलमास्टर ने अपना पुराना आक्रोश उतार लेने की तैयारी की। इतने दिनों के अनभ्यास से, छोटी-बड़ी भूल-त्रुटियाँ जो अनिवार्य थीं, सब बड़ी होकर दिखाई दीं। दंडस्वरूप नियमित अतिरिक्त ड्रिल की व्यवस्था हुई। पढ़ने के समय अन्य सबकी भाँति दो घंटे आ कर खड़े हो। उसके साथ पूरे पाँच घंटे प्रेस का काम करना होता है। केवल एक अनियम नये सुपर ने बरदाश्त कर लिया। अस्पताल से हटा कर उसे बैरक में नहीं रखा गया। पढ़ना चाहो तो पढ़ो, यदि पास हो सकते हो, तो बुरा क्या है? स्कूल का नाम होगा। किंतु इसके लिए कानून का उल्लंघन कर कोई अतिरिक्त सुविधा नहीं दी जा सकती। इस व्यवस्था को नितांत दयावश हो कर ही संतोष बाबू ने कायम रखा। इसके साथ ही कंपाउण्डर थोड़ा और सदय हुआ। क्लर्कों के साथ थोड़ा नर्सगीरी भी दिलीप के सिर पर लाद दी। संध्या के बाद रोगियों को औषधि-पथ्य खिलाना, उनकी जांच करना, आवश्यकतानुसार माथे पर 'आइसबैग' रखना और इसी प्रकार के दूसरे कई काम करना। उसे समझाया, सेवा से बढ़ कर और क्या बड़ा धर्म है? इसके अलावा रात जग कर किताब रटने से क्या होगा? इससे तो यह काम सीख लो। आखिर में काम

देगा।" अतः परीक्षा के अंत के संबंध में चिंता छोड़ दिलीप को इस नये आदर्श में आत्म-नियोग करना पड़ा।

लेफ्टीनेंट घोष के राजत्व में एक और भीषण अनियम चलता रहा था। वही उसके प्रवर्तक थे।

इस प्रतिष्ठान के लिखित कानून में 'स्टार' होने का अधिकार सिर्फ उन्हीं लड़कों को था, जिन्हें 'वस्ट्राल स्कूल्स एक्ट' में सजा हो, अर्थात् सोलह से इक्कीस तक की उम्र के हों। 'इंडस्ट्रियल वॉयज' अर्थात् आठ से पंद्रह तक की उम्र के लड़के इस अधिकार से वंचित थे। 'स्टार वॉय' जितनी अतिरिक्त सुविधाएँ माँग करते, उनमें प्रधान सुविधा साधारण खाद्यतालिका के अलावा थोड़ी मछली-मांस-अंडा-दूध का अलग राशन शामिल है। एकदम 'थोड़ा' नहीं, दैनिक ढाई छटाँक मछली और मांस या उनके वदले दो अंडे। निरामिष भोजियों के लिए दूध की वैकल्पिक व्यवस्था था।

घोष साहव तव नये-नये आये थे। एक दिन 'फीडिंग परेड' का निरीक्षण करने जा कर उनकी नजर पड़ी, कुछ वड़े लड़के 'मांस करी' खा रहे हैं और उनकी वगल में वैठे छोटे लड़कों का दल सिर्फ दाल-भात खा रहा है। कोई-कोई लड़का फैली आँखों से भाग्यवान दादाओं के थालों की ओर ताक रहे थे और प्राणपण से पत्ते चाट रहे थे।

"उनका मांस कहाँ है ?" किंचित रुक्ष स्वर में साहव ने चीफ ऑफीसर से पूछा था।

"जी, वे कल पायेंगे। कल 'जनरल फाइल है।"

"ये लोग तो आज खा रहे हैं ?"

चीफ ऑफीसर हँसे—नये साहव की अज्ञानता पर किंचित करुणा की हँसी ! फिर वोले, "जी हुजूर, ये 'स्पेशल' हैं। 'स्टार' हैं ना ये। इनके लिए अलग व्यवस्था है।"

"वहुत अच्छी व्यवस्था है ! वड़े-वड़े अच्छा खायें और वच्चे वैठ-वैठे हाथ चाटें।"

तुरंत ऑफिस में लौट कर डिप्टी सुपर को वुला कर देखना चाहा कि 'रूल्स' क्या है। फिर देखा गया मोटी किताव को सशब्द टेविल पर फेंक, अपनी पतली छड़ी वगल में दवा कर वह खटखट करते वाहर निकल गये। किंतु मामला समाप्त नहीं हुआ। दो दिन वाद फिर डिप्टी की वुलाहट हुई। उनके आते ही, किसी प्रकार की भूमिका वाँधे या परामर्श किये विना सीधे-सीधे वोले, "आपके 'स्टार' प्रभु लोग जितना अलग मछली-माँस पाते हैं उसमें साधारण लड़कों का पावना मिला कर एक साथ खाना वनाने को कह दीजिए।"

डिप्टी निर्देश ठीक से न समझ जिज्ञासु दृष्टि से ताकते रहे थे। तव वाकी

अंश सुपर ने पूरा किया, "और कह दीजिए, उसका सब में समान बटवारा किया जाय।"

"ऐसा कैसे हो सकता है, सर ?" संतोषबाबू ने प्रतिवाद किया, "स्टार, लड़कों का 'एक्स्ट्रा एलाउंस' अलग पकाने की ही बात है। सरकारी मंजूरी है।"

"वह तो है, किंतु वस्तुस्थिति की मंजूरी नहीं है। अपना पावना वे सबके साथ मिल कर भोग करें, यही मेरी इच्छा है।"

डिप्टी कह सकते थे—आपकी इच्छा से कानून बदला नहीं जा सकता। लेकिन बोले नहीं। ऊपर वालों से सब बातें नहीं कही जा सकतीं। फिर भी, कर्त्तव्य के अनुरोध में यह बात कहे बिना वह रह नहीं सके कि यह मामला लेकर 'स्टार' लड़के गोलमाल कर सकते हैं। घोष साहब यह नहीं मान सके कि उन्होंने लड़कों पर कोई विशेष भार डाला है। संक्षेप में बोले, "अच्छा, वे जब करेंगे, तब देखा जायगा।"

डिप्पी का अनुमान निर्मूल नहीं था, यह पहले दिन ही पता चल गया। 'स्टार' वर्ग में एक दबा असंतोष देखा गया। कई जनों ने गोश्त नहीं खाया। एक 'स्टार' ने तो पूरा अनशन अर्थात् पूरे एक दिन का 'हंगर स्ट्राइक' शुरू कर दिया। साहब ने उनमें से कुछ को बुला भेजा था। बोले थे, "तुममें से बहुतों के बड़े भाई हैं। क्यों है ना?" किसी-किसी ने सिर हिलाया।

"अच्छा, घर एक साथ खाने बैठने पर माँ क्या करती है? अगर वह मछली का कलिया सब उसकी थाली में डाल दे और तुम्हें सिर्फ दाल, चच्चड़ी (सस्ते ढंग की सब्जी) दे ? तुम्हें क्या यह अच्छा लगेगा ? और क्या तुम्हारे दादा को भी छोटे भाई के सामने बैठ कर अकेले-अकेले मछली का सिर चबाने में लज्जा न आयगी ?"

'स्टार' लड़कों का दल घूम रह कर सुनता रहा। यह 'स्कूल-मास्टरी' उपदेश किसी को अच्छा नहीं लगा। वे नीति वचन सुनने के लिए बस्ट्राल जेल में नहीं आये हैं। साहब मन-ही-मन हँसे। भाषा कोमल होने पर भी दृढ़ भाव से जता दिया, उनके आगे छोटे-बड़े सभी लड़के समान हैं। इसलिए खाने-पहनने के मामले में कोई इतर-विशेष नहीं होने देंगे।

अंदर-ही-अंदर आंदोलन चलता रहा। कर्मचारियों में से भी एक-दो जन उसमें गुप्त रूप से ईंधन देने लगे। स्वयं डिप्टी के सक्रिय रूप से उस दल में न होने पर भी, उनका मानसिक समर्थन इनकी ओर ही रहा। किंतु साहब को तनिक भी विचलित नहीं देखा गया। बाद में फिर जिस दिन मछली की बारी थी, सारा खाना एक साथ पकवा कर उन्होंने खुद खड़े रह कर समान रूप से परोसवाया था। इस दिन फिर एक के अलावा और कोई न लेने वाले दल में न रहा। दिनेश सरकार इक्कीस की उम्र पार कर चुका था, सजा भी बस्ट्राल कानून में नहीं थी। किसी एक सेंट्रल जेल में 'धोखेबाजी' के मामले में सजा भोग रहा था। वहाँ के सुपर की सिफारिश पर और इंस्पेक्टर-जनरल

की विशेष कोशिश से जेल की सजा को वस्ट्राल मियाद में वदला गया था। उस दिन भी वह खाने नहीं आया था, आज भी उसे खाने की पंगत में नहीं देखा गया। मालूम करने पर पता चला कि वह इस वार विधिवत् नोटिस देकर हंगर स्ट्राइक कर रहा है और जितने दिन तक यह गैर कानूनी आदेश रद्द न होगा, अनशन जारी रहेगा।

घोष साहव के चेहरे पर वही रहस्यमयी हँसी फिर एक वार दिखाई दी। चीफ ऑफीसर को वुला कर वोले, "उसे सेल में भेज दो। वहाँ पानी के अलावा और कुछ न रहे। जो गार्ड रहे, वह उस पर नजर रखे, पर वातचीत न करे और किसी को भी उसके पास न फटकने दे।"

चौवीस घंटे पूरे होते ही संतोष सेन एक नीले मलट की पुस्तिका हाथ में लिये उदास मुँह से साहव के कमरे में पहुँचे। शांत स्वर में वोले, "अव रिपोर्ट भेजनी ही होगी, सर, और देर करने से नहीं चलेगा।"

"किसकी रिपोर्ट ?" सुपरिटेंडेंट ने प्रश्न किया।

"हंगर स्ट्राइक की।"

"ओह !"

"एक कापी आई० जी० और एक कापी सीधे होम सेक्रेटरी को।"

"होम सेक्रेटरी को....!"

"जी हाँ। देखिए ना ? रूल कहता है, 'टू वी एड्रेस्ड टू दि होम सेक्रेटरी, वाई नेम। नाम में भेजनी होगी।"

"ठीक है, भेज दीजिए। इसके साथ लिख दीजिए, अपना होम मैं ही सम्हा-लूंगा, होम सेक्रेटरी की जरूरत नहीं पड़ेगी।"

संतोष वावू ने आखिरी वात पर ध्यान नहीं दिया। चले जाने के लिए पैर वढ़ाने के वाद घूम कर खड़े हो गये, चितान्वित मुख से वोले, "हंगर स्ट्राइक क्यों हुआ, उसकी शिकायत क्या है, यह भी तो लिखना होगा। यहाँ लिखा है...." कह कर नीचे मलट की पुस्तक खोलने जा रहे थे। साहव ने उसकी अपेक्षा न कर कहा, "ठीक है, तो वही लिख दीजिए; 'स्टार' लड़कों का अतिरिक्त राशन अन्य सव में वांटा जा रहा है, इसीलिए उसे गुस्सा है। इसी से नहीं खा रहा है।"

"यह लिखना ठीक होगा क्या ?"

"क्यों नहीं ठीक होगा ? ऐसा लिखने पर ही तो अधिकारी लोग ध्यान नहीं देते। 'हंगर स्ट्राइक के मारे अगर...."

"अच्छा, आज सिर्फ 'प्लेन रिपोर्ट' ही भेजी जाय ! अगर 'परसिस्ट' करेंगे तो वाद में देखा जायगा।"

संतोष वावू की कोशिश से प्राथमिक रिपोर्ट में कारण का उल्लेख नहीं रहा। 'फरदर रिपोर्ट फॉलोज' लिख कर सिर्फ खवर भेज दी गई।

दिखाई पड़ता है। जो चालक हैं अगर वही अवाध चालन में अक्षम हों, तो विशेष कर नट-वोल्ट उन्हें अच्छी नजर से नहीं देखते। दवाव तो ज्यादा कर के उन पर ही पड़ता है।

संतोष वावू ने नट-वोल्टों को थोड़ा और 'टाइट' करने जा कर विपत्ति खड़ी कर दी। एक 'स्टार' ने एक इंडस्ट्रियल लड़के की थाली में मच्छी का एक टुकड़ा सरका दिया था, पर पहरे पर नियुक्त 'पेटी ऑफीसर' ने देख कर भी वाधा नहीं दी या चीफ से रिपोर्ट नहीं की। इस अपराध में उन्होंने दो लड़कों को तो सजा दी ही, पेटी ऑफीसर पर भी जुर्माना कर वैठे।

उसके वाद किसने कहाँ क्या किया, ठीक से समझा नहीं जा सका। दो दिन वाद ही गोश्त की वारी थी; अर्थात् जिस दिन एक वूंद झोल या एक टुकड़ा हड्डी का दाम जीवन से वहुत ज्यादा होता है। जिस दिन आँखें वंद कर सूखी हड्डी चूसने का दृश्य देख घोष साहव ने एक वार आशुवावू के कान में कहा था, 'देख लीजिए, मुनियों का एक झुंड समाधि में वैठा है, इस क्षण दुनिया उलट जाने पर भी वे जान नहीं सकेंगे।' उसी दिन उस परम वस्तु की हांडी के सामने रखे होने पर भी 'स्टार' को छोड़ वाकी सभी वालकों और किशोरों का झुंड गंभीर मुख से वोल उठा था, 'गोश्त नहीं खायेंगे।' छोटों के मन में क्षोभ दिखाई देने पर भी वह 'न खाने' का रूप ले लेता है। वस्ट्राल के कर्मचारी यह जानते थे। इसके साथ ही यह भी जानते थे जिन दुराग्रहियों के दल को ले कर उन्हें काम करना पड़ता है, वे भी ऐसे ही चिरंतन शिशु और किशोर हैं। चारों ओर की ऊँची दीवार और ढेर सारे कानूनों के वंधन से घिरे वे भी वही हैं। इसलिए जव इस प्रकार की 'न खाने' की धमकी दी जाती है, तव चीफ ऑफीसर और उनके अनुचरों का काम वढ़ जाता है। इसे उनके सरकारी ड्यूटी-रोस्टर में लिखा नहीं जाता। किसी की पीठ पर हाथ रख कर, किसी को डाँट कर, किसी से दो मीठी वातें करके— इस तरह के छोटे-मोटे मुष्टि योग दे कर ही वे सारे झंझट मिटा लेते थे। वड़े अफसरों के दरवार में किसी को जाना नहीं पड़ता। किंतु आज उन्होंने यह उपाय नहीं अपनाया। 'गोश्त नहीं खायेंगे'? ठीक है। जिनकी ड्यूटी फीडिंग शेड में थी, उनका काम चीफ को वता देना था। चीफ का काम साहव को रिपोर्ट देना था। इतना कर के ही उनका कर्तव्य पूरा हो जाता।

साहव ने आ कर सारे दल को डांटा, कठोर सजा का भय दिखाया। यह तक कहा कि कानून की दृष्टि में इस ढंग का 'मास एक्शन' अर्थात् दलवद्ध उल्लंघन का नाम 'म्यूटिनी' (वगावत) है, जिसका दंड वहुत भारी होता है। सव ने सिर झुकाए चुपचाप उनकी वात सुन ली। तीन दिन वाद फिर मछली की वारी आने पर देखा गया, लड़के दाल और तरकारी से सारा भात खा कर थाली ले उठ गये। 'मछली' नाम का एक पदार्थ भी उनकी खाद्य तालिका में है, यह वात जैसे कोई जानता है

न हो।

संतोष बाबू ने तय किया 'रिंग लीडरों' को अलग करना होगा। चीफ को बुला कर हुक्म दिया, 'पंडों को सेल में भेज दो।'

चीफ ने पॉकिट से नोटबुक और पगड़ी के अंदर से पेंसिल निकाल कर सविनय पूछा, "किसे-किसे भेजूं, सर ?"

"किसे-किसे भेजोगे, यह मुझे बताना पड़ेगा ?" सुपर झल्ला उठे।

"जी, मुझे तो पता नहीं उनके पंडे कौन-कौन हैं।"

"ठीक है तो मैं ही बताऊँगा।"

'स्टारों' में से दो-तीन को खुफियागीरी के काम में लगाया गया। जो लड़के उन्हें किसी कारण खुश नहीं कर सके थे, उनमें से कुछ के नाम उन्होंने गुप्त रूप से आ कर साहब को बता दिये। साहब ने तत्त्वण उन लड़कों को बुलवाया और कड़ाई से डाँटा। सेल में ठूंस देने का डर दिखा कर अंत में छोड़ दिया। दिलीप का नाम किसी सूत्र से न मिलने पर भी, खुद ही उसे बुला भेजा। उससे धमकी के स्वर में बोले, "लगता है, तुम भी इस आंदोलन में हो ?"

उसने जब बताया कि उसका किसी आंदोलन में योग नहीं है, तब और भी क्रुद्ध हो उठे, "फिर मांस-मछली क्यों नहीं खाते ?"

"मांस-मछली मैं नहीं खाता, सर।"

"तेरी सब चालाकी समझता हूँ मैं।"

दिलीप और कोई बात नहीं बोला। यहाँ आने के बाद कुछ ही दिन उसने आमिष खाना खाया था, बहुत कुछ केशव और बहादुर के आग्रह से। उसके बाद छोड़ दिया था। मछली का टुकड़ा थाली में पड़ते ही उसे अपनी माँ की याद आ जाती। उनके उस छोटे रसोईघर में आमिष का काम नहीं था। फिर भी आँगन के कोने में अंगीठी रख कर माँ बीच-बीच में उसके लिए एक-दो टुकड़ा मछली बना देती। उसे खिला कर फिर स्नान करने के बाद रसोईघर में जाती अपने लिए दो मुट्ठी चावल पकाने को। ज्ञान होने के बाद से ही वह विधवा का लड़का था; मछली पर दिलीप का कोई विशेष आकर्षण नहीं था। कहता, "मेरे लिए मछली मत पकाओ, माँ। मुझे अच्छी नहीं लगती। इससे तो तुम्हारी थाली की मूंग की दाल और डाँटा चच्चड़ी (एक सब्जी) बहुत अच्छी है।" माँ नहीं सुनती। कहती, "मछली न खाने पर आँख की ज्योति कम हो जाती है। रोज तो दे नहीं पाती हूँ। दो-तीन दिन के अंतर से एक-दो टुकड़ा खाने में क्या होता है ?"

दिलीप तर्क करता, "यह सब बेकार की बात है। तुम जो नहीं खातीं। लगता है जैसे तुम्हारी आँख खराब नहीं होगी।"

माँ जीभ काट कर बोलती, "छीः छीः यह क्या कह रहा है ? मैं विधवा

जो हूँ।"

वस्ट्राल में जिस दिन मछली आती, विशेषकर उस-उस दिन ये सारी बातें उसे याद आतीं। माँ आज कहाँ है, यह वह नहीं जानता। जहाँ भी हो, 'मुन्ना' के लिए मछली बनाने का काम उनका खत्म हो गया है। इसके साथ ही उसके खाने की बारी भी कम हो गयी है। माँ के हाथ का स्पर्श ही तो एक दिन इस तुच्छ चीज को परम वस्तु बना देता था। अब उसका कोई स्वाद उसके पास नहीं है। मुंह में रखने की ही इच्छा नहीं होती। दो-चार माह किसी-न-किसी तरह चला कर उसने मांस-मछली छोड़ दी थी।

संतोष बाबू ने उसे चुप देख कर स्वर बदला। बोले, "ठीक है, तुम न हो आगे से निरामिष खाओ, पर ये बंदर? वे क्यों नहीं खाते? सोचो, क्या यह अच्छी बात है?"

"उनकी बात वे ही अच्छी तरह बता सकते हैं, सर। एक-दो को बुला कर अगर पूछें...."

"मुझे क्या पड़ी है हर किसी के आगे हाथ फैलाने जाऊँ।" गरज उठे सुपर, "मैं एक पंगत और देखूंगा, उसके बाद एक-एक कर सबके सब 'प्रीविलेज' कम करना शुरू कर दूँगा। चिट्ठी-पत्री, मुलाकात, खेल-बेल....। देखता हूँ, तुम लोग कितना आगे बढ़ सकते हो।"

कुछ मिनट चुप खड़े रहने के बाद दिलीप नमस्कार कर बोला, "मैं जा सकता हूँ, सर?"

सुपर ने कुछ सोचा। एकाएक सिर उठा कर बोले, "सुनो। तुम पढ़ना-लिखना सीख रहे हो। दो दिन बाद मैट्रिकुलेशन की परीक्षा दोगे। तुम तो जानते ही हो, सरकार ने जो व्यवस्था की है, उसके बाहर मैं नहीं जा सकता। मुझसे पहले जो थे, अगर वह अपने जोर पर गैर कानूनी हुक्म चलाते रहे, तो क्या मुझे भी वही मानना होगा?"

दिलीप जैसा था, वैसा ही खड़ा रहा, इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया। सुपर स्वर धीमा कर बोले, "तुम इन गधों को थोड़ा समझाओ, ना? ये सब तुम्हारा आदर करते हैं।"

"मैं कोशिश करूँगा, सर", कह दिलीप एक बार फिर नमस्कार कर निकल आया।

उसी रात एक अप्रत्याशित विचित्र घटना घटी, जिसके फलस्वरूप 'वस्ट्राल' के सारे जीवन ने हठात् नया मोड़ ले लिया।

माह के अंत में सुपर को एक बार 'नाइट राउण्ड' पर निकलना पड़ता है। पहले से न बता कर घोर रात में घूम-घूम कर देखना पड़ता है कि विभिन्न विभागों के सब पेटी ऑफीसर ठीक से घूमकर ड्यूटी दे रहे हैं या तृण-शय्या में लेट कर ही अपनी

दो घंटे की ड्यूटी का समय काट रहे हैं।

उस रात संतोषबाबू यथारीति रात्रि-परिदर्शन पर निकले थे। गेट से ही उनके साथ सहकारी चीफ—पहरे पर तैनात पेटी ऑफीसरों के तत्कालीन भार प्राप्त सरदार—हो लिया था। दाईं ओर के वार्डों को देख, देवदारु-वीथिका की बगल से पश्चिमी सीमा की दीवार पर पहरे का निरीक्षण कर अस्पताल के अहाते में घुसे। ड्यूटी सिपाही दिखाई नहीं दिया। चारों ओर टार्च की रोशनी डाली। चार बैटरियों के जोरदार प्रकाश से प्रत्येक कोना जगमगा उठा। किंतु कहीं भी मनुष्य काया का आभास नहीं मिला। फिर आगे जा कर दाईं ओर मुड़ते ही नजर पड़ी, खिड़की के सीखचों का सहारा ले कर निद्रा की गोद में पहुँचे पेटी ऑफीसर पर। अब टार्च का प्रकाश निद्रा-सुख में लीन चेहरे पर जाकर पड़ा। किंतु नासिका गर्जन के अलावा और कोई जवाब नहीं मिला। इसलिए एक पक्ष की ओर से जवाबी गर्जना जरूरी थी। वही हुआ भी। पूरे अस्पताल की दीवारें सहकारी चीफ बलवंतसिंह की गरजदार हुँकार से गूँज उठीं—'मर गया क्या ?' सिपाही ने चौंक कर लाल-लाल आँखें मलकर देखा, पर तुरंत कुछ समझ नहीं सका। शायद सोचा, भूकंप आया है। कुछ सेकेंड में असली बात भाँपते ही उछल कर खड़ा होने गया। खड़ा नहीं हो सका, तुरंत ही बैठ जाना पड़ा। दूसरी उछाल भरी, फिर बैठ गया। लगातार तीन बार नृत्य की भंगिमा में उत्थान-पतन के बाद बलवंतसिंह ने गरज कर कहा, "ठहर। बुड़बक कहीं का।" सिपाही तब भी नहीं समझ सका कि गड़बड़ी उसके पीछे की गयी है। अर्थात् कमर की बेल्ट खिड़की के सीखचे के साथ बँधी हुई है।

बेल्ट अपने आप नहीं बँध गयी। उसकी गहरी नींद का सुअवसर पा कर किसी अदृश्य हाथ ने वार्ड के भीतर से कब उसे बंदी बना डाला था, यह वह नहीं जान सका। सिपाही थोड़ा दुबला-पतला था। चमड़े की बेल्ट पूरी तरह कस कर नहीं बँध पाती थी। बैठने या लेटने पर ढील और बढ़ जाती थी। उसी के अंदर से एक मजबूत डोरी का टुकड़ा डाल कर बंधन कार्य संपूर्ण करने में कुछ सेकेंड से ज्यादा समय नहीं लगा होगा। खिड़की के एकदम बाहर यह सिमेंट से बना चौड़ा स्थान निद्रा के लिए मनोरम था। वहाँ इतनी बड़ी विपदा छिपी हो सकती है, बेचारा सिपाही महाराज कैसे जान सकता था।

सहकारी चीफ की सहायता से बंधनमुक्त होने के बाद सिपाही ने अपने होश-हवास सम्हाल, अन्नदाता मालिक के सामने दो कदम आगे जाकर एक लंबा सलाम ठोका। फिर हाथ जोड़ कर कातर स्वर में बोला, "कसूर हो गया, हुजूर; माफ कर दीजिए। आप माई-बाप हैं....।" और भी बहुत कुछ कहने जा रहा था, सुपर ने डपट कर चुप कर दिया। उनका वर्तमान लक्ष्य सिपाही के इस सो जाने का 'कसूर' नहीं था, उससे कहीं ज्यादा बड़ा 'कसूर' भीतर से किसी अथवा किन्हीं द्वारा किया गया था।

किंतु अंदर किसी चंचलता या उद्वेग का चिह्नमात्र भी नहीं था। अलग-बगल सात-आठ मच्छरदानी लगी खाटें पड़ी थीं। उनके भीतर जो लड़के थे, वे सजीव प्राणी थे। पर कुछ हाथ की दूरी पर इतना बड़ा कांड हो जाने पर भी उनमें 'प्राण' होने का कोई प्रमाण नहीं मिला।

अगले दिन सुबह होते ही जाँच-पड़ताल शुरू हो गई। साहब ने इसका भार अपने ऊपर ही लिया, घटनास्थल का निरीक्षण समाप्त कर, पिछली रात वार्ड में सोने वाले सभी लड़कों को ऑफिस में तलब किया। उनमें से तीन लड़के शय्याशायी रोगी थे। उन्हें स्ट्रेचर पर लाया गया। घटना कितनी गंभीर है, एक कर्त्तव्यरत सरकारी कर्मचारी को बांध कर रखना कितना भीषण अपराध है, विशेषकर किसी बंदी-निवास के निवासियों के पक्ष में, इस पर एक छोटी वक्तृता दे उन्होंने सीधा प्रश्न किया, "बताओ, यह काम किसने किया ?"

सभी निरुत्तर रहे।

"नहीं बताओगे ?"

इस प्रश्न का भी कोई जवाब नहीं मिला।

सुपर क्षण भर प्रतीक्षा कर बोले, "ठीक है, तो मैं ही उसे खोज निकालूँगा और आशा है तुममें से जो निर्दोष हैं वे मेरी मदद करेंगे।"

यह कह कर वह कुर्सी छोड़ उठ खड़े हुए और एक-एक लड़के के पास जा कर नाक पर उँगली रख कर पूछने लगे, "तुम जानते हो किसने किया ?" प्रत्येक ने सिर हिला कर बताया, वह नहीं जानता। लाइन के अंत में दिलीप खड़ा था। उसी वार्ड में वह बहुत दिनों से रहता था। इस रात भी था। सुपर की तर्जनी अपने ऊपर पड़ते ही वह सिर उठा कर बोला, "जानता हूँ।"

"जानते हो ?" संतोषबाबू जैसे बहुत आश्वस्त हुए। आग्रह के स्वर में बोले, "कौन है, बताओ ?"

"मुझे माफ करें, सर मैं बता नहीं सकता।"

"बता नहीं सकते ? 'डोण्ट यू नो' (क्या नहीं जानते) अन्याय करने के मुकाबले उसका समर्थन करना और भी बड़ा अपराध है ?"

"जानता हूँ।"

"फिर ?…किसलिए उसे बचाना चाहते हो ? दोस्त है इसलिए ?"

"नहीं।"

"तो फिर तुम्हारा क्या स्वार्थ है ?…बोलो।"

दिलीप अनुनय के स्वर में बोला, "इस बार उसे किसी तरह माफ कर दीजिए, सर। मामला इतने बड़े अपराध का है, यह वह शायद ठीक से नहीं जानता था। इसे ले कर थोड़ा मजा आयगा, सोच कर ही…"

"मजा।" गरज उठे सुपर। फिर दवे स्वर में कुछ दृढ़ता से बोले, "अच्छा, मजा किसे कहते हैं तुम लोग भी जान जाओगे।"

फिलहाल निर्णय स्थगित रहा। किंतु उसका फल यथारीति कठोर निकलेगा, इस बारे में किसी को संदेह नहीं रहा। यहाँ-वहाँ छोटे-छोटे दलों में दवे स्वर में सारे दिन यही चर्चा का विषय रहा। सिर्फ लड़कों में ही नहीं, मास्टर, इंस्ट्रक्टर, क्लर्क और सिपाही वर्ग में भी। किसी ने दिलीप को वाहवाही दी, "शावाश बेटे। तुम्हारा दिल कितना मजबूत है।" किसी ने मुंह बिचका कर मंतव्य व्यक्त किया, "ऐसी बहादुरी का कोई मतलब नहीं। कह देने पर ही बच्चू छुटकारा पा जाते।" किसी-किसी शुभाकांक्षी ने उसे बुला कर यही परामर्श दिया। वह बस सुनता रहा, कुछ बोला नहीं।

अगले दिन स्कूल का काम समाप्त होने पर दिलीप जब बाहर निकल रहा था, हेडमास्टर बुला कर बोले, "थोड़ा ठहरो। तुमसे बात करनी है।" फिर सब लड़कों के चले जाने पर उन्होंने कहा, "तुमने क्या किसी को डोरी बाँधते देखा था?"

"नहीं, सर। बाद में सब सुना।"

"तब फिर क्यों कहा कि तुम जानते हो?"

"पहले मैंने अंदाज लगाया था, फिर उसने खुद ही मेरे आगे स्वीकार कर लिया।"

"इसे ठीक से 'जानना' नहीं कहते। सुनी हुई बात सच होने पर भी तुम्हारा दवा जाना उचित था।"

दिलीप सिर झुका कर सुनता रहा। हेडमास्टर साहब बोले, "जब 'जानता हूँ' कह चुके हो, तब नाम बता देने में क्या अड़चन है?"

"उसे मैंने वचन दिया है, सर। इसके अलावा...."

"क्या? बोलो?"

"अभी नहीं, कुछ दिन बाद मैं आपको सब खोल कर बताऊँगा।"

"पर तुमने अपने बारे में एक बार सोचा है?"

"सोच लिया है। कैसी भी सजा भुगतने के लिए तैयार हूँ।"

"सिर्फ सजा ही नहीं, उसके अलावा एक और बात है, जो तुम्हारे हक में और भी गंभीर है।"

हेडमास्टर किस ओर संकेत कर रहे हैं, यह न समझ पा कर दिलीप जिज्ञासु दृष्टि से उनके मुंह की ओर देखता रहा। वह बोले, "मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा, संतोषबाबू ने ही तुमसे कहने को कहा है। शायद तुम नहीं जानते, तुम्हारी परीक्षा के प्रार्थना पत्र के साथ सुपरिंटेंडेंट का एक सार्टिफिकेट लगता है। 'गुड कांडक्ट का सार्टिफिकेट। अब अगर तुम्हें कोई बड़ी सजा हुई, वह तो होगी ही तुम समझ सकते हो, यह सर्टिफिकेट तुम्हें नहीं दिया जायगा। इसका मतलब...."

वाकी वात हेडमास्टर के अव्यक्त रखने पर भी दिलीप ने खुद पूरी कर ली। सामने की खिड़की से वाहर की ओर देखते हुए, वहुत कुछ जैसे अपने से कहता हुआ वोला, "परीक्षा नहीं दी जा सकेगी।"

"फिर भी, इतना वड़ा संकट तुम इच्छा होने पर टाल सकते हो। वस एक वार वता दो, कौन था। यहाँ मुझसे ही कह सकते हो। कोई नहीं जान सकेगा।"

"यह नहीं हो सकता, सर।"

हेडमास्टर विस्मित दृष्टि से अपने इस दीर्घ-परिचित निरीह, शांत, नम्र, लज्जावान और क्षीणकाय छात्र के मुख की ओर देखते रह गये। इतनी दृढ़ता वहाँ उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी, यह दृढ़ संकल्प का अविचल स्वर भी कभी नहीं सुना था। प्रायः सारा जीवन इनके वीच काट देने पर भी वह शायद नहीं जानते थे, अथवा जान कर भी अधिकारी के निर्देश के आगे दवा कर रखे थे कि किशोर मन विधाता की एक अजीव सृष्टि है। वहला कर, मीठी वात करके, स्नेह के स्पर्श से सहला कर उसे सहज में झुकाया जा सकता है। किंतु भय दिखाते ही वह कठोर इस्पात वन जाता है। शासन का प्रहार वहाँ चोट खा कर लौट आता है, भविष्य के शुभाशुभ का विचार प्रभाव पैदा नहीं करता। किशोर सव कुछ मान सकता है, किंतु 'भीति प्रदर्शन' नामक महा अस्त्र के आगे हार स्वीकार करना उसका धर्म नहीं है।

हेडमास्टर ने अंतिम चेष्टा की। वोले, "तुम नहीं समझ रहे हो, दिलीप, एक जिद की खातिर तुम अपना सारा भविष्य नष्ट कर रहे हो। एक वार और अच्छी तरह सोच लो। इतने दिन की इतनी कोशिश, इतना परिश्रम सव वेकार हो जायगा। तुमसे हमें वहुत आशा है।"

मास्टरसाहव के चुप हो जाने के वाद भी दिलीप कुछ देर खिड़की के वाहर लक्ष्यहीन दृष्टि टिकाये निस्पंद खड़ा रहा। फिर सहसा वोल उठा, "मैं नहीं वता सकूँगा, सर।" कह कर और नहीं खड़ा रहा, विदा तक नहीं ली। कितावें सीने से दवाये जल्दी से निकल आया।

हेडमास्टर को न वताने पर भी, और एक जन के पास दिलीप अपने मन की वात दवा कर नहीं रख सका। वह थे प्रेसमास्टर विनोदवावू। अगले दिन काम के वीच फुरसत में उसे एकांत में पा कर वोले, "कौन सा लड़का है, मैं समझ सकता हूँ। पर तुमने उसके लिए अपना सर्वनाश क्यों वुला लिया? उसके साथ तो तुम्हारा कोई विशेष मेल-जोल भी नहीं है। कुछ दिन पहले उसने तुम्हारे नाम पर चीफ ऑफीसर के पास शिकायत भी की थी।"

दिलीप मृदु हँसी हँस कर वोल, "पता है।"

विनोद वावू विरक्त स्वर में वोले, "अगर पता है तो उस पर इतनी दया किसलिए। संतोष सेन सिर्फ तुम्हारी परीक्षा रुकवा कर मान जायेंगे यह मत समझना।

श्रौर भी एक बड़े फन की चोट के लिए तैयार रहो। विजिटिंग कमेटी में तुम्हारा नाम नहीं जायगा। पूरी टर्म भोगने के बाद कहीं छूट सकोगे।"

दिलीप हठात् अन्यमनस्क दिखाई दिया। कुछ क्षण कुछ सोच कर बोला, "यह नुकसान मैं सहूँगा, उसे नहीं सहना होगा?"

"कैसे?"

"जिस पर आप संदेह कर रहे हैं, शचिन, विजिटिंग कमेटी की अगली बैठक में उसका नाम जा रहा है। साहब ने उसके पिता को वचन दिया है। ऐसे वक्त अगर उसे सजा मिली तो वचन भंग हो जायगा। रिहाई पाने में बेचारे को श्रौर देर हो जायगी तब तक उसकी माँ शायद जिंदा नहीं रहेगी। बहुत दिन से बीमार है। कल मुझे उनकी चिट्ठी दिखाई थी।"

विनोद बाबू कहने जा रहे थे, तुम्हारी माँ भी तो तुम्हारे लिए रास्ता देख रही होगी। वह कहाँ है, तुम यह भी नहीं जानते। तुम्हें जा कर उन्हें रास्ते-गली में खोजते फिरना होगा। इस विजिटिंग कमेटी की कृपा तुम्हें भी चाहिए। शचिन या श्रौर किसी के मुकाबले तुम्हारी जरूरत कुछ कम नहीं है।

यह बात कहने जा कर भी प्रेम मास्टर रुक गये। उसकी आँखों की श्रोर देखते ही समझ गये, यह बात उसे याद दिलाने जैसी ज्यादती श्रौर कोई नहीं हो सकती। यह क्या वह नहीं जानता? शायद जानता है, इसीलिए जिसे कभी नहीं देखा, वैसी श्रौर एक रोगशय्याशायिनी माँ की बात सोच आज इतना बेचैन हो उठा है। शचिन यहाँ कुछ नहीं, बस सिर्फ उपलक्ष्य है।

उसी दिन संध्या के समय शचिन बनर्जी ने तीन-चार बार की विफल चेष्टा के बाद अस्पताल की दीवार के पास गुप्त रूप से दिलीप से मुलाकात की। बोला, "मेरे लिए तुम्हें क्यों सजा होगी? सभी कह कर रहे हैं तुम्हारी परीक्षा देना रोक दिया जायगा। तुम मेरा नाम बता दो। ऐसा न करने पर मैं खुद ही जा कर....."

"पागलपन मत करो, शचिन," फटकार के स्वर ने बाधा दी, "चुप बैठे रहो। कभी मत भूलो, तुम्हें जल्दी घर जाना है।"

"इसके लिए क्या मैं ऐसा करूँ?"

दिलीप फिर कुछ कहने जा रहा था, उसी समय अन्य दो लड़के आ पहुँचे उसके बाद ही सुनाई पड़ी चीफ ऑफीसर की पुकार। सबको अविलंब अपने "हाऊस में जा कर 'गिनती' करवानी होगी। उनकी श्रौर कोई बात नहीं हो सकी। दिल जल्दी से अपने वार्ड में घुस गया। शचिन मेन बैरकों की श्रोर चला गया। उसी वि सुबह उसे अस्पताल से डिस्चार्ज किया गया था।

पूरी तरह सिद्धांत पर उतरने से पहले सुपर ने दिलीप को उसकी जिद के भ बुरे परिणाम [illegible] ध में श्रौर एक बार सावधान करने की आवश्यकता अनुभव की

और भी स्पष्ट कर के बता दिया, इस मामले में कठोर सजा जरूरी है। इसके अलावा परीक्षा के बारे में जो बात कुछ दिन पहले हेडमास्टर के माध्यम से कहलायी थी, इस बार उसके साथ स्वयं भी उसका आभास दिया। बोले, "क्या करूँ बताओ ? मैं निरुपाय हूँ।"

दिलीप में कोई भावांतर नहीं दिखा। अध्यक्ष जब जवाब के लिए जोर देने लगे, तब पहले जो बोला था, उसी को दुहरा कर बोला, पहले दिन जो कहा था उससे ज्यादा कहने को उसे कुछ नहीं है।

वस्ट्राल के 'इनमेटों' के विरुद्ध जो सब अभियोग रहते (रोज ही कुछ-न-कुछ रहते थे) सुपर अपने ऑफिस में बैठ कर उन पर विचार करते। साधारण मामलों में उनका यही अदालती कमरा था। यह मामला असाधारण था। एक कर्त्तव्यरत सरकारी कर्मचारी को बाँध कर रखा गया था। वह भी मास्टर या क्लर्क जैसे व्यक्ति को नहीं, प्रशासन-व्यवस्था के अंग के रूप में पहरे पर नियुक्त कर्मचारी 'ए गार्ड ऑन ड्यूटी' को। वस्ट्राल स्कूल जैसे पेनल इंस्टीट्यूशन (दंड संस्थान), जिसका एकमात्र लक्ष्य अल्पवयस्क अपराधियों का चरित्र सुधारना है, वहाँ के एक 'इनमेट' के लिए यह गुरुतर अपराध है। यह अपराध जिसने किया है, जो चरम अनुशासनहीनता और उच्छृंखल आचरण उसने किया है, उसके बारे में यहाँ के साधारण अधिवासियों में एक विकृत मनोभाव दिखाई देगा, उसे पकड़वा देने के लिए अन्य लड़के खुद ही आगे बढ़ेंगे, सुपर ने यही आशा की थी। किंतु ऐसा नहीं हुआ। ऊपर से एक, विशिष्ट 'इनमेट' यह जानते हुए भी कि दोषी कौन है, उसका नाम बताने से बार-बार इनकार कर रहा था। उसका अपराध और भी गुरुतर है और इसके लिए उसे ऐसी सजा देना जरूरी है, जो अन्य सबके लिए एक ज्वलंत उदाहरण बन कर रहे, जिसे कहते हैं—'ए सीवियर एंड एक्जंपलरी पनिशमेंट'। उस सजा की घोषणा सबके सामने किये जाने की आवश्यकता है। अपराध के गुरुत्व और उसके साथ इस सारे विषय की विवेचना कर सुपर ने निश्चित किया—ऑफिस रूम नहीं, स्कूल का मैदान ही इस मामले पर निर्णय देने का उपयुक्त स्थान है। चीफ ऑफीसर को बुलाकर उन्होंने ऐसी व्यवस्था करने का आदेश दिया।

स्कूल, वर्कशॉप, अस्पताल सब जगह से प्रत्येक लड़के को बुला कर देवदारु वृक्षों की छाया में अर्द्धचंद्राकार खड़ा किया गया। सामने की ओर सुपर की कुर्सी-मेज रही, उनके दोनों ओर अन्य कर्मचारी—अध्यापक, इंस्ट्रक्टर, और क्लर्कों के बैठने का स्थान बना। उन्होंने एक-एक करके वहाँ पहुँच अपने स्थान ग्रहण किये। सबसे अंत में सुपर और उनके पीछे हेडमास्टर हाथ में एक छोटी जिल्द-बँधी कॉपी—जिसका नाम हिस्टरी टिकट है—ले कर पहुँचे। आँख के आगे उस कॉपी को खोल कर नाम पुकारा गया—दिलीप भट्टाचार्य। अर्द्धवृत्त के किसी एक सिरे से दिलीप आ कर सुपर की मेज के पास

नतमुख खड़ा हो गया। लड़कों में इतनी देर तक जो दबा कलरव सुनाई पड़ रहा था, सब एक क्षण में स्तब्ध हो गया। सबकी आँखें एक बिंदु पर टिकी थीं। सभी के मुंह पर रुद्धश्वास प्रतीक्षा थी।

सुपर उठ खड़े हुए। भूमिका स्वरूप एक छोटी वक्तृता में वस्ट्राल स्कूल के सांप्रतिक अधःपतन पर क्षोभ प्रकट किया। वर्तमान आसामी का अपराध और अनमनीय मनोभाव (जिसे उन्होंने उद्धतपन कहा) का विस्तृत विवरण दे कर यहाँ के कानून के अनुसार कठोरतम दंड ही इसका प्राप्य है—उनके यहाँ तक पहुँचते ही सहसा एक अत्यधिक नाटा, मोटा, काला लड़का लाईन से छिटक बाहर आ कर बोला, "दिलीप का कोई दोष नहीं, सर, डोरी मैंने बाँधी थी।"

"तुमने!" विस्मय और थोड़े कौतुक के स्वर में संतोषबाबू बोले। केशव वैसे ही दृढ़भाव से बोला, "हाँ, सर।"

'केशो' को देखते ही लड़कों में हँसी की धूम मच जाती थी। यह प्रथम बार व्यतिक्रम देखा गया। चारों ओर छोटे-बड़े सभी के चेहरों पर बहुत घने मेघ थे। विद्युत झलकी का चिह्नमात्र तक नहीं था। सुपर कुछ कहने जा रहे थे, उसी समय एक और लड़का निकल आया। अपने सीने पर उँगली रख कर वह बोला, "केशव झूठ बोल रहा है। डोरी मैंने बाँधी थी।"

"वह नहीं, मैं।" एक और लड़का बोल उठा। साथ-ही-साथ चारों ओर से उसकी प्रतिध्वनि हुई—"मैं····मैं··· मैं।"

"चुप रहो," सुपर डपट पड़े—"सब अपनी-अपनी जगह जा कर खड़े हो जाओ।"

जो सामने आये फिर लाइन में जा मिले। किंतु क्षोभ दबा नहीं रहा। उसी का एक अनुच्चारित किंतु उत्तप्त गुंजन अर्द्धवृत्त के इस कोने से ले कर उस कोने तक फैल गया। संतोषबाबू ने हाथ उठा कर रोकने की चेष्टा की। विशेष फल नहीं हुआ, गड़बड़ी चलती रही। तब हेडमास्टर उठे। गले का परदा यथासाध्य ऊँचा करके किंतु बहुत कुछ प्रार्थना के स्वर में बोले, "साहब क्या कहना चाहते हैं, सुनो। उसके बाद तुम लोगों को जो कहना हो, हम अवश्य सुनेंगे।"

शोरगुल कम होते ही सुपर बोले, "तुम लोग गलती पर हो। तुममें कौन दोषी है, मैं नहीं जानता। जो भी हो, उसके आ कर दोष स्वीकार कर लेने पर ही तुम्हारे इस मित्र को नहीं छोड़ दिया जायगा। छोड़ा जा सकता है, अगर यह खुद उसे अर्थात् असली अपराधी को दिखा दे अथवा उसका नाम बता दे। अब बता सकते हो किसने यह काम किया?"

"मैंने, सर!" धीरे से दो कदम आगे आ कर शचिन बनर्जी ने कहा।

दिलीप ने इतनी देर तक एक बार भी धरती से अपनी आँख नहीं उठाई थी।

अब हठात् चौंक कर शचिन की ओर देखा। अगले ही क्षण फिर उसी तरह आंख झुका ली। सुपर उसकी ओर घूमे। क्षण भर उसके झुके मुख की ओर देख कर बोले, 'शचिन जो कह रहा है, सच है ?"

इस कठोर प्रश्न के कठोर आघात से विव्रत, दो विपन्न, निरुपाय क्लांत आंखें धीरे-धीरे एक बार सुपर के मुख पर जा कर रुकीं। कुछ क्षणों का व्यवधान हुआ। उसके बाद सुनाई पड़ा, मृदु किंतु सुस्पष्ट स्वर में वही एक उत्तर, "मुझे जो कहना था, मैं पहले ही कह चुका हूं, सर !"

"और कुछ नहीं कहोगे ?"

दिलीप ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। क्षण भर प्रतीक्षा कर संतोष सेन ने उसी छोटी जिल्दबंधी कॉपी को जैसे हेडमास्टर के हाथ से छीन लिया। तेजी से उस पर कलम चलाई, फिर गंभीर स्वर में घोषणा की—"सालिटरी कनफाइनमेंट फार वन मंथ', तुम्हें एक माह निर्जन सेल में काटना होगा। दुःख की बात यह है कि इससे बढ़ कर सजा देना मेरे हाथ में नहीं है। होता तो वही देता।"

जेल प्रांगण के एक सिरे पर घने पेड़ों के अंधकार में तीन ओर मजबूत दीवारों और एक ओर सिर्फ एक सींखचेदार बंद दरवाजे से घिरे 'सेल' नामक जनमानवहीन ठंडे कबूतरखाने की याद आते ही इस सर्दी की शाम में सिर्फ लड़कों के ही नहीं उनके रक्षकों के चेहरों पर भी आतंक की छाया फैल गई। किंतु जिसे एक माह के दीर्घकाल के लिए निर्वासित किया गया था, उसके चेहरे पर कोई भावांतर नहीं दिखाई पड़ा। दोनों हाथ जोड़ कर उसने सुपर को विधिवत् नमस्कार किया। फिर चुपचाप अपने नये आश्रय स्थल पर जाने के लिए चीफ ऑफीसर के पीछे कदम बढ़ा दिया। उसके लिए यह नयी होने पर भी, जेलखाने की यह चिर-पुरातन 'डिग्री' थी, जिसका नाम सुन कर कभी कितने ही दुर्दान्त डाकू और दुर्द्धर्ष खूनी भी कांप उठते थे, जहां डाल कर कितने ही साहसी क्रांतिकारी कैदियों को सजा देने की व्यवस्था उस समय के जेल अधिकारी करते थे।

उन सब नामों की सूची वाली 'गाइड बुक' अगर खोजने पर मिले, तो अंत के खाली पृष्ठ पर उनके नाम के साथ एक और नाम जुड़ा मिलेगा—एक सौ बारह नम्बर इंडस्ट्रियल बॉय दिलीप भट्टाचार्य का नाम।

• • •

ग्यारह

"दिलीप हो ना ?"

ऊबड़-खाबड़ रास्ते के किनारे तोड़ी गई बस्ती का सामान पड़ा था—टीन के टुकड़े, टूटे खप्पड़ और ईंटें वगैरह। उसी ओर देखता, दिलीप अन्यमनस्क हो रास्त

चल रहा था। हठात् चौंक उठा। यहाँ उसे कौन पुकारेगा। अभी-अभी एक लारी निकल कर गई थी, इसलिए चारों ओर धूल का बादल-सा छा गया था। उसी बादल में से एक युवक प्रकट हुआ। पहले तो उसे ठीक से पहचान नहीं सका। अगले ही क्षण दौड़ के जा कर उसके दोनों हाथ पकड़ लिये—"क्या आश्चर्य ! तुम यहाँ।"

"यहीं तो रहता हूँ मैं। ठीक यहाँ नहीं, इसी अंचल में माने इस तरफ।"

"कहाँ ?"

"टैंगरा नाम सुना है ?"

"जगह का नाम ? यह तो नहीं सुना। फिर भी 'टैंगरा' नाम की एक मछली होती है, जानता भी हूँ। देखी भी है। याद है बस्ट्राल का कांट्रैक्टर एक बार लाया था, सड़ी कह कर घोष साहब ने लौटा दी थी ! कितनी भयानक दुर्गन्ध लग रही थी !"

शम्सुल हँस पड़ा। बोला, "खूब याद है। इसे ले कर उस दिन कितना शोर किया था। तब क्या पता था, सड़ी टैंगरा से भी सड़ी जगह यह टैंगरा है और वहीं एक दिन घुटना होगा।"

बात के शुरू से सुर अंत का सुर कहीं ज्यादा भारी था। दिलीप की आँखें विस्मय से फैल गईं। यह देख शम्सुल ने अपने को सम्हाल लिया। पहले के हल्के स्वर में लौ कर बोला, "सोच रहा है, यह है क्या। उस अजीब बस्ती का नाम टैनरी है। व: मेरा वर्तमान आश्रय है।"

"तुम वहाँ क्या करते हो ?"

"काम का क्या कोई अंत है ? कच्चे चमड़े को सुखाना, सुखा लेने पर भिगोना। भीग जाने पर फिर सुखाना। उसके बाद···रहने दे। सुनते ही तुझे मतली आ रही है। अब तू अपना हालचाल सुना। कहाँ है ? इधर कहाँ जा रहा है ?"

प्रश्न दिलीप के कान में जाने पर भी मन तक नहीं पहुँचे। वह एकटक शम्सुल की ओर देखता रहा। वह अच्छी तरह नहीं है, सुख से नहीं है, चेहरा देखते ही अनुमान लगा लिया जा सकता था, इन्हीं कुछ सामान्य बातों में उसका पूर्ण समर्थन मिल गया। शम्सुल चौधरी प्रचुर धनवान और खानदानी घर का लड़का था। कुलूटोला में उसके पिता का विराट् कारोबार था। दिलीप ने सब सुना। बस्ट्राल में पहले दिन हुई उससे मुलाकात की बात याद आ गई। जैसा स्वास्थ्य था वैसा ही देह का रंग थ आज उसमें से कुछ भी नहीं रहा। और थोड़ा निकट खिसक कर मृदु अंतरंग स्वर में बोला, 'बस्ट्राल से निकल कर घर नहीं गये ?"

"घर !" शम्सुल ने जैसे हँस कर बात उड़ा देने की कोशिश की, "और कुछ खड़ाऊँ की मार खाने के लिए ?"

"इस बीच माँ से मुलाकात हुई ?"

"माँ नहीं रही।"

दिलीप चौंक उठा। 'माँ नहीं रही।'—यह जैसे उसके अपने अंतर की प्रतिध्वनि हो। जब वह इन बस्तियों के आसपास घूमता-फिरता है, तब ये तीन शब्द उसके मन में बीच-बीच में सिर उठाते रहते हैं। जितने दिन जा रहे थे, उतने ही वे शब्द स्पष्ट से स्पष्टतर होते जा रहे थे। माँ नहीं रही। फिर किसलिए यह अंतहीन व्यर्थ खोज? मिथ्या आशा में रास्ते-रास्ते घूम कर मरना? क्या लाभ है?

कभी-कभी वह इसी चिंताधारा को ही दृढ़ भाव से पकड़ लेने की चेष्टा करता। किंतु मन नहीं मानता। रविवार आते ही एक अदृश्य आकर्षण उसके दोनों पैरों को इस वेलेघाटा की किसी अज्ञात-नामा बस्ती के पास खींच ले आता। सियाल्दह स्टेशन की बायीं ओर रेलवे का ओवर-ब्रिज पार कर मुख्य सड़क छोड़ आस-पास की किसी गली में घुस पड़ता। किसी-किसी दिन और भी पूर्व की ओर चला जाता, जहाँ विशाल क्षेत्र घेर कर लेक बनाई जा रही थी। कितनी ही खपरैले और टीन के घर तोड़-तोड़ कर नये-नये रास्ते निकाले गये थे। उन पर भारी-भारी स्टीम रोलर चल रहे थे। तब क्या यहीं कहीं पर उनका वह छोटा झोपड़ा खड़ा था? सामने एक सँकरा बरामदा, उसके आगे छोटा आँगन और फिर रास्ता; थोड़ा और आगे एक तरफ नल था और दूसरी तरफ आम का घना पेड़—उसके स्वप्नों से भरपूर शैशवकाल का साक्षी। सोचते-सोचते वह दिल में काँप उठा। अगर यह बात है, अगर सब टूट-टाट कर एकसार हो गया है, तो माँ कहाँ गई? तब क्या····

"क्या सोच रहा है? बताया नहीं इधर कहाँ जा रहा था?" शम्सुल ने उसे अपने में खोया देख कर पूछा।

दिलीप के चिंतनसूत्र में गतिरोध आया। बोला, "विशेष कहीं नहीं। घूम रहा हूँ।"

"घूम रहा है? यहाँ कोई घूमने आता है क्या?" "कितने बज गये महाशय?"

बाद का प्रश्न एक राहगीर को लक्ष्य कर के किया गया था। राहगीर कलाई घड़ी को देख विरक्त स्वर में बोला, "आठ बज कर दस मिनट।"

"सत्यानाश! आठ बज गये। मेरे और ठहरने का तो उपाय नहीं है, भाई। तू है कहाँ?"

"सियाल्दह के पास। सरपेंटाइन लेन में।"

"ठहर, पता तो लिख लूँ। कितना नम्बर?"

दिलीप ने नम्बर बता दिया। शम्सुल जेब से नोटबुक और पेंसिल निकाल लिखते-लिखते बोला, "अगले रविवार की शाम को आऊँगा। रहेगा तो?"

"रहूँगा। लेकिन आना जरूर।"

शम्सुल ने बात रखी थी। अगले रविवार को ही दिलीप के ठिकाने पर आया। दरवाजा खुला था। नंबर मिला कर अंदर घुसने पर पहले तो लगा कहीं भूल तो नहीं

यी । हर कमरे में प्रेस का सामान दिखाई दिया । कोई आदमी नहीं दिखा । सोचा,
द छुट्टी का दिन होने से काम वंद है । लेकिन दिलीप यहाँ कहाँ रहता है ? अचानक
बाई दिया, एक काले रंग का ड्रम लुढ़कता-लुढ़कता चला आ रहा है । अरे यह तो
शो है । केशव ने भी उसे देख लिया । देखते की विकट चीत्कार की—शम्सुल आया
। साथ ही किलकिल करके एक छोटा झुंड निकल पड़ा । ज्यादातर जाने-पहचाने थे,
कुछ अपरिचित चेहरे भी थे । किंतु उल्लास की वहार उसमें भी कम नहीं थी । लड़ा,
पहली वार और नया-नया कदम रखने पर भी यहाँ वह पहले से ही पुराना वना हुआ
है । 'आने की' कोई सूचना नहीं दी, आ पहुँचने पर उसे घेर कर इतना हुल्लड़ । जव
सभी समवेत स्वर में चिल्ला रहे थे, कौन क्या कह रहा है कोई नहीं सुन रहा था, तभी
हठात् पीछे से भीड़ ठेल अर्थात् दो-चार को भूमिसात् कर एक पहाड़ी युवक आगे
आया । व्यायाम-पुष्ट दृढ़ देह, सवल पेशी, विशाल चौड़ी छाती, सख्त गोल मुंह ।
वयासी पौंड भारी हाथ अपने कंधे पर रखे जाते ही शम्सुल काफी झुक कर वोला,
''उफ, यह कंधा भैंस का नहीं, दादा, आदमी का है ।''

वहादुर उसके सर्वांग पर स्नेहपूर्ण दृष्टि फिराकर वोला, ''आदमी रह गया
या हड्डियों का ढांचा ? हिश्श, शरीर का क्या हाल कर डाला । एकदम पहचान में
नहीं आता । चल, ऊपर चल !''

शम्सुल ने इस प्रसंग को दवा देने के उद्देश्य से ही शायद दूसरी वात शुरू की।
चलते-चलते चारों ओर देख कर वोला, ''मामला क्या है, भाई ? देख रहा हूँ पूरा
वस्ट्राल ही उजड़ कर इस गली में आ वसा है ।''

वहादुर के कोई जवाव देने से पहले ही कोई अपरिचित लड़का वोल उठा,
''ठीक कह रहे हो । यह हमारा नया वस्ट्राल है । देखो ना, वस वैसी भुतहा दीवार
यहाँ नहीं है ।''

''सिर्फ दीवार ?'' एक अन्य लड़के ने योग दिया, ''वह सिपाहियों के रूल का
खोंचा, हेडमास्टर का आँखें लाल करना, कारपेंटरी मास्टर का कान खींचना, ड्रिल
मास्टर के जूते की ठोकर ..''

''सवसे ज्यादा तो उठते-वैठते रोज सात वार सींकिया संतोप वावू का व
रूल्स....''

केशव ने होंठ विचका कर 'रूल्स' शब्द का उच्चारण इस ढंग से किया
चारों ओर हँसी का दौरा पड़ गया । शम्सुल तिरछी आँख से एक वार देख कर वो
''देखता हूँ, केशो तो खूव वात करना सीखा है । तव तो जानता था एक विशेप
के अलावा....''

वात पूरी कर उसने सकौतुक उसकी सुगोल तोंद की ओर देखा । इ
समझ कर सभी के चेहरों पर कौतुक की हँसी विखर गई । केशव के मुख पर

सा भी अप्रतिभ होने का लक्षण नहीं दिखा। उन्मुक्त और प्रसारित पेट पर हाथ फिराते-फिराते बोला, "वह यहाँ भी देने की व्यवस्था है। जब आ गये हो, तो दो-चार दिन रह जाओ न। अपनी आँख से देख लोगे।"

"दो-चार दिन नहीं", सीढ़ी चढ़ते हुए बहादुर ने कहा, "एकदम से चले आओ। हमें तुम्हारी जरूरत है। इसके अलावा दिलीप से मैंने सब सुना है।"

"दिलीप है कहाँ ? वह तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा।"

"मास्टर जी उसे साथ लेकर कहीं गये हैं। अभी आ जायगा।"

"मास्टर जी कौन ?"

"आशुबाबू।"

शम्सुल की जिज्ञासु दृष्टि लक्ष्य कर बोला, "जो कुछ देख रहा है, वही इसका मूल है। चल बैठें। चाय-वाय पी। फिर सब बताऊँगा।....केशो।"

"यस सर !"

"शम्सुल के 'आनर' में आज तेरा विशेष प्रोग्राम क्या है ?"

"घबड़ाओ नहीं। समोसे तले जा रहे हैं।"

"गुड, जल्दी ले आओ।"

दिलीप के लौटने से पहले ही यहाँ का मोटा-मोटा इतिहास शम्सुल को बता दिया गया। उसके साथ अपनी बात भी बहादुर ने बताई। बस्ट्राल से भागने के अपराध में उसे एस० डी० ओ० साहब ने पूरे दो माह की कैद की सजा दी थी, यह खबर शम्सुल को वहाँ रहते ही मिल गई थी। रनमाया उसकी बहन है, इसलिए दूसरे मामले उस पर नहीं चलाये गये। इसके लिए उन्होंने क्लब के मित्रों के सामने दुःख प्रकट किया था और वह बात घोषसाहब के कान में भी आई थी। बात उन्होंने हेडमास्टर को बता दी थी। उसके बाद फिर दबी नहीं रही। जेल से रिहाई पाने के बाद उसी दिन बहादुर दिलीप से मिलने गया था। घोषसाहब तब जा चुके थे। संतोषबाबू ने उसकी मुलाकात की अर्जी नामंजूर कर दी। कारण बताया था—तुम दिलीप के कोई आत्मीय तो हो नहीं। आशुबाबू का पता जानने की चेष्टा की थी। किसी ने नहीं बताया, या बता नहीं सका।

बाद का इतिहास कोई विशेष सुख-श्रव्य नहीं था। एकबारगी ही रक्तचयी संग्राम की कहानी थी। कोई ऐसा काम नहीं, जो उसने न किया हो। सिर्फ अपने लिए होता तो इतना न करने पर भी चलता। किंतु 'माया' को और कुछ न हो, एक भद्र आश्रय और थोड़ी स्वच्छंदता दिये बिना वह कैसे रहता ? इतना जुटाने के लिए उसे घाट-घाट का पानी पीना पड़ा। उसके बाद उसे एक कागज की दूकान पर दरबानी की नौकरी मिली। वहीं आशुबाबू से मुलाकात हुई। वह प्रेस के लिए कागज खरीदने गये थे, साथ में दिलीप था। वह तब बस्ट्राल से निकल कर मैट्रिक की परीक्षा के लिए

हो गयी। हर कमरे में प्रेस का सामान दिखाई दिया। कोई आदमी नहीं दिखा। सोचा, शायद छुट्टी का दिन होने से काम बंद है। लेकिन दिलीप यहाँ कहाँ रहता है? अचानक दिखाई दिया, एक काले रंग का ड्रम लुढ़कता-लुढ़कता चला आ रहा है। अरे यह तो केशो है। केशव ने भी उसे देख लिया। देखते की विकट चीत्कार की—शम्सुल आया है। साथ ही किलकिल करके एक छोटा झुंड निकल पड़ा। ज्यादातर जाने-पहचाने थे, कुछ अपरिचित चेहरे भी थे। किंतु उल्लास की वहार उसमें भी कम नहीं थी। लगा, पहली वार और नया-नया कदम रखने पर भी यहाँ वह पहले से ही पुराना वना हुआ है। 'आने की' कोई सूचना नहीं दी, आ पहुँचने पर उसे घेर कर इतना हुल्लड़। जव सभी समवेत स्वर में चिल्ला रहे थे, कौन क्या कह रहा है कोई नहीं सुन रहा था, तभी हठात् पीछे से भीड़ ठेल अर्थात् दो-चार को भूमिसात् कर एक पहाड़ी युवक आगे आया। व्यायाम-पुष्ट दृढ़ देह, सवल पेशी, विशाल चौड़ी छाती, सख्त गोल मुंह। वयासी पौंड भारी हाथ अपने कंधे पर रखे जाते ही शम्सुल काफी झुक कर वोला, "उफ, यह कंधा भैंस का नहीं, दादा, आदमी का है।"

वहादुर उसके सर्वांग पर स्नेहपूर्ण दृष्टि फिराकर वोला, "आदमी रह गया है या हड्डियों का ढांचा? हिश्श, शरीर का क्या हाल कर डाला। एकदम पहचान में ही नहीं आता। चल, ऊपर चल!"

शम्सुल ने इस प्रसंग को दवा देने के उद्देश्य से ही शायद दूसरी वात शुरू की। चलते-चलते चारों ओर देख कर वोला, "मामला क्या है, भाई? देख रहा हूँ पूरा वस्ट्राल ही उजड़ कर इस गली में आ वसा है।"

वहादुर के कोई जवाव देने से पहले ही कोई अपरिचित लड़का वोल उठा, "ठीक कह रहे हो। यह हमारा नया वस्ट्राल है। देखो ना, वस वैसी भुतहा दीवार यहाँ नहीं है।"

"सिर्फ दीवार?" एक अन्य लड़के ने योग दिया, "वह सिपाहियों के रूल का खोंचा, हेडमास्टर का आँखें लाल करना, कारपेंटरी मास्टर का कान खींचना, ड्रिल मास्टर के जूते की ठोकर⋯"

"सवसे ज्यादा तो उठते-वैठते रोज सात वार सींकिया संतोष वावू का वही रूल्स⋯."

केशव ने होंठ विचका कर 'रूल्स' शब्द का उच्चारण इस ढंग से किया कि चारों ओर हँसी का दौरा पड़ गया। शम्सुल तिरछी आँख से एक वार देख कर वोला, "देखता हूँ, केशो तो खूव वात करना सीखा है। तव तो जानता था एक विशेष काम के अलावा⋯."

वात पूरी कर उसने सकौतुक उसकी सुगोल तोंद की ओर देखा। इशारे को समझ कर सभी के चेहरों पर कौतुक की हँसी विखर गई। केशव के मुख पर तनिक-

सा भी अप्रतिभ होने का लक्षण नहीं दिखा। उन्मुक्त और प्रसारित पेट पर हाथ फिराते-फिराते बोला, "वह यहाँ भी देने की व्यवस्था है। जब आ गये हो, तो दो-चार दिन रह जाओ न। अपनी आँख से देख लोगे।"

"दो-चार दिन नहीं", सीढ़ी चढ़ते हुए बहादुर ने कहा, "एकदम से चले आओ। हमें तुम्हारी जरूरत है। इसके अलावा दिलीप से मैंने सब सुना है।"

"दिलीप है कहाँ ? वह तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा।"

"मास्टर जी उसे साथ लेकर कहीं गये हैं। अभी आ जायगा।"

"मास्टर जी कौन ?"

"आशुबाबू।"

शम्सुल की जिज्ञासु दृष्टि लक्ष्य कर बोला, "जो कुछ देख रहा है, वही इसका मूल है। चल बैठें। चाय-वाय पी। फिर सब बताऊँगा।....केशो।"

"यस सर !"

"शम्सुल के 'आनर' में आज तेरा विशेष प्रोग्राम क्या है ?"

"घबड़ाओ नहीं। समोसे तले जा रहे हैं।"

"गुड, जल्दी ले आओ।"

दिलीप के लौटने से पहले ही यहाँ का मोटा-मोटा इतिहास शम्सुल को बता दिया गया। उसके साथ अपनी बात भी बहादुर ने बताई। बस्ट्राल से भागने के अपराध में उसे एस० डी० ओ० साहब ने पूरे दो माह की कैद की सजा दी थी, यह खबर शम्सुल को वहाँ रहते ही मिल गई थी। रनमाया उसकी बहन है, इसलिए दूसरे मामले उस पर नहीं चलाये गये। इसके लिए उन्होंने क्लब के मित्रों के सामने दुःख प्रकट किया था और वह बात घोषसाहब के कान में भी आई थी। बात उन्होंने हेडमास्टर को बता दी थी। उसके बाद फिर दबी नहीं रही। जेल से रिहाई पाने के बाद उसी दिन बहादुर दिलीप से मिलने गया था। घोषसाहब तब जा चुके थे। संतोषबाबू ने उसकी मुलाकात की अर्जी नामंजूर कर दी। कारण बताया था—तुम दिलीप के कोई आत्मीय तो हो नहीं। आशुबाबू का पता जानने की चेष्टा की थी। किसी ने नहीं बताया, या बता नहीं सका।

बाद का इतिहास कोई विशेष सुख-श्रव्य नहीं था। एकबारगी ही रक्तक्षयी संग्राम की कहानी थी। कोई ऐसा काम नहीं, जो उसने न किया हो। सिर्फ अपने लिए होता तो इतना न करने पर भी चलता। किंतु 'माया' को और कुछ न हो, एक भद्र आश्रय और थोड़ी स्वच्छंदता दिये बिना वह कैसे रहता ? इतना जुटाने के लिए उसे घाट-घाट का पानी पीना पड़ा। उसके बाद उसे एक कागज की दूकान पर दरबानी की नौकरी मिली। वहीं आशुबाबू से मुलाकात हुई। वह प्रेस के लिए कागज खरीदने गये थे, साथ में दिलीप था। वह तब बस्ट्राल से निकल कर मैट्रिक की परीक्षा के लिए

रहा था।

"परीक्षा वहाँ से देकर नहीं आया ?" विस्मय के स्वर में शम्सुल ने पूछा।

"नहीं। वह दूसरी कहानी है। फिर कभी सुनाऊँगा।"

"अच्छा, फिर ?"

"इस प्रेस का काम तब रोज बढ़ता जा रहा था। सर को अकेले सम्हालना नहीं था। एक दिलीप के अलावा ऐसा और कोई नहीं था जिस पर छोड़ा जा। उसकी परीक्षा की पढ़ाई भी थी। समझ ही सकता हैं। मुझे हुक्म हुआ, कल चले आओ। आ गया।...." यह कह कर बहादुर हँस पड़ा, अपनी वही दिल खोल। फिर बोला, "आते ही दिलीप को सारे झंझट से छुटकारा दे दिया। कहा, आर ए स्टूडेंट,' चुपचाप बैठ कर पढ़ो। जानता तो है वह भी क्या चीज है। ला—"वाह, क्या मैं तुम लोगों के कंधे पर बैठ कर खाऊँ ?"

मैंने कहा, "अच्छा, तब तुम रोज दो घंटे प्रूफ देखा करोगे और कुछ नहीं, करोगे।"

"अब क्या करता है, वह ?" शम्सुल ने पूछा।

"उसे अपनी पढ़ाई नहीं छोड़ने दी। आई० एस-सी० पास कर मेडिकल कॉलेज में गया है। थर्ड ईयर है। ऐसे लड़के कम होते हैं।" कहते-कहते बहादुर अनमना-सा हो गया। सामने की खिड़की से बगल की छत की ओर देखने लगा। कुछ देर दोनों चुप रहे। बहादुर फिर इस तरफ घूम कर बोला, "मैं कहता हूँ, सर कहते हैं, तुम पढ़ रहे हो, यही एक सबसे बड़ा काम है। इसमें हम सभी का स्वार्थ है। पास करके जब निकलोगे, आसपास में एक डिस्पेंसरी खोल कर बैठ जाना, हमें फिर बाहर के डॉक्टर को फीस नहीं देनी पड़ेगी। कौन सुनता है बात ? रोज चार घंटे प्रेस के लिए खटे बिना उसे चैन नहीं पड़ता। फिर भी ज्यादातर समय ऑफिस में ही बैठना होता है। मास्टर जी बहुत बूढ़े हो गये हैं।....किंतु केशो क्या कर रहा है ? ठहरो, जरा देख आऊँ।"

"रुको ना ? ठीक लोग ठीक जगह पर हैं। तुम बैठो। बहन की क्या खबर है ?"

बहादुर उठने जा रहा था, बैठ कर बोला, "अच्छी है। विवाह कर दिया है। उसका पति पुलिस में काम करता है। इस समय बर्दवान में है। कुछ महीने हुए मकान मिल गया। लड़का अच्छा है।" बात करते हुए बहादुर की छोटी आँखें चमकने लगीं, संतोष का भाव सारे मुंह पर छा गया। शम्सुल के चेहरे पर भी खुशी की आभा दिखाई दी। इस बारे में वह कुछ कहने वाला था, उससे पहले ही बहादुर दरवाजे की ओर देख चहक उठा, "अच्छा, तो हमारे डॉक्टर बाबू इतनी देर से आ रहे हैं। इधर मित्र आ कर बैठा है, उसका खयाल नहीं।"

"मित्र मैदान में तो बैठा नहीं है," कमरे में घुसते हुए दिलीप ने प्रसन्न मुख

कहा ।

"मैदान में नहीं तो क्या ? किसे इतनी पड़ी है जो तुम्हारे मित्र के साथ वक-वक करे !"

"जिसकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी है, उसी को तो देख रहा हूं ।"

"अच्छा"""दिलीप अब वह मुंहचोर लड़का नहीं रहा, समझा शम्सुल ? अच्छा तुम लोग बातें करो । मैं जरा देखूं आखिर अभागे केशो का इरादा क्या है ? एक कड़ाही समोसे शायद अकेला ही बैठा साफ कर रहा है ।"

कहते हुए बहादुर उठ गया । इतनी देर तक ऑफिस के खाली कमरे में बैठ कर बातें हो रही थीं । दिलीप बोला, "चलो, अपने कमरे में जा कर बैठें ।"

"आशुबाबू नहीं आये ?"

"नहीं, वह अपने गुरुदेव के यहाँ चले गये । कल लौटेंगे ।"

दुतल्ले की सीढ़ी जहाँ जा कर खत्म होती थी, उसकी बगल में एक छोटी कोठरी थी । वह दिलीप की अपनी थी । पढ़ने-लिखने की सुविधा के लिए शुरू से ही आशुबाबू ने व्यवस्था कर दी थी । एक जन किसी प्रकार सो सके, इतना बड़ा तख्त था । उसके पास दीवार से सटी लकड़ी की एक छोटी मेज थी । सामने एक बिना हाथ की कुर्सी । मेज के ऊपर ही एक खिड़की थी । खोल देने पर गली के पार दुमंजिले घर की छत दिखाई पड़ती । दिलीप के परम भाग्य से इस हीन कमरे में भी एक दीवाल अलमारी थी । कभी शीशे के पल्ले रहे होंगे, अब नहीं थे, सिर्फ फ्रेम बाकी था । उसमें तीन ताख थे । ऊपर के दो में उसकी किताबें रहतीं और नीचे के ताख में कुछ अस्थि-पंजर ।

छोटे तख्त पर दरी बिछी थी । दोनों मित्र जा कर उस पर बैठ गये । दिलीप हाथ बढ़ा कर मेज के ऊपर की खिड़की खोल कर बोला, "बहुत देर हो गयी आये हुए ना ?"

"बहुत देर से कहाँ ? अभी तो आया हूँ ।"

"मैं जानता था तुम आओगे । क्या करूँ ? सर के साथ जाना पड़ा । कुछ खरीदना था । सामान मेरे हाथ में दे वह हुगली में अपने गुरुदेव से मिलने चले गये ।"

"वहाँ रह कर बीच-बीच में जिनके पास जाते थे, वही गुरु ?"

"हाँ वही ! तब क्या पता था, कितने महान व्यक्ति हैं ? हम उन्हें ले कर हंसी-मजाक करते थे और वह बैठे-बैठे हमारी बात सोचते थे । यहां जो कुछ देख रहे हो, यह सब उन्हीं की कृपा से है ।"

"उन्हीं का प्रेस है शायद ?"

"नहीं, प्रेस हमारा है । हम ही इसके मालिक हैं । यहाँ जो काम करते हैं, सभी का समान हिस्सा है, समान स्वत्व है । यहाँ तक कि मास्टरजी, जिन्होंने

खड़ा किया, भी हमारे समान एक शेयरहोल्डर मात्र हैं।"

शम्सुल कौतूहली हो उठा। तब दिलीप ने शुरू से शुरू कर के इस सामूहिक प्रतिष्ठान का पूरा इतिहास उसे खोल कर बताया। आशुबाबू को गुरुदेव ने जो रुपये दिये थे, वह सिर्फ उधार थे और इतने दिन में उनके मोटे भाग को चुका दिया गया है, यह बात भी इसके साथ बता दी। प्रेस का प्रसार जिस गति और ढंग से चल रहा है, उन्हें रोज नये कर्मचारियों की जरूरत पड़ रही है, इसकी तुलना में वस्ट्राल से निकलने वालों की संख्या यथेष्ट नहीं है, और अंततः एक-दो ट्रेनरों को छोड़ कर बाहर से लेने की इच्छा नहीं है, यह यहाँ का उद्देश्य भी नहीं है—इत्यादि तथ्य विस्तृत रूप से बता कर तुरंत ही जैसे असली प्रसंग पर आने का अवसर मिल गया, ऐसे ढंग से बोला, "जाने दो; फिर तुम कब आ रहे हो, यह बताओ।"

शम्सुल तन्मय हो कर सुन रहा था। इस आकस्मिक प्रश्न के लिए प्रस्तुत न था। थोड़ा हड़बड़ा कर बोला, "मैं ?""मुझे आना होगा ? यानी तू भी आने के लिए कह रहा है ?"

"कह क्या रहा हूँ ? हम सबने मिल कर एकदम तय कर लिया है। मास्टर जी तो तुम्हे रोक रखने को कह गये हैं। गुरुदेव की बीमारी न बढ़ गई होती, तो वह ही तुमसे कहते।"

शम्सुल के कुछ कहने से पहले ही कलरव करते-करते केशव और उसके साथ तीन-चार लड़के आ घुसे। जोर दे कर बोले, "चलो, समोसे खत्म हो गये।"

"सिर्फ समोसे या और भी कुछ है ?" दिलीप ने पूछा।

केशव आँख से एक विचित्र भंगिमा बना कर बोला, "है, है। नाम सुनते ही जीभ से टपटप पानी गिरने लगेगा।"

"वह क्या है ?"

"चलो तो ! जाने पर ही देख सकोगे।"

पहली मंजिल के भोजन कक्ष में सभी जा कर एकत्र हुए, जिस प्रकार वस्ट्राल के डाइनिंग शेड में बहुत दिनों तक एकत्र होते रहे थे। फर्क अवश्य कई थे। जी खोल कर हू-हा करने की स्वाधीनता वहाँ नहीं थी। गले का एक विशेष परदा हटते ही चीफ ऑफीसर की भयंकर डपट पड़ती। वहाँ अपनी मात्रा से बाहर के खाने पर हाथ बढ़ाना अपराध था। यहाँ वह सब बाधा-निषेध कोई नहीं था। केशव और दो अन्य लड़के मिल कर समोसे परोस रहे थे। प्रत्येक जन को चार-चार खा चुकने पर किसी ने एक-दो और भी लिये। चाय आने से एकदम पहले केशव ने कमरे के बीच में खड़े हो पल-टन के सेनापति की भाँति उच्च स्वर में निर्देश जारी किया, "सब अपनी-अपनी आँखें बंद कर लें। जब तक कहा न जाय, कोई न खोले।"

सभी ने आँखें बंद कर लीं। केशव का यह पुराना पेटेंट खेल था, इन सबको

यह अभ्यास था। करीब तीन मिनट बाद दूसरा आदेश दिया सेनापति ने, "अच्छा, अब खोलो।"

प्रत्येक की प्लेट में एक-एक 'जयनगर का लड्डू' था। पूरी पलटन का चेहरा खुशी से जगमगा उठा। दो-तीन लड़कों ने उठ कर नाचना शुरू कर दिया। बहादुर एक बार में आधा लड्डू मुंह में भर कर बोला, "वाह, इस बार और भी अच्छा बनाया है। बुड्ढे को एक मेडल देना चाहिए।"

"वह अपने हाथ से नहीं बनाता," भीड़ में से कोई एक बोला।

"फिर कौन बनाता है?"

"उसकी मां।"

"मां! उस खूसट बुड्ढे की मां भी है क्या?"

एक अट्टहास उठा। उसमें शम्सुल की नजर अचानक दिलीप पर पड़ी, वह सिर झुकाए लड्डू को हिला-डुला रहा था, तब तक मुंह में नहीं रखा था।

"क्या हुआ! खाता क्यों नहीं?"

"खा रहा हूँ," म्लान हँसी हँस दिलीप ने सिर उठाया। फिर अन्यमनस्क-सा हो थोड़ा लड्डू तोड़ मुंह में रखा।

सारी पलटन में तब भीषण शोर-गुल शुरू हो गया। किसी एक ने देखा केशव के बायें हाथ में एक और लड्डू है। साथ-ही-साथ सबने प्रतिवाद किया—"यह क्या? तुम दो क्यों खाओगे?"

"वाह, मैंने इतना कष्ट उठा कर सब में बांटा, उसकी मजदूरी नहीं मिलेगी क्या?"

"किसने कहा था तुमसे कष्ट उठाने को? यह सब नहीं चलेगा। दो, हिस्सा दो।"

खाने की चीज में हिस्सा देना केशव की जन्मपत्री में नहीं लिखा था। उसके बदले उसने दाएँ हाथ का अँगूठा दिखा, दिया साथ-ही-साथ पीठ भी। पूरी पलटन हुल्लड़ करती उसके पीछे भागी।

दिलीप को एकांत में पा शम्सुल उसके मुंह पर तीक्ष्ण दृष्टि डाल बोला, "बात क्या है? एकाएक इतना गंभीर क्यों हो गया?"

"कुछ नहीं। चलो, ऊपर चलें।"

"कुछ नहीं कहने से कौन मानेगा? न बताना चाहे तो अलग बात है।"

मित्र के स्वर में गुस्से का आभास पाकर दिलीप कुंठा के स्वर में बोला, "सच कह रहा हूँ, बताने लायक कुछ नहीं है। अचानक मां की याद आ गयी। बचपन में एक दिन इस लड्डू के लिए बहुत रोया था। उस दिन मां के हाथ में एक पैसा नहीं था।....जाने दो। तुम कल से आ रहे हो ना?"

शम्सुल ने इस प्रश्न का जवाब नहीं दिया। बोला, "माँ का पता अभी तक नहीं चला ?"

"नहीं, इसीलिए तो उस दिन वहाँ घूम रहा था। और भी कई बार गया हूँ। ठीक जगह खोज ही नहीं पा रहा हूँ।"

"वहाँ का आगा-पीछा जो बदल गया है। बहुत सी पुरानी बस्तियाँ तोड़ डाली गयी हैं। अच्छा, अब जिस दिन जायगा, मैं भी तेरे साथ चलूँगा।"

कुछ दिन बाद शम्सुल जब फिर आया, तब आशुबाबू ऑफिस में थे। इस प्रेत की स्थापना और उसकी आंतरिक आशा और उद्देश्य लेकर उसके साथ बहुत बातचीत हुई। इसी प्रसंग में वह बोले, "मामले को सिर्फ जीविका की दृष्टि से ही मत देखो। ऐसा होने पर तो तुम जहाँ हो, वहाँ से चला आना ठीक नहीं होगा। शिल्प की दृष्टि से टैनरी का भविष्य बहुत अच्छा है। टिक कर रहने पर एक दिन बहुत ऊँचा उठने की संभावना है। किंतु भौतिक उन्नति के अलावा भी मनुष्य के जीवन में और एक दिशा है—सर्विस या सेवा की दिशा। सिर्फ अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए क्या किया है—इस प्रश्न का जवाब भी उसे देना होता है।"

शम्सुल के अलावा वहाँ दिलीप और बस्ट्राल से निकले एक-दो लड़के और भी उपस्थित थे। सब की ओर एक बार दृष्टि फिरा कर आशुबाबू फिर बोले, "उन 'दूसरों' में पहले आते हैं अपने लोग। एक ओर बड़ा भाई जिस प्रकार अपने को खड़ा करने में क्रमशः और ऊँचा उठने की चेष्टा करता रहता है, उसी प्रकार उसके बाद जो आते हैं, उन्हें भी खींच कर उठा के खड़ा कर देने की जो कोशिश करता है, उसे उसका सिर्फ कर्तव्य मत समझो, यह उसका विशेष दायित्व होता है। इसके लिए अगर उसे अपनी गति कम करना पड़े, जितना ऊपर वह जा सकता है, उससे कई सीढ़ी नीचे पड़े रहना पड़े, तो छोटों का मुँह देख उसे यह क्षति सहनी चाहिए। तुममें से जो बस्ट्राल से पहले निकले हैं, वे एक सीढ़ी आगे हैं। बाद में जो आये हैं और और भी बाद में जो आयेंगे, सबका तुम पर एक दावा है, जो दावा छोटे भाइयों का बड़े भाई पर होता है। उनके लिए तुम्हें कुछ देनदारी है, जिसका जितना सामर्थ्य है उतना, वह चाहे कितना भी सामान्य क्यों न हो।"

उसी समय एक बाहरी व्यक्ति कमरे में आ पहुँचा। आशुबाबू उसे बैठने को कह कर क्षण भर शम्सुल की ओर देख कर बोले, "इससे ज्यादा मुझे कुछ नहीं कहना है। बाकी तुम सोच देखो।"

तीन दिन बाद ही शम्सुल टीन का एक सूटकेस और दरी में बँधा छोटा बिस्तर ले कर सरपेंटाइन लेन के 'नूतन बस्ट्राल' में आ पहुँचा।

• • •

बारह

मनुष्य के जीवन की तुलना यदि दीर्घ पथ से की जाय तो यह बात भी मान लेनी होगी कि वह पथ ज्यामिति की सरल रेखा नहीं है। वहाँ अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्ते हैं, अनेक मोड़ हैं। सिर्फ यही नहीं। यह पथ कहीं समतल है तो कहीं ऊबड़-खाबड़। उसके दोनों ओर जो दृश्य हैं, वे भी कहीं श्यामल और कहीं ऊसर हैं। एक ओर शस्य-समृद्ध प्रांत है तो दूसरी ओर शुष्क, रिक्त बंजर भूमि। रास्ते के हर मोड़ पर एक तोरण है। उसके इस पार के साथ उस पार का कोई मेल नहीं। जैसे दो अलग राज्य हों, अलग संसार हों। एक स्तर पार करने के बाद दूसरे स्तर में प्रवेश होता है। आत्म-विभोर शैशव के बाद सद्य-जाग्रत कैशोर्य आता है। फिर सहसा मोड़ ले कर स्वप्नविभोर चांचल्यपूर्ण यौवन का स्वर्ण द्वार पार कर पथ चला जाता है निर्लिप्त-धूसर-वार्धक्य की ओर।

एक संधि क्षण में दिलीप उसी स्वर्ण तोरण के द्वार प्रांत पर आ खड़ा हुआ। उसकी आँखें इक्कीस वर्ष के सपनों से पूर्ण थी। इतने दिन जिस संसार में, जिस दायरे में उसके दिन कटे थे—प्रेस, मेडिकल कॉलेज, दोस्त-मित्रों, मास्टरजी और सबके अंतराल में फल्गु नदी की धारा के समान प्रवहमान वेदनामय मातृस्मृति में—वे जैसे यथेष्ट नहीं थे। उस संकीर्ण घेरे में उसे पूरा नहीं पड़ रहा था। उसके बाहर जो जगत था, जिसके संबंध में इतने समय तक उसे कोई कौतूहल नहीं था, जिसके लिए कभी कोई अभाव अनुभव नहीं किया, वह जगत आज उसे हाथ का इशारा कर बुला रहा था। साथ ही किसी एक अपूर्णता की वेदना ने रह-रह कर उसकी चेतना को बेचैन कर रखा था। दिलीप मन-ही-मन शंकित हो उठा। यह उसे क्या हुआ है? यह स्वप्न-विलास तो उसे शोभा नहीं देता। ऐश्वर्य का अधिकार लेकर तो वह जन्मा नहीं। कठोर-कठिन वास्तविकता का पथ पकड़ बढ़ते जा कर अपने पैरों पर खड़ा होना है। उसके जैसे निःस्व, रिक्त, स्वजन-बांधवहीन अभागे के जीवन में ये सब सिर्फ बाधाएँ हैं, सिर्फ अवांछित उपद्रव हैं। यह मोहपाश काट कर उसे निकलना होगा।

यही संकल्प ले दिलीप ने अपनी वर्त्तमान जीवन यात्रा के दैनिक कार्यक्रम मे खुद को डुबाये रखने की चेष्टा की। प्रेस के काम में इतने दिन जितना समय देता रहा था, उसमें एक घंटा और बढ़ा दिया। लेबोरेट्री मे दिन-दिन चीरा-फाड़ी में अधिक समय लगाने लगा। कंकाल और किताबों के शुष्क जगत को और भी जोर से पकड़ लिया। उसमें जब मन नहीं लगना चाहता या करने लायक और कोई काम नहीं खोज पाता, तब कुछ देर के लिए मास्टरजी के पास जा बैठता, कभी लड़कों के झुंड में। चारों ओर इतने कामों में खुद को बाँध लेने पर भी वह नहीं जान सका, हाथ के पास ही एक रंध्र रह गया है। पता नहीं चला। अंत तक कोई कभी जान भी नहीं सका

दिलीप भी नहीं जान पाया कि मेज के ऊपर वाली वही निरीह खिड़की ही उसके साथ विश्वासघात कर बैठेगी।

सबसे ज्यादा विस्मय की बात यह जान कर भी उसने उस खिड़की को बंद नहीं किया। प्रत्येक मनुष्य की भाँति उसके अंदर भी जिन 'दो व्यक्तियों' का वास था, उनमें से एक के हाथ बढ़ाते ही दूसरा आकर उसका हाथ पकड़ लेता। एक कहता— 'वहाँ कोई कल्याण नहीं', दूसरा उत्तर देता, 'किंतु सुख है।'

'सुख से कहीं ज्यादा वेदना है।'

'होने दो, फिर भी अच्छा लगता है।'

वर्षा विदा ले चुकी थी, किंतु शरद अभी पूरी तरह आकर जम के नहीं बैठा था। मेघ की गति मंथर और देह नई-शुभ्र थी। उसी के बीच से दिखाई देता था सद्य-स्नात आकाश का गाढ़ा नीला अंचल। चारों ओर मेघमुक्त धूप झलमला रही थी। मन अपने आप उदास हो, काम का बंधन और अक्षरों का बांध पार कर निकल जाना चाहता।

दिलीप अपने कमरे में बैठा पढ़ रहा था। एक जटिल विषय में एकचित्त होने की चेष्टा में लगा था। सामने की खुली खिड़की पर अचानक दृष्टि चली गयी। गली के उस पार की खुली छत पर रेलिंग के पास, उसके सामने जो आकर खड़ा था, वह भी नीली साड़ी पहने था। लगा, जैसे आकाश का ही एक टुकड़ा मेघलोक से उतर कर उसकी आँखों के सामने आ खड़ा हो। दो आँखों की पलकें पल भर को खुलीं और तुरंत ही चकित हो बंद हो गयीं, वहाँ भी नीलांजन रेखा दिखाई दी। दिलीप ने आँखें झुका ली थीं। क्षण भर बाद जब उठाईं, उस ओर तब भी कपड़े सूखने डालने का संक्षिप्त कार्य समाप्त नहीं हुआ था। भीगी केशराशि पीठ पर बिखरी थी। थोड़ा झुक कर फैलाई हुई साड़ी का एक सिरा रेलिंग से बाँध रही थी। बाँधते-बाँधते सहसा कुछ सोच कर उसने अपनी आँखें फिर खुली खिड़की के इस पार पहुँचा दीं। क्या पता क्यों? क्या था उन आंखों में? सिर्फ कौतूहल? नहीं, उसके साथ····

पीछे से दो हाथों ने अचानक आगे आकर सशब्द खिड़की बंद कर दी। दिलीप ने चौंक कर पीछे देखा और तुरंत आँखें झुका लीं, जैसे कोई अपराध करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया हो। शम्सुल की आँखों में विरक्ति की भृकुटि थी। माथा कुंचित कर बोला, "लड़की कौन है, रे?"

"पता नहीं।"

"मैं जानता हूँ।"

"कौन है?" दिलीप ने साग्रह आँख उठाई।

"उसे नहीं पहचानता, फिर भी उसकी जाति को पहचानता हूँ।" शम्सुल दृढ़ गंभीर स्वर में बोला, उसके मुंह पर जैसे किसी दूरागत आक्रोश की छाया थी। दिलीप

चुपचाप देखता रहा। वस्ट्राल का शम्सुल याद आ गया। समझ गया, इतने वर्ष बीत जाने पर भी वह तिलमात्र नहीं बदला है। मामले को थोड़ा हल्का करने के उद्देश्य से ही शायद मृदु हँसी हँस कर बोला, "देखता हूँ तुम आज भी वैसे ही बच्चे रह गये हो।"

"बच्चा!" शम्सुल गहरे विस्मय से घूम कर खड़ा हो गया।

"और नहीं तो क्या? एक की खातिर तुम पूरी जाति को ही ऐसा समझोगे?"

"चावल का एक दाना दबा कर ही पूरी हांडी का हाल मालूम हो जाता है।"

"यह जनानी उपमा है। इससे कुछ प्रमाणित नहीं होता। इसके अलावा शायद तुम उस लड़की को ही गलत समझ बैठे हो। आखिर में वह जो बोली थी, या जो किया था, निश्चय ही उसने कोई दबाव पड़ने पर किया, अपनी इच्छा से नहीं। नहीं जानते, वे कितनी असहाय होती हैं?"

"जानता हूँ। उनसे भी ज्यादा असहाय हम हैं। एक झलक देखने का भार भी हम नहीं सह सकते। थोड़ा मुस्करा दे, तब तो बात ही नहीं। तुरंत ढुलक गये। नहीं, दिलीप, जब तक मैं हूँ, इस फंदे में तुम्हें पैर नहीं फँसाने दूँगा। तुम्हारा जीवन इतना सस्ता नहीं है। उसे लेकर खिलवाड़ नहीं चलेगा।"

समाप्त हो जाने के बाद भी शम्सुल की आखिरी बातें जैसे कमरे में गूंजने लगीं। दिलीप सिर नीचा किये, पलकहीन दृष्टि से फर्श की ओर देखता रहा। कुछ क्षण बाद आँख उठा कर बोला, "तुम्हें डरने की जरूरत नहीं। मैं ठीक हूँ।"

अब शम्सुल के चेहरे पर प्रसन्नता का भाव दिखाई दिया। हँसते हुए बोला, "यह देखो, जिस लिए आया था, उसे तो भूल ही गया। मास्टरजी तुम्हें बुला रहे हैं।"

"क्यों, बताया नहीं?"

"कोई महाशय आये हैं। शायद उनसे परिचय कराना चाहते हैं।"

"कौन हैं वह?"

"यह सब नहीं जानता, बाबा। बुला रहे हैं, चल।"

उधर गली के उस पार की रेलिंग घिरी छत पर दो काली आंखों के तारों में जो बिजली चमकी, उसका इन दोनों में से किसी को पता नहीं चला। उसकी एक तीक्ष्ण किरण तेजी से आकर इधर की बंद खिड़की पर पड़ी। यह कैसी शिष्टता है? इस तरह उसके मुंह पर दोनों कपाट बंद न करके क्या पढ़ाई में बाधा आती? बहुत आये पढ़ने वाले! पढ़ने के नाम पर मुर्दे की खोपड़ी या कुछ अस्थिपंजरों को लेकर खेलना। मेरा अंगूठा उधर देखे। उन सबको देखते ही सारा शरीर घृणा से

सिहर जाता है। जो डॉक्टरी पढ़ते हैं, उन्हें तो वह फूटी आँखों से भी नहीं देख सकती।

होंठ बिचका कर उपेक्षापूर्ण कटाक्ष खिड़की के दरवाजे पर फेंक तिरस्कार करती चली जा रही थी। हठात् कुछ सोचकर थमक कर खड़ी हो गयी। बंद खिड़की की ओर देख दोनों आँखें जैसे जल उठीं। नहीं, नहीं यह सिर्फ अभद्रता ही नहीं, अपमान भी है। किंतु क्यों? कैसा अपमान? उसने क्या किया? मन-ही-मन बात करने में भी गला रुँध गया। अभी तक जिन आँखों में आग थी, पल भर में ही उसमें जल क आभास दिखाई देने लगा। अर्थहीन रोष से गोरा मुख लाल हो उठा। धम-धम करते पैर पटकती वह तुरंत नीचे चली आई और अपने कमरे में घुस जोर से दरवाजा बं कर लिया।

अगले दिन उसी समय वह फिर छत पर दिखाई दी। पीठ पर झूलते भीं केश और हाथ में निचुड़ी हुई भीगी साड़ी। आज अब इस तरफ नहीं आई, जीने दरवाजे से निकल तेजी से उधर की तरफ चली गई। रेलिंग पर से कपड़ा नीचे लटक कर आंचल का एक छोर किसी प्रकार सींखचे के साथ बाँध, जल्दी से नीचे उतर गई जैसे वहाँ कई जरूरी काम करने को पड़े हों। एक बार भी इधर घूम कर नहीं देखा देखने पर देख पाती कि वह खिड़की आज खुल गई है। और यह भी देखती, उसवे पास जो व्यक्ति बैठा है, उसकी आँखों में भीरु प्रतीक्षा है। इसके बाद वहाँ नैराश्य वे अंधकार उतर आया है। अब तक उसकी दृष्टि कभी किताब के पन्ने पर और कभ खिड़की के बाहर थी। अब वह सीधा हो कर बैठ गया और एकटक शून्य छत की ओर देखने लगा। यह क्या हुआ? उसने क्या अपराध कर दिया, जिसके लिए यह रुख-परि वर्तन हुआ? इधर की रेलिंग में क्या बुराई आ गई, जो कपड़े सूखने डालने जैसा इतन मामूली काम भी वहाँ नहीं हो सकता इतने दिन तो चल रहा था? दिलीप यही आकाश पाताल की सोचता रहा। किंतु एक बात उसके मस्तिष्क में बिलकुल नहीं समाई—अपराध उसने नहीं किया, किया उसकी खिड़की के दो पल्लों ने असमय में बंद हो कर। किसी के अपराध का फल दूसरे को भोगना पड़ता है—ऐसे उदाहरण संसार में विरल नहीं हैं। 'दशाननो हरयो सीतां, बधनं स्यात् महादधेः।' सीता हरण रावण ने किया, उसवे लिए बांधा गया महासागर को। हितोपदेश पढ़े होने पर भी दिलीप को ऐसी कोई संभा बना प्रतीत नहीं हुई। मनुष्य बहुत स्वार्थी है। वह सिर्फ अपनी ओर देखता है, अपनी बात सोचता है—मैंने क्या किया। कुछ न करके जो अनेक कुछ के लिए उत्तरदायी होना पड़ता है, उतना संसार-ज्ञान उसे तब नहीं हुआ था।

बहुत देर तक उस ओर देखते-देखते विचार ने दूसरा मोड़ लिया। लगा, जो भी कारण हो, इसमें निश्चय ही कोई शुभ संकेत है। कुछ दिन से रह-रह कर खुद को उसने कहीं खो दिया था। न काम में, न पढ़ाई में, कहीं भी ठीक से मन नहीं लग पा रहा था। कितने दिन यहाँ बैठ कर घंटों के बाद घंटे बिता दिये, एक पन्ना भी पढ़न

नहीं हो सका था। सारा मन एकाग्र हो प्रतीक्षा करता—उस छत पर कब वही रमणीय आविर्भाव होगा? अंतर-द्वार पर कब सुनाई देगी वही नित्यप्रत्याशित लघु-चरण ध्वनि। वह आई, चली गई, जाने से पहले छोड़ गई एक क्षणिक चकित दृष्टि। उसी आधार को कृपण के धन की भांति सहेजते-सहेजते सारा सुबह काट दिया। कभी वह इस निःशब्दचारिणी को आधार बना कर एक के बाद एक स्वप्न-जाल बुनता रहा, तो कभी एक के ऊपर दूसरे प्रासाद का शून्य पर निर्माण करता रहा।

फिर सहसा यह मूढ़ता उसके अपने आगे पकड़ी गई। अपने संबंध में दिलीप सदैव अति-सचेतन था, अपनी परिधि के प्रति अति सजग था। बाहर के संसार में उसका क्या स्थान है, यह वह भली प्रकार जानता था। साथ ही यह भी जानता था कि ज्ञान आने से पहले ही जिस मसि-लांछित ललाट-लिपि का आधार ले उसने संसार-पथ पर कदम रखा है, समाज की प्रथम दृष्टि सदा बस उसी पर केंद्रित है। अपनी शक्ति और चेष्टा उसे जहाँ भी ले जाय, यह रेखा ही उसके मूल्यांकन की कसौटी बनी रहेगी। इसलिए खिड़की के उस ओर का यह राज्य उसके लिए निषिद्ध जगत है, वहाँ उसे प्रवेश का अधिकार नहीं। वहाँ के आकाश की जो आलोक-रश्मि उसे खींच रही है, उसके लिए वह मृग-मरीचिका है, एक मनोहर विभ्रम है, विपथ पर ले जाने का मधुर संकेत है। वह मृगनयनी किशोरी दूसरों के सम्मुख कितनी ही सत्य हो, उसके समक्ष सिर्फ मोह-संचारी माया-मृग है। वह स्पर्श-पकड़ से दूर है, अप्राप्य है। उसे ले कर स्वप्न रचने का क्या लाभ!

अतः यह ठीक ही हुआ। वह अपने आप ही हट गई, धीरे-धीरे जो मोहजाल फैला कर उसकी ओर आई थी, खुद ही उसे समेट कर उसे मुक्ति दे गई; इसके लिए उसे कोई क्षोभ नहीं हुआ। बल्कि मन-ही-मन कृतज्ञ हुआ। अब वह निर्विकार रह निश्चिंत मन से अपना काम कर सकेगा। शम्सुल ने ठीक ही कहा था। कठिन-कठोर रास्ता पकड़ कर उसे आगे बढ़ना है। वहाँ आकाश-कुसुम को स्थान नहीं।

दिलीप अंगों को झटक कर ठीक से बैठ गया। उसे बहुत कुछ हल्कापन लगा। सारी देह से जैसे एक सख्त बंधन खुल कर गिर गया हो। गगनस्पर्शी अलस कल्पना-जगत से विक्षिप्त मन को समेट 'एनाटामी' के अति वास्तविक और संकीर्ण घेरे में बांध कर रखने की चेष्टा की। वह मेडिकल स्टूडेंट है। मानव मन की अदृश्य, गोपन और सूक्ष्म गलियों के भूलभूलैया में भटकने से उसे क्या लाभ है? इससे तो सच्चा लाभ इसमें है कि वह मनुष्य की देह में अस्थि, मज्जा, शिरा और उपशिरा का जो प्रकट फिर भी दुर्बोध जाल जुड़ा है, उसका संधान पा ले। एक लड़की के सामान्य एक दिन के एक सामान्य मनोभाव का रहस्योद्घाटन करने की चेष्टा न कर के, हजारों-हजारों लड़कियाँ चिर दिन जिन असंख्य दैहिक यंत्रणाओं को भोग कर मर रही हैं, उनमें से किसी एक का कारण यदि निर्धारित कर सके, तो यह बहुत बड़ा काम होगा।

टिड्डी-दल के समान भागते-भागते लौट आते हैं। विचित्र वेशी जुलूस दिखाई देता है सुवह-शाम। किसी के हाथ में कलम है, किसी के कंधे पर गैंती और किसी के सिर पर टोकरी। कोई वावू है, कोई मिस्त्री और कोई फेरीवाला। पेशे विभिन्न हैं किंतु लक्ष्य एक है—शहर की तावेदारी, उसकी जीवन धारा को सचल और सचल रखना, उसके विलास और स्वच्छंदता का परिपोषण।

किंतु परिपुष्टि की एक सीमा है। जब वह पार हो जाती है, तब व्याधि बन जाती है। भोजन प्राणधारण के लिए है, किंतु आकंठ-भोजन से वही प्राण ले कर खींचतान शुरू हो जाती है। शहर के बारे में भी यही बात है। जीवन यात्रा के उप-करण वढ़ते-वढ़ते उसे एक ऐसे स्तर पर ले जाते हैं, जहाँ जीवन की प्राथमिक आव-श्यकता निश्वास वायु—ताजा हवा—के लिए छीना-झपटी शुरू हो जाती है। कलकत्ते की भी एक दिन यही हालत दिखाई दी। एक ओर 'ईंट के ऊपर ईंट' और दूसरी ओर इंसान के ऊपर इंसान—दोनों ओर से दोनों फेफड़े दवने लगे। 'सिटी ऑफ पैलेसेज' के गर्व से जिसके कभी जमीन पर पाँव नहीं पड़ते थे, वही अव छटपटाने लगा—कहाँ जाय, कहाँ जा कर थोड़ा खुली साँस लेकर जीवित वचे।

देखा गया, उनके पास सव कुछ है—धनवल, जनवल, भोग्य वस्तुओं का विपुल भंडार, अभाव सिर्फ ऐसी जगह का है, जहाँ साँस छोड़ने लायक थोड़ी खुली जमीन हो। सिर्फ जीवित रहने की आवश्यकता ही उनकी सवसे वड़ी आवश्यकता वन गई। यह जरूरत कौन पूरी करे? सवर्वन : जिसका एकमात्र दायित्व ही उनकी सव जरूरतें पूरी करना है। अव और कल-कारखाने नहीं, सिर्फ थोड़ी खुली जगह चाहिए, जहाँ उन्हें ऑक्सीजन, उनकी प्राण वायु मिल सके। खोज शुरू हुई, कहाँ है ऐसी जगह? उत्तर में हाथ डालने का उपाय नहीं था। वहाँ विराट-विराट कारखाने लगा कर एक-एक राज्य जोड़ कर वैठे हैं इस युग के दुर्योधन, चंगेज खाँ, नादिरशाह के दल। वहाँ की 'सूच्याग्रमेदनी' भी 'विना युद्ध' मिलने की वात नहीं सोची जा सकती। युद्ध करने पर उन्हीं की जय अनिवार्य है। पश्चिम में गंगा है, उसके उस पार भी वही इतिहास है। दक्षिण में थोड़ी खाली जमीन पाई गयी—कई खंदकें, पुराने गड्ढे, कीचड़, सिवार और मच्छरों का स्थायी निवास जिनके प्रकोप से ढाकुरिया और उसके आसपास के लोग वर्ष में छह माह कथरी ओढ़ ही-ही करके काँपते हैं। उसी पर कुदाल चला कर, समतल वना एक भद्र ढंग के जलाशय का रूप दिया गया। नगर प्रवंधकों ने उसका आधुनिक नाम रखा, 'लेक'। (स्वराज्योत्तर युग में इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के रवींद्रभक्त चेयर-मैन ने फिर से उसका नामकरण किया—'रवींद्र सरोवर'।)

किंतु इतने से क्या होता। इतने वड़े शहर की राक्षसी आवश्यकता की इस सरोवर ने अंशमात्र भी तो पूरा नहीं किया—भले ही उसका नाम रवींद्र सरोवर तव नजर पड़ी पूर्व की ओर—सियाल्दह स्टेशन से ले कर फैला वेलेघाटा का

इलाका। वहाँ कल कारखाने नहीं थे, वस वस्ती के वाद वस्तियाँ थीं। उनके भी तो मालिक थे। पर वे सरलता से राजी हो गये। दो-चार रुपये के भाड़े की वसूली में वहुत झमेले थे। उससे तो एक साथ मोटी रकम पर हाथ मारना ही ठीक। खपरैल, टीन और छप्परों को तोड़-ताड़ एक और लेक तथा उसके चारों ओर सुन्दर वंगले वनाने की योजना इंप्रूवमेंट ट्रस्ट ने वनाई। वस्ती के घर-घर में लोग भरे थे—कारखानों के मजदूर ही नहीं, वाल-वच्चों वाले गृहस्थ भी। उन्हें हुक्म हुआ—छोड़ कर चले जाओ। कहाँ जायें? इस प्रश्न का जवाव देने की जिम्मेदारी जमींदार या सरकार किसी की नहीं। जाओ, जहाँ खुशी हो।

उन्हीं की वात कह रहा था गोकुलदास। सिर से प्राय: खाली, हलकी टोकरी उतार रास्ते के किनारे वहुदिन परिचित वट-वृक्ष की जड़ पर वैठ, सिर पर वँधा अँगोछा खोल हवा करने लगा। फिर वोला, "इतने लोग वहू-वच्चे लेकर रात काट सकें, ऐसे एक पेड़ तले कोई ठिकाना खोज सकें, इतना समय भी नहीं दिया। पर छोड़ने से पहले ही पश्चिमी मजदूरों ने आकर जमीन पर गैंती चलाना शुरू कर दिया।"

"क्या कह रहे हो!" विस्मय से दिलीप ने पूछा।

"क्या झूठ वोल रहा हूँ? मैंने अपनी आँखों देखा है, वावू।"

"फिर? वे सव कहाँ गये?"

"जहाँ जाते वना; ये सव लोग हमेशा जहाँ जाते हैं।" इस वार शम्सुल ने उत्तर दिया—"इतिहास ही उनका पता नहीं रखता, वह कैसे जाने?...जाने दो, अव हम उठें।"

वोला भले ही, किंतु तुरंत उठने का उपक्रम नही किया। गोकुल शायद मन-ही-मन थोड़ा लज्जित हुआ। आसन्न संध्या के छायापूर्ण मैदान की ओर एक-दो वार नजर फिरा कर वोला, "वुड्ढा हो जाने पर इंसान कुछ ज्यादा ही वकवक करता है। आप लोग कुछ वुरा न मानें, वावू।"

"नहीं, नहीं, वुरा मानने की क्या वात है?" शम्सुल ने कहा, "ऐसे ही कहा कि अव उठ पड़ें। वहुत दूर जाना है ना। इसके अलावा, यह सव सुनने का मतलव मन खराव करना है। कर तो कुछ सकते नहीं।"

"वह तो नहीं कर सकते, सुन लें, यही हमें वहुत अच्छा लगता है। इतना भी कौन करता है वावू?"

दिलीप की इच्छा उठने की नहीं हो रही थी। एक ओर तोड़ी हुई और दूसरी ओर किसी-न-किसी तरह टिकी हुई इन वहु-विस्तृत वस्तियों पर वह कैसा एक अलक्ष्य आकर्षण अनुभव कर रहा था। उठे-उठे करके भी नहीं उठ पा रहा था।

किसी एक पर्व के उपलक्ष्य में कॉलेज की आज छुट्टी थी। प्रेस का काम भी वंद था। धूप कम होते ही शम्सुल को वुलाकर वह निकल पड़ा था। इधर वहुत दिन

से आना नहीं हुआ था। यद्यपि जानता था, आना बेकार है, इस प्रकार आलतू-फालतू खोज का कोई मतलब नहीं है, फिर भी मन नहीं मानता। घूमते-घूमते बड़े मार्ग से उतर बहुत दूर तक अंदर चला आया था। शायद आज भी वही घना आम का पेड़ खड़ा हो। इस बरगद के पेड़ के पास सहसा गोकुल मिल गया। उन्होंने नहीं देखा। कितने ही लोग तो इस रास्ते से आते-जाते हैं, हालाँकि इस व्यक्ति से और उसकी टोकरी तथा उसके अंदर की लोभनीय वस्तु से उनका परिचय कम दिनों का नहीं था; विशेप-कर दिलीप का। गोकुल ने भी पहले ध्यान नहीं दिया। कुछ कदम पास आते ही चहक उठा, "क्या कमाल है। बाबू लोग यहाँ कैसे? 'नेक' देखने आये हैं शायद? देखिए न जमीन खोदना शुरू हो चुका है। अभी क्या? एक वर्ष बीतने दीजिए, तब हवा खाने आइयेगा। बहुत से लोग आयेंगे। एक कदम भी पैदल चलना नहीं पड़ेगा। शहर से सीधी हवा गाड़ी उड़ा ले आया करेगी।"

गोकुल बात जमाना जानता था। एक-दो अन्य बातों के बाद अनजाने में ही अपनी पिछली बातों पर चला आया—अपनी खुद की आँखों से देख इस टूटी बस्ती के इतिहास और उसके साथ ही जुड़ी एक झुण्ड निराश्रित इंसानों की प्रतिकारहीन दुर्दशा की कहानी पर। सुनते-सुनते शम्सुल और दिलीप कब इस एकसार कहानी में डूब गये, उन्हें पता ही नहीं चला। एक बार शम्सुल ने बीच में प्रश्न किया था, "तुम यहाँ कहाँ रहते हो?"

गोकुल अपना दायाँ हाथ उठा कर बोला, "वे जो ताड़ के दो पेड़ दिख रहे हैं ना, उनके एकदम पास मेरा घर है।"

"तब तो तुम्हें भी एक दिन हटना पड़ेगा।"

"इसके लिए मैं नहीं सोचता। उसमें कुछ देर है। चिंता तो अपनी माँ के लिए है। बेटा लोग कल फिर नोटिस दे गये हैं। इधर माँ किसी हालत में घर नहीं छोड़ना चाहती।"

"तुम्हारी माँ!" दिलीप के प्रश्न में थोड़ा विस्मय था, "वह क्या तुम्हारे साथ नहीं रहतीं?"

"नहीं जी। मेरे साथ कैसे रहेंगी? मेरी माँ ब्राह्मण हैं ना!" कह कर उसने सम्मान में हाथ जोड़ कर माथे पर लगाये। फिर बोला, "मेरी जन्मदात्री माँ नहीं हैं, फिर भी उससे कहीं ज्यादा हैं। जिनके हाथ का लड्डू खा कर आप लोग खूब तारीफ करते हैं। मैंने माँ को यह बात बताई थी। सुन के बहुत खुश हुईं। और यह भी कहा, "जानती हो माँ? वहाँ एक बाबू हैं, डॉक्टरी पढ़ते हैं। वह भी तुम्हारे लड्डू के बहुत भक्त हैं।....ठीक कहा या नहीं?"

कह कर दिलीप की ओर एक विशेष इंगित कर हँस पड़ा जैसे उसके मन की बात खोल दी हो। शम्सुल उस हँसी में योग देने जा रहा था; अचानक मित्र के चेहरे

इलाका। वहाँ कल कारखाने नहीं थे, बस बस्ती के बाद बस्तियाँ थीं। उनके भी तो मालिक थे। पर वे सरलता से राजी हो गये। दो-चार रुपये के भाड़े की वसूली में बहुत झमेले थे। उससे तो एक साथ मोटी रकम पर हाथ मारना ही ठीक। खपरैल, टीन और छप्परों को तोड़-ताड़ एक ओर लेक तथा उसके चारों ओर सुन्दर बंगले बनाने की योजना इंप्रूवमेंट ट्रस्ट ने बनाई। बस्ती के घर-घर में लोग भरे थे—कारखानों के मजदूर ही नहीं, बाल-बच्चों वाले गृहस्थ भी। उन्हें हुक्म हुआ—छोड़ कर चले जाओ; कहाँ जायें? इस प्रश्न का जवाब देने की जिम्मेदारी जमींदार या सरकार किसी की नहीं। जाओ, जहाँ खुशी हो।

उन्हीं की बात कह रहा था गोकुलदास। सिर से प्रायः खाली, हलकी टोकरी उतार रास्ते के किनारे बहुदिन परिचित वट-वृक्ष की जड़ पर बैठ, सिर पर बँधा अँगोछा खोल हवा करने लगा। फिर बोला, "इतने लोग बहू-बच्चे लेकर रात काट सकें, ऐसे एक पेड़ तले कोई ठिकाना खोज सकें, इतना समय भी नहीं दिया। पर छोड़ने से पहले ही पश्चिमी मजदूरों ने आकर जमीन पर गैंती चलाना शुरू कर दिया।"

"क्या कह रहे हो!" विस्मय से दिलीप ने पूछा।

"क्या झूठ बोल रहा हूँ? मैंने अपनी आँखों देखा है, बाबू।"

"फिर? वे सब कहाँ गये?"

"जहाँ जाते बना; ये सब लोग हमेशा जहाँ जाते हैं।" इस बार शम्सुल ने [illegible]तर दिया—"इतिहास ही उनका पता नहीं रखता, वह कैसे जाने?···जाने दो, अब [illegible] उठें।"

बोला भले ही, किंतु तुरंत उठने का उपक्रम नही किया। गोकुल शायद मन-ही-[illegible] थोड़ा लज्जित हुआ। आसन्न संध्या के छायापूर्ण मैदान की ओर एक-दो बार नजर [illegible]रा कर बोला, "बुड्ढा हो जाने पर इंसान कुछ ज्यादा ही बकबक करता है। आप [illegible]ग कुछ बुरा न मानें, बाबू।"

"नहीं, नहीं, बुरा मानने की क्या बात है?" शम्सुल ने कहा, "ऐसे ही कहा [illegible] अब उठ पड़ें। बहुत दूर जाना है ना। इसके अलावा, यह सब सुनने का मतलब [illegible] खराब करना है। कर तो कुछ सकते नहीं।"

"वह तो नहीं कर सकते, सुन लें, यही हमें बहुत अच्छा लगता है। इतना भी [illegible]न करता है बाबू?"

दिलीप की इच्छा उठने की नहीं हो रही थी। एक ओर तोड़ी हुई और दूसरी [illegible]र किसी-न-किसी तरह टिकी हुई इन बहु-विस्तृत बस्तियों पर वह कैसा एक अलक्ष्य [illegible]कर्षण अनुभव कर रहा था। उठे-उठे करके भी नहीं उठ पा रहा था।

किसी एक पर्व के उपलक्ष्य में कॉलेज की आज छुट्टी थी। प्रेस का काम भी [illegible] था। धूप कम होते ही शम्सुल को बुलाकर वह निकल पड़ा था। इधर बहुत दिन

से आना नहीं हुआ था। यद्यपि जानता था, आना बेकार है, इस प्रकार आलतू-फ़ालतू खोज का कोई मतलब नहीं है, फिर भी मन नहीं मानता। घूमते-घूमते बड़े मार्ग से उतर बहुत दूर तक अंदर चला आया था। शायद आज भी वही घना आम का पेड़ खड़ा हो। इस बरगद के पेड़ के पास सहसा गोकुल मिल गया। उन्होंने नहीं देखा। कितने ही लोग तो इस रास्ते से आते-जाते हैं, हालाँकि इस व्यक्ति से और उसकी टोकरी तथा उसके अंदर की लोभनीय वस्तु से उनका परिचय कम दिनों का नहीं था; विशेष-कर दिलीप का। गोकुल ने भी पहले ध्यान नहीं दिया। कुछ कदम पास आते ही चहक उठा, "क्या कमाल है। बाबू लोग यहाँ कैसे? 'नेक' देखने आये हैं शायद? देखिए न जमीन खोदना शुरू हो चुका है। अभी क्या? एक वर्ष बीतने दीजिए, तब हवा खाने आइयेगा। बहुत से लोग आयेंगे। एक कदम भी पैदल चलना नहीं पड़ेगा। शहर से सीधी हवा गाड़ी उड़ा ले आया करेगी।"

गोकुल बात जमाना जानता था। एक-दो अन्य बातों के बाद अनजाने में ही अपनी पिछली बातों पर चला आया—अपनी खुद की आँखों से देख इस टूटी बस्ती के इतिहास और उसके साथ ही जुड़ी एक झुण्ड निराश्रित इंसानों की प्रतिकारहीन दुर्दशा की कहानी पर। सुनते-सुनते शम्सुल और दिलीप कब इस एकसार कहानी में डूब गये, उन्हें पता ही नहीं चला। एक बार शम्सुल ने बीच में प्रश्न किया था, "तुम यहाँ कहाँ रहते हो?"

गोकुल अपना दायाँ हाथ उठा कर बोला, "वे जो ताड़ के दो पेड़ दिख रहे हैं ना, उनके एकदम पास मेरा घर है।"

"तब तो तुम्हें भी एक दिन हटना पड़ेगा।"

"इसके लिए मैं नहीं सोचता। उसमें कुछ देर है। चिंता तो अपनी माँ के लिए है। बेटा लोग कल फिर नोटिस दे गये हैं। इधर माँ किसी हालत में घर नहीं छोड़ना चाहती।"

"तुम्हारी माँ!" दिलीप के प्रश्न में थोड़ा विस्मय था, "वह क्या तुम्हारे साथ नहीं रहतीं?"

"नहीं जी। मेरे साथ कैसे रहेंगी? मेरी माँ ब्राह्मण हैं ना!" कह कर उसने सम्मान में हाथ जोड़ कर माथे पर लगाये। फिर बोला, "मेरी जन्मदात्री माँ नहीं हैं, फिर भी उससे कहीं ज्यादा हैं। जिनके हाथ का लड्डू खा कर आप लोग खूब तारीफ करते हैं। मैंने माँ को यह बात बताई थी। सुन के बहुत खुश हुईं। और यह भी कहा, "जानती हो माँ? वहाँ एक बाबू हैं, डॉक्टरी पढ़ते हैं। वह भी तुम्हारे लड्डू के बहुत भक्त हैं।....ठीक कहा या नहीं?"

कह कर दिलीप की ओर एक विशेष इंगित कर हँस पड़ा जैसे उसके मन की बात खोल दी हो। शम्सुल उस हँसी में योग देने जा रहा था; अचानक मित्र के चेहरे

पर नजर पड़ते ही रुक गया। वहाँ जो शुष्क, म्लान वेदना की छाया फूट उठी थी, संध्या के अँधेरे में भी वह अस्पष्ट नहीं रही। यह छाया क्यों है, यह भी उसे छिपा न था। लड्डू के साथ उसकी माँ की स्मृति जुड़ी है, पहले दिन ही सुन चुका था।

गोकुल उन दोनों के मुख पर नजर डाल, विशेष रूप से दिलीप को लक्ष्य कर के बोला, "मेरी माँ से मिलने चलेंगे क्या? पास में ही तो हैं। माँ तुमसे मिल कर बहुत खुश होंगी। मैंने उन्हें सब बता दिया है, ना।"

"जाने दो," कह कर दिलीप उठ खड़ा हुआ। शम्सुल ने उसका समर्थन किया, "हाँ, आज हम चलें। फिर अगर आयेंगे, तब तुम्हारी माँ से मिलने जायेंगे।"

लौटते समय काफी देर तक चुपचाप चलते रहने के बाद शम्सुल ने ही बात शुरू की। उसका आज की बात से कोई संबंध नहीं था। एकदम अलग प्रसंग में बोला, "उस भलेमानस से परिचय हुआ?"

"किस भलेमानस से?"

"वही, जो उस दिन मास्टरजी के कमरे में बैठे थे। मैं ही तो तुझे बुला कर ले गया था।"

"ओह, वह प्रोफेसर? परिचय ही क्या? उन्होंने यह-वह पूछा, मैंने उत्तर दे दिया!"

"अपनी गली में ठीक सामने जो मकान है ना, उसी में तो रहते हैं वह।"

"कह तो रहे थे।"

"वह लड़की तब उन्हीं की होगी। कोई मतलब-वतलब तो नहीं था? ऐसा कोई आभास मिला क्या?"

दिलीप हँस पड़ा। शम्सुल गंभीरता से बोला, "यह मामला हँस के उड़ा देने का नहीं है। कुछ कहा नहीं जा सकता। अपने सर ऐसे ही ठहरे। बातचीत के दाँवपेंच से उन्हें काबू कर लेने में कितनी देर लगती है।"

"देखता हूँ तुमने दिन में भी भूत देखना शुरू कर दिया है।"

"शायद यही बात हो। मुझे जितना डर भूत से नहीं लगता, उससे कहीं ज्यादा भूतनी से डरता हूँ। उन्हें पहचाना जो नहीं जा सकता। उनका पेशा ही जो छल-कपट का ठहरा! कब जो बहका कर मुँह फेर ले, कोई नहीं जान सकता। मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना है उनसे होशियार रहना।"

दिलीप हंसते हुए बोला, "तुम झूठमूठ डर रहे हो। जो सोच रहे हो, वह कुछ भी नहीं है। एक बिल्कुल मामूली बात है। प्रोफेसर भलेमानस हैं, दिल में कुछ दया-माया है। जिसे भावुकता कहते हैं, उसके सामान्य स्पर्श से शायद बच नहीं सके। इतने लड़के-छोकरे मिल कर इस गली में क्या कर रहे हैं, इस बारे में जानकारी लेने पर जब उन्हें पता चला कि हम लोग कौन हैं, तब पड़ोस के ज्यादातर लोगों की तरह

नाक पर कपड़ा लगा कर भागने के बजाय, सर को थोड़ी शाबाशी देने पास आ गये।"

"और सर इतना पिघल गये कि तुम्हें ले जा कर हाजिर कर दिया—यह देखिए हम कैसे लड़के तैयार कर रहे हैं......" शम्सुल ने थोड़े व्यंग्य के स्वर में कहा।

दिलीप मन-ही-मन कुछ आहत हुआ। फिर भी स्वर को सहज बनाये रखकर बोला, "मामले को इस तरह क्यों देख रहे हो ? मास्टरजी की यही इच्छा है, बस्टाल से निकल आने पर भी हम उससे ही न जुड़े रहें, हमारे अंग पर जो मुहर लग गई है, वह मिट जाय। बाहरी समाज के फ्रेम में अपने आपको फिट बिठा लें ताकि एक दिन संसार के अन्य लोगों की भाँति हमारा भी काम और पेशे से परिचय दिया जा सके। वह हमारा असली परिचय सभी के आगे छिपा कर फिर भी नहीं रखते। इस प्रोफेसर के पास भी नहीं छिपाया। उन्हें विश्वास है, हम यदि इंसान बन सके तो संसार की दृष्टि में हमारा यह परिचय एक दिन अपने आप ही लुप्त हो जायगा। यही उनकी भूल है।"

बोलते-बोलते दिलीप के मुख पर म्लान हँसी फूट उठी।

तब तक वे मैदान छोड़ कर बड़े रास्ते पर नहीं पहुँचे थे। दोनों पास-पास निर्जन पथ पर चल रहे थे। शम्सुल दृढ़ स्वर में बोला, "नहीं, दूसरों की बात तो नहीं जानता। फिर भी सर ने एक के बारे में गलती नहीं की, इतना जोर दे कर कह सकता हूँ।" कह कर उसका एक हाथ जोर से पकड़ लिया।

दिलीप चीण कातर आवाज कर बोला, "इतना जोर मुंह में ही रखो न, बाबा, पतले इंसान की कलाई पर क्यों डाल रहे हो ?"

"पता है, दिलीप," उसी हाथ को अब यथारीति झटका दे कर शम्सुल बोला, "इसी बात से तुझे ले कर हमें डर है। तुझे बहुत ऊपर उठना है। रास्ता सीधा और आसान नहीं है। पग-पग पर कितनी ही बाधाएँ, कितनी ही मुसीबतें हैं। उससे भी ज्यादा डर इस बात का है कि कभी कोई आ कर रुकावट न डाल दे। इस प्रोफेसर के अकेले होने पर चिंता नहीं होती। जितनी खुशी हो, उतनी वाहवाही दें, पीठ ठोकें, नुकसान नहीं। उसे हम सह सकते हैं। किंतु उसके मन में अगर और कुछ है यानी उस दिन उसकी छत पर जो देखा, उसी तरह का कुछ होने पर हमें भी अड़ कर खड़ा होना पड़ेगा।"

कह कर उसने हठात् रुक दाएँ हाथ का घूंसा ताना जैसे सचमुच अड़ कर खड़ा हो गया हो। वह मूर्ति देख दिलीप हो-हो करके हँस पड़ा। फिर उसके घूंसा तने हाथ को पकड़ आगे बढ़ते हुए बोला, "चलो, चलो। परछाईं के साथ कुश्ती लड़ने से क्या होगा ? बदले में सिर्फ देह में दर्द मिलेगा। लड़ना है तो चलो आमने-सामने लड़ो।"

कुछ कदम चल, हाथ छोड़ कर बोला, "फिर भी यह जान के रखो, इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी। ऐसा उनके मन में कुछ नहीं है। रह भी नहीं सकता।"

पर नजर पड़ते ही रुक गया। वहाँ जो शुष्क, म्लान वेदना की छाया फूट उठी थी, संध्या के अँधेरे में भी वह अस्पष्ट नहीं रही। यह छाया क्यों है, यह भी उसे छिपा न था। लड्डू के साथ उसकी माँ की स्मृति जुड़ी है, पहले दिन ही सुन चुका था।

गोकुल उन दोनों के मुख पर नजर डाल, विशेष रूप से दिलीप को लक्ष्य कर के बोला, "मेरी माँ से मिलने चलेंगे क्या? पास में ही तो हैं। माँ तुमसे मिल कर बहुत खुश होंगी। मैंने उन्हें सब बता दिया है, ना।"

"जाने दो," कह कर दिलीप उठ खड़ा हुआ। शम्सुल ने उसका समर्थन किया, "हाँ, आज हम चलें। फिर अगर आयेंगे, तब तुम्हारी माँ से मिलने जायेंगे।"

लौटते समय काफी देर तक चुपचाप चलते रहने के बाद शम्सुल ने ही बात शुरू की। उसका आज की बात से कोई संबंध नहीं था। एकदम अलग प्रसंग में बोला, "उस भलेमानस से परिचय हुआ?"

"किस भलेमानस से?"

"वही, जो उस दिन मास्टरजी के कमरे में बैठे थे। मैं ही तो तुझे बुला कर ले गया था।"

"ओह, वह प्रोफेसर? परिचय ही क्या? उन्होंने यह-वह पूछा, मैंने उत्तर दे दिया!"

"अपनी गली में ठीक सामने जो मकान है ना, उसी में तो रहते हैं वह।"

"कह तो रहे थे।"

"वह लड़की तब उन्हीं की होगी। कोई मतलब-वतलब तो नहीं था? ऐसा कोई आभास मिला क्या?"

दिलीप हँस पड़ा। शम्सुल गंभीरता से बोला, "यह मामला हँस के उड़ाने का नहीं है। कुछ कहा नहीं जा सकता। अपने सर ऐसे ही ठहरे। बातचीत के दाँवपेंच से उन्हें काबू कर लेने में कितनी देर लगती है।"

"देखता हूँ तुमने दिन में भी भूत देखना शुरू कर दिया है।"

"शायद यही बात हो। मुझे जितना डर भूत से नहीं लगता, उससे कहीं ज्यादा भूतनी से डरता हूँ। उन्हें पहचाना जो नहीं जा सकता। उनका पेशा ही जो छल-कपट का ठहरा। कब जो बहका कर मुँह फेर ले, कोई नहीं जान सकता। मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना है उनसे होशियार रहना।"

दिलीप हँसते हुए बोला, "तुम झूठमूठ डर रहे हो। जो सोच रहे हो, वह कुछ भी नहीं है। एक बिल्कुल मामूली बात है। प्रोफेसर भलेमानस हैं, दिल में कुछ दया-माया है। जिसे भावुकता कहते हैं, उसके सामान्य स्पर्श से शायद बच नहीं सके। इतने लड़के-छोकरे मिल कर इस गली में क्या कर रहे हैं, इस बारे में जानकारी लेने पर जब उन्हें पता चला कि हम लोग कौन हैं, तब पड़ोस के ज्यादातर लोगों की तरह

नाक पर कपड़ा लगा कर भागने के वजाय, सर को थोड़ी शावाशी देने पास आ गये।"

"और सर इतना पिघल गये कि तुम्हें ले जा कर हाजिर कर दिया—यह देखिए हम कैसे लड़के तैयार कर रहे हैं...." शम्सुल ने थोड़े व्यंग्य के स्वर में कहा।

दिलीप मन-ही-मन कुछ आहत हुआ। फिर भी स्वर को सहज वनाये रखकर वोला, "मामले को इस तरह क्यों देख रहे हो? मास्टरजी की यही इच्छा है, वस्ताल से निकल आने पर भी हम उससे हो न जुड़े रहें, हमारे अंग पर जो मुहर लग गई है, वह मिट जाय। वाहरी समाज के फ्रेम में अपने आपको फिट विठा लें ताकि एक दिन संसार के अन्य लोगों की भाँति हमारा भी काम और पेशे से परिचय दिया जा सके। वह हमारा असली परिचय सभी के आगे छिपा कर फिर भी नहीं रखते। इस प्रोफेसर के पास भी नहीं छिपाया। उन्हें विश्वास है, हम यदि इंसान वन सके तो संसार की दृष्टि में हमारा यह परिचय एक दिन अपने आप ही लुप्त हो जायगा। यही उनकी भूल है।"

वोलते-वोलते दिलीप के मुख पर म्लान हँसी फूट उठी।

तव तक वे मैदान छोड़ कर वड़े रास्ते पर नहीं पहुँचे थे। दोनों पास-पास निर्जन पथ पर चल रहे थे। शम्सुल दृढ़ स्वर में वोला, "नहीं, दूसरों की वात तो नहीं जानता। फिर भी सर ने एक के वारे में गलती नहीं की, इतना जोर दे कर कह सकता हूँ।" कह कर उसका एक हाथ जोर से पकड़ लिया।

दिलीप चीण कातर आवाज कर वोला, "इतना जोर मुंह में ही रखो न, वावा, पतले इंसान की कलाई पर क्यों डाल रहे हो?"

"पता है, दिलीप," उसी हाथ को अव यथारीति झटका दे कर शम्सुल वोला, "इसी वात से तुझे ले कर हमें डर है। तुझे वहुत ऊपर उठना है। रास्ता सीधा और आसान नहीं है। पग-पग पर कितनी ही वाधाएँ, कितनी ही मुसीवतें हैं। उससे भी ज्यादा डर इस वात का है कि कभी कोई आ कर रुकावट न डाल दे। इस प्रोफेसर के अकेले होने पर चिंता नहीं होती। जितनी खुशी हो, उतनी वाहवाही दें, पीठ ठोकें, नुकसान नहीं। उसे हम सह सकते हैं। किंतु उसके मन में अगर और कुछ है यानी उस दिन उसकी छत पर जो देखा, उसी तरह का कुछ होने पर हमें भी अड़ कर खड़ा होना पड़ेगा।"

कह कर उसने हठात् एक दाएँ हाथ का घूंसा ताना जैसे सचमुच अड़ कर खड़ा हो गया हो। वह मूर्ति देख दिलीप हो-हो करके हँस पड़ा। फिर उसके घूंसा तने हाथ को पकड़ आगे वढ़ते हुए वोला, "चलो, चलो। परछाईं के साथ कुश्ती लड़ने से क्या होगा? वदले में सिर्फ देह में दर्द मिलेगा। लड़ना है तो चलो आमने-सामने लड़ो।"

कुछ कदम चल, हाथ छोड़ कर वोला, "फिर भी यह जान के रखो, इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी। ऐसा उनके मन में कुछ नहीं है। रह भी नहीं सकता।"

"है या नहीं, तुझे कैसे पता ?"

"वह एक प्रोफेसर हैं, शिक्षित संभ्रांत व्यक्ति ठहरे। तुम-मुझ पर उन जैसे व्यक्ति को थोड़ी करुणा या सहानुभूति हो सकती है कि हम लोग अधःपतन में न जाकर उठ खड़े होने की कोशिश कर रहे हैं। यह देख कर मन में और मुंह पर थोड़ी प्रसन्नता भी दिखा सकते हैं। बस यहीं तक। इससे ज्यादा तुम और क्या आशा कर सकते हो ?"

"आशा करूँ ही क्या ? मैं तो आशंका करता हूँ। वह भी सिर्फ इस एक को ले कर····" कह कर शम्सुल ने आँख की भंगिमा से एक विशेष संकेत किया।

दिलीप के मुख पर लज्जा की आभा फैल गयी। मृदु हँस कर बोला, "ना तुमसे मैं सचमुच पार नहीं पा सकता।' यू आर इनकरिजिबिल।"

बहादुर ज्यादा बाहर नहीं जाता था। प्रेस की छुट्टी के बाद चाय का दौर पूरा करके उन सबका अड्डा जमता। बीच-बीच में आशुबाबू भी आ कर उनमें बैठते। बातें होतीं, चर्चा चलती, किसी-किसी दिन किसी सामयिक पत्र या किताब से बालोपयोगी कुछ पढ़ा सुना जाता। शाम के बाद नाईट स्कूल लगता। जो लड़के लिखने-पढ़ने में पीछे थे, उन्हें छोटे-छोटे दलों में बाँट कर उनमें से कुछ अधिक शिक्षित को उनका नियमित क्लास लेना पड़ता। इस सारी व्यवस्था का भार बहादुर के सिर पर था। 'हेडमास्टरी' का काम भी उसे ही करना पड़ता। पढ़ाना और कौन किसको पढ़ाये इसकी व्यवस्था कर देना।

इन दिनों शाम को वह अन्य किसी पर इन सब कामों का भार डाल, कुछ घंटों के लिए कहीं चला जाता और कभी-कभी रात का खाना भी बाहर से ही खाकर आता था। उस दिन काफी रात गये लौट कर दिलीप के कमरे में आ बैठा। दिलीप पढ़ रहा था। किताब से मुंह हटा कर पूछने जा रहा था, कुछ दिन से कहाँ गायब हो जाते हो; इससे पहले ही बहादुर खुद बोला, "वे फिर कलकत्ता आ गये हैं।"

"कौन ?"

"रनमाया और पदम।"

"बदली होकर आये हैं क्या ?"

"हाँ, हवलदार होकर अलीपुर पुलिस लाइन में आया है। अभी क्वार्टर खाली नहीं है। पास में एक मकान ठीक कर दिया है। इसीलिए कुछ दिन भाग-दौड़ करनी पड़ी। अच्छा-खासा कमरा मिल गया। माया को बहुत पसंद है। तुझे कल आने को कहा है।"

"मुझे (दिलीप अवाक् हो गया) क्यों ?"

"क्यों क्या ? ऐसे ही। तुझे देखना चाहती है। कितनी बार मुझसे कह चुकी

हैं। इतने दिन वाहर थी। अब आते ही जोरदार तगादा किया है, दिलीप को लेकर आओ।"

दिलीप के मुख पर संकोच छा गया। अटपटा कर बोला, "मैं····यानी मुझे···· कुछ दिन बाद वल्कि····"

"अरे बुद्धू, माया के पास तुझे क्या शरम। तूने उसे नहीं देखा, लड़कियों की ओर आँख उठाये तभी न देखे। उसने तुझे देखा है।"

"कहाँ ?" और भी संकुचित हो उठा दिलीप। प्रश्न करने के साथ ही आँखें झुका लीं।

"वस्ट्राल में रहते समय। वह जब थी, हम कितनी बार मिल कर बाहर पिक-निक-विकनिक करने गये थे। तब देखा। मैंने तेरे बारे में उसे सब बताया है। कल तेरा कॉलेज कितने बजे तक है ?"

"चार बजे तक।"

"ठीक है। तब ठीक साढ़े-चार बजे निकलेंगे। क्यों ?"

उत्तर की अपेक्षा न कर बहादुर चला गया।

दिलीप से थोड़ा ही बड़ी थी रनमाया। इस उम्र की सगी या परायी किसी लड़की के संपर्क में आना तो दूर, सान्निध्य में आने का अवसर तक उसे कभी नहीं मिला था। पहले तो सिर उठा ही न सका। बात करने जाकर पसीने से नहा उठा। अपनी ओर से कुछ पूछना तो दूर रहा, साधारण प्रश्न का जवाब देने में भी अटक-अटक गया। किंतु लड़की की बात इतनी सहज थी, व्यवहार ऐसा स्वच्छंद था कि अंत में दिलीप ने अपनी जड़ता काफी हद तक दूर कर ली।

कुछ देर पहले रनमाया ने अपने हाथ से पराठें और आलू का चोखा बना के रखा था। पति से दो-तीन तरह की मिठाइयाँ भी मँगवा ली थीं। कमरे के फर्श पर आसन बिछा उन दोनों को पास-पास खाने के लिए बैठा दिया। 'खाऊ' जिसे कहा जाता है, दिलीप वैसा बिल्कुल नहीं था। उस पर इस अनभ्यस्त परिवेश की बाधा थी। दो पराठे खत्म करने में ही उसे बहुत देर लग गई। तब तक बहादुर प्रायः दर्जन पर पहुँच चुका था और 'और-और' करके बहन को तंग कर रखा था। इस बार फिर माँगने पर वह डांट उठी, "ठहरो, थोड़ा धीरे-धीरे खाओ। तुम्हारी जल्दीबाजी के लिए यह बेचारा खा ही नहीं पा रहा है।"

"तो मैं क्या करूँ ? मैं तो तुम्हारे घर मेहमान बन कर आया नहीं हूँ।"

"और यह क्या मेहमान है ? जो तुम हो, यह भी वही है।"

"सुना," दिलीप की ओर घूम कर बहादुर बोला, "एक बार सिर उठा ना: देखता हूँ तू नये दामाद को भी मात कर रहा है। ऐसे चुग क्यों रहा है ? खा डाल।"

"तुम चुप रहो"····रनमाया झल्लाकर बोली, "क्या सब तुम्हारे जैसे पेटू हैं ?"

दिलीप की ओर देख वह स्नेह के स्वर में बोली, "रहने दो, तुम धीरे-धीरे खाओ। उसे खाने की जरूरत नहीं, ठंडा हो गया है। मैं दो गरम-गरम ले आती हूँ।"

दिलीप जोर-जोर से हाथ हिला कर बोला, "नहीं, नहीं, मैं और नहीं खा पा रहा। पेट बहुत भर गया है।"

"यह क्या ! इतने में ही पेट भर गया ? यह कहने से मैं नहीं सुनूंगी। दो और खाने होंगे। अच्छा, तरकारी अच्छी नहीं लगती हो, तो मिठाई से खाओ।" कह कर दो बड़ी-बड़ी मिठाई उसकी थाली में रख दीं।

अपने हाथ से खाना लगा कर इस तरह से सामने बैठ कर खिलाना, उसे उपलक्ष्य कर स्नेहभरी शिकायत, 'इसे छोड़ना मैं नहीं मानूंगी', कह कर यह जोर-जबरदस्ती—अपना सारा माधुर्य ले कर दिलीप की स्मृति में सुप्त थी। आज दीर्घ काल के बाद उसी का नूतन स्पर्श सारे अंतर में फैल गया। लौटते समय बहादुर के साथ जो एक-दो बात हुई, वह जैसे स्वप्न के घोर में हुई। सारा रास्ता आच्छन्न स्थिति में कट गया। जब चलने लगा था, रनमाया उसके पीछे-पीछे दरवाजे के बाहर आ कर बोली थी, "फिर अब आओगे ?"

दिलीप कोई उत्तर नहीं खोज सका। बहादुर के मुख की ओर देखते ही हँ दी। वह बोली, "दादा की ओर क्या देख रहे हो ? लगता है तुम अकेले आ नह सकते ?"

बहादुर तिरछी आँख से उसकी ओर देख धीरे-धीरे बोला, "शायद साहस नह हो रहा। कहीं रास्ता भूल गया, तो ?"

प्रायः समवयसी एक तरुणी के सामने इस 'अपमानजनक' उक्ति से दिलीप अपमानित अनुभव किया, और तुरंत प्रतिवाद किया, "रास्ता भूल जाऊँगा का मतलब क्या कह देता है, इसका कोई ठीक नहीं।"

बहादुर हो-हो कर के हँस पड़ा। प्रतिवाद का ढंग देख रनमाया को भी वह हँसी आई। किसी तरह हँसी दबा कर बोली, "इसकी बात मत सुनो। यह आये आये, तुम्हें जब समय मिले, चले आना। तुमसे वहाँ की बातें सुनूंगी। दादा मुझे कु बताना नहीं चाहता।"

"बताना चाहने पर भी कब बताऊँ ?" बहादुर ने जवाब दिया, "जितनी दे रहता हूँ तेरी बकबक सुनते-सुनते कान पक जाते हैं।"

"ठीक है, तुम्हें मेरी बकबक सुनने की जरूरत नहीं।" आँखें बड़ी कर रनमा डाँट के बोली, "मैं दिलीप भाई के साथ बातें करूँगी। तुम जल्दी आओगे ना ?"

दिलीप ने सिर हिला कर जताया, 'आऊँगा'। हृदय चंचल कर देने वा पहाड़ी लड़की के मुंह से यह अद्भुत संबोधन बहुत मीठा लगा था। प्रथम परिचय दिन सिर्फ 'दिलीप' शायद थोड़ा अटपटा लगता, सिर्फ भाई बहुत मामूली होता, दो

को मिला कर इस 'दिलीप भाई' में जैसे एक मधुरता थी। उसका स्वाद मन में भरा रहा।

रास्ते में बहादुर बोला, "यहाँ आ कर बेचारी बहुत अकेली पड़ गई। पदम को बिल्कुल फुरसत नहीं मिलती, सारा दिन पुलिस लाइन में लग जाता है। दो बातें किये बिना माया का पेट फूलने लगता है। तू बीच-बीच में आ जाया कर भाई। शाम को तो तेरे पास बहुत समय रहता है।"

दिलीप ने बात रखी थी। संकोच की बाधा लाँघ 'जल्दी ही 'पहुँचा था रनमाया के घर। बहादुर को काम था, वह आ नहीं सका। दिलीप थोड़ा हिचकिचा रहा था, यह देख उसने डाँटा था, "तू क्या हमेशा नई-नवेली बहू बना रहेगा? माया के सामने तुझे कैसी शरम?"

लाज की जड़ता उस दिन भी पूरी तरह दूर नहीं हुई। फिर भी बातचीत में काफी सहज हो आया। यह काम ज्यादातर दूसरे पक्ष द्वारा ही चला। बहन के इस गुण के बारे में बहादुर ने विशेष अत्युक्ति नहीं की थी। कथन का दौर काफी देर तक एक ओर से चलने के बाद शायद अचानक ख्याल आया, इस विषय में अतिथि को भी थोड़ा अवसर देना जरूरी है। अपने आचरण पर जैसे खुद ही चकित हो गयी हैं, ऐसे भाव से दाएँ गाल पर तर्जनी रख कर बोल उठी, "ओ माँ! मैं कर क्या रही हूँ। तब से मैं ही बके जा रही हूँ। तुम तो कुछ बोलते ही नहीं।"

"मैं सुन रहा हूँ, "मृदु हँस कर दिलीप बोला।

"सुन रहे हो, खाक! मेरा हाव-भाव देख मन-ही-मन हंस रहे होगे।"

"नहीं, नहीं हँसूंगा क्यों? अच्छा लग रहा है। विशेष रूप से आपका बंगला बोलने का ढंग।"

"क्या करूँ, भाई," हताश स्वर में रनमाया बोली, "बंगला देश में जन्म लिया, हमेशा से यहीं हूँ, फिर भी पहाड़ी लहजे से छुटकारा नहीं मिल रहा है।"

"शायद इसीलिए और भी मीठा लगता है। नेपाली मुंह से बंगला भाषा इससे पहले भी सुनी है। कानों को कैसा-कैसा लगता है। बहादुर दा की बात नहीं कह रहा। वह तो किसी बंगाली से भी अच्छी बंगला बोलते हैं। आपका लहजा थोड़ा अलग है, किंतु अपूर्व है।"

बात कह चुकने पर दिलीप लज्जित हो उठा। अनजाने ही थोड़ा अधिक उल्लास प्रकट कर बैठा। अपने कानों को ही अशोभन लगा, विशेषकर जहाँ सिर्फ दो दिन का परिचय हो। क्षमा माँगे या नहीं, सोच ही रहा था, तभी रनमाया बोली, "हमारे बारे में तुम शुरू से ही एक गलतफहमी में हो, भाई। हम नेपाली नहीं, बंगाली हैं। कुछ पीढ़ी पहले शायद नेपाल से आये थे। चेहरे पर उसकी छाप रह गई। पर असल में हम बंगला देश के हैं। दार्जिलिंग के पास हमारा गांव है।"

दिलीप वहुत अप्रस्तुत हो उठा। क्या कह कर वह अपनी गलतफहमी की गलती स्वीकार करे, सहसा सोच नहीं सका। रनमाया हँसते हुए बोली, "अव समझी। इसीलिए तुम मुझे पराया मानते हो। वातचीत में संकुचित रहते हो।"

"नहीं, नहीं, यह वात नहीं। आप शायद नहीं जानतीं, वहादुर दा से ज्यादा अपना मेरा और कोई नहीं।"

"पता है, भाई।" अव रनमाया के मुख पर थोड़ा गांभीर्य आया, "पता है तभी तो तुम पर मेरा इतना जोर है। तुम लोग जव वस्ट्राल में थे, दादा से मैंने सव सुना था। उस वुरे समय में उसका भी तुम्हारे अलावा और कोई अपना नहीं था।"

क्षण भर दोनों चुप रहे। शायद दोनों का ही चिंतन-स्रोत एक ही धारा में वह कर उन्हीं वहु घटनापूर्ण पुराने दिनों के पार जाने लगा। फिर जैसे अकस्मात् एक झटके में खुद को खींच खड़ा कर लिया रनमाया ने। जाते-जाते बोली, "वैठो, तुम्हारे लिए चाय ले आऊँ।"

दिलीप को चाय का अभ्यास नहीं था। कुछ ही मिनट में रनमाया नाश्ते की प्लेट और चाय का कप ले कमरे में आई। दूसरी चीज के वारे में मृदु आपत्ति प्रकट करते ही उसने तुरंत उसे नकार दिया। बोली, "एक वार पी कर देखो ना। मेरे ससुरजी चायवगान में काम करते हैं। मेरे लिए वीच-वीच में एक-दो विशेप किस्म के चुने हुए नमूने पैकेट में भेज देते हैं। वही चाय है। हल्की वना कर उसमें ज्यादा दूध डाल कर तैयार की है। पीने में कोई वुराई नहीं होगी। इसके अलावा...."

थोड़ा रुक कर फिर वोली, "दीदी के हाथ से मिलने पर पीनी ही पड़ती है।"

दिलीप ने और कोई वात न कह हँसते हुए प्याला उठा लिया।

कुछ माह वाद एक दिन शाम के समय ठीक वहीं पर वैठ चाय के कप से प्रथम घूंट भरते ही दिलीप अप्रसन्न मुख से वोल उठा, "ओह, आज भी तुमने ढेर-सा दूध डाल दिया, माया दी। ऐसी वढ़िया चाय मिट्टी कर दी।"

"ओ-ओ; इसका मतलव इस वीच वहुत नशेड़ी हो गये हो, देखती हूँ।"

"फिर क्या हमेशा दुग्ध-पोपित शिशु ही वनाये रखना चाहती हो?"

"असल में तो तुम वही हो।...." हँसते-हँसते वोली रनमाया।

"कैसे?" दिलीप के कंठ से तीव्र प्रतिवाद का स्वर निकला।

"और नहीं तो क्या? एक मामूली लड़की के भय से सिमट जाते हो। वस दूर से ही छटपटाहट, पास जा कर खड़े होने या एक वात करने का भी साहस नहीं है।"

"हुंहं; आज ही लौट कर वहादुर दा के साथ वारा-न्यारा करना पड़ेगा।"

"ओ माँ, यह क्या! वह वेचारा इस में कहाँ से आ गया?"

"वही तो सव आलतू-फालतू जानकारी दे कर तुम्हारे सिर में वेकार वातें

भर गया है।"

"गलत समझे! उसने जो बताया, वह कितना-सा है। उससे कहीं ज्यादा तो तुम्हीं ने बताया।"

"मैंने बताया!" दिलीप जैसे आकाश से गिरा।

"मुंह से कुछ नहीं बोले, तुम्हारी आंखों में, तुम्हारे मुंह पर पड़ने वाली छाया, बताती है। उसे तुम नहीं छिपा सके। मेरी आंख लड़की की आंख जो ठहरी, भाई।"

"तब तो कहूंगा यह सब लड़की की कल्पना है।"

रनमाया ने मुंह से कोई प्रतिवाद नहीं किया, बस थोड़ा हंसी। फिर बोली, "जाने दो, गली के उस पार की क्या नई खबर है, बताओ।"

"पता नहीं।"

"नहीं पता!"

"अदरक के व्यापारी को जहाज की जानकारी रखने से क्या लाभ? अनधिकार चर्चा नहीं तो और क्या है?"

"किसने कहा तुम अदरक के व्यापारी हो? कौन कहता है कहां तुम्हारा अनधिकार है?"

"कहेगा ही कौन? मैं खुद जानता हूं। कहां कितना मेरा प्राप्य है, कहां तक मेरी सीमा है, मैं नहीं जानूंगा, तो कौन जानेगा?"

"फिर वही तुम्हारी पुरानी बेकार बातें। जानते हो, इन्हें मैं बिल्कुल नहीं सह सकती।"

"फिर भी घूम-फिर कर इनको तुम्हीं खींच लाती हो।....जाने दो; अब और कुछ कहो। उस दिन कहां गयी थीं? हम दोनों बहुत देर तक खड़े रह कर लौट गये थे।"

रनमाया ने यह बात शायद नहीं सुनी। कुछ देर खिड़की के बाहर एकटक देखते रहने के बाद इधर घूम कर बोली, "तुम्हारी ये बातें मैंने मन-ही-मन सोच कर देखी हैं, दिलीप। मुझे क्या लगता है, जानते हो?"

"क्या?"

"यह तुम्हारा अहंकार है।"

दिलीप के विस्मय की सीमा नहीं रही। प्रतिवाद करने की शक्ति भी जैसे खो बैठा। यंत्र-चालित-सा सिर्फ दुहरा सका, "अहंकार?"

"हां, अपनी कीमत स्वयं लगाने का, अपने बारे में स्वयं निर्णय करने का अहंकार।"

दिलीप हंस पड़ा। फिर बोला, "मास्टरजी ठीक उलटी बात कहते हैं...

उनकी धारणा है मैं अपने को बहुत छोटा देखता हूँ। मुझमें आत्म-विश्वास नहीं।"

"क्या पता? मुझे जो लगा, वही कहा। मैं तो तुम लोगों के समान स्कूल गई नहीं, पढ़ना-लिखना भी नहीं जानती। फिर भी इसी उम्र में बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ सहा है। उससे एक बात सीखी है। अपने प्रति कोई अभिमान नहीं रखना चाहिए। इससे सिर्फ कष्ट ही मिलता है, और कुछ नहीं मिलता।"

दिलीप विस्मयभरी दृष्टि से उसे देखता रहा। यह स्वल्प-शिक्षिता, पहाड़ी लड़की जैसे आज नये रूप में दिखाई दी। इसके अगाध स्नेह का परिचय वह पहले पा चुका था, किंतु अनेक विपरीत अवस्थाओं से, अनेक घाटों का पानी पी कर, विपद, दुख, अभाव और लांछना की पाठशाला में जो कठोर शिक्षा उसे इतने दिनों में संचित हुई थी, उसका मूल्य कम नहीं था।

दिलीप की एकटक विस्मित दृष्टि देखते ही रनमाया मन में लज्जित हो उठी। उसकी आँख में बाद में कहीं वह पकड़ी न जाय, इसलिए हलके स्वर में दूसरी बात शुरू की। बोली, "चुप क्यों हो गये? सोचते होगे माया दी तो लेक्चर झाड़ने लगी है।"

"इसमें नयी क्या बात है, जो सोचना पड़े? क्यों दिलीप बाबू?" कहता हुआ पदम बहादुर कमरे में घुसा। दूसरा समय होता, तो रनमाया इसका जवाब देने से चूकती नहीं। किंतु उस समय पति के समय से पहले चले आने में जो आश्चर्य और प्रसन्नता थी, ध्यान उसी ओर चला गया, अपनी इस चर्चा में सिर नहीं खपाया। सन्नता और विस्मय से बोली, "तुम! आज इतनी जल्दी कैसे?"

पदम ने इसका कारण न बता कर पत्नी को आदेश दिया, "आओ, आओ, ल्दी से तैयार हो आओ। दिलीप बाबू तुम भी चलो।" कह कर सामने की कुर्सी पर ठ व्यस्त भाव से कलाई घड़ी देखने लगा।

"कहाँ?" दिलीप ने पूछा।

"कहाँ, अभी तक नहीं समझे? मुर्दों की चीर-फाड़ करते-करते मन को भी शायद ार डाला है, लगता है। बीच-बीच में बेचारे को टॉनिक-वॉनिक दिया करो।...चलो, क बहुत अच्छा पिक्चर लगा है पिक्चर पैलेस में। तीन पास मिल गये हैं।"

"आप लोग जाइये, मेरी नाइट ड्यूटी है।"

"आहा, नाईट ड्यूटी तो नाईट में है। हम ईवनिंग शो देख रहे हैं, छह से नौ का।"

सिनेमा के नाम से रनमाया की आंखें और मुंह से प्रसन्नता छलकी पड़ रही थी। उसने भी पति की हाँ में हाँ मिला कर दिलीप को साथ खींचने की कोशिश की, "चलो ना। एक दिन नाईट ड्यूटी न करने से क्या नुकसान हो जायगा?"

"नुकसान तो नहीं होगा", सिर हिला कर जोर दे कर पदम बोला, "अंततः

कुछ लोगों का भला हो जायगा। जो रोगी बिना मौत मरेंगे, वे एक-दो दिन और जी सकेंगे।"

दिलीप ने भी हँसते हुए कहा, "यह आपने गलत नहीं कहा। फिर भी अभी तक हम लोग इतना ऊँचा नहीं उठ सके हैं। जाने दो, मैं चल रहा हूँ।"

पदम बहादुर पत्नी की ओर देख चीख कर बोला, "अरे, यह क्या? तुम अभी तक खड़ी हो? लगता है सब सत्यानाश कर दोगी। इधर कुल आधा घंटा समय रह गया है और साड़ी की चुन्नट ठीक करने में ही तीन-क्वार्टर लग जायगा।"

रनमाया को कौन हरा सकता था। दोनों भ्रूकुंचित आँखों से बिजली गिराती तड़क उठी, "सुनूं, मुझे कब तीन-क्वार्टर लगा?"

"ठीक है।" स्वर धीमा कर गंभीर भाव से सिर हिलाते हुए पदम बोला, "मुझसे गलती हो गयी। नहीं तीन-क्वार्टर नहीं, एक घंटा।"

"जाओ। मैं कभी नहीं जाऊँगी।" कह कर वहीं से चाबी का गुच्छा बँधे आँचल को हाथ में झुलाती पैर धमकती शयन कक्ष में घुस गई।

पीछे सम्मिलित स्वर में ठहाका गूंजा।

• • •

चौदह

ऋतु चक्र का विराम नहीं होता। वर्ष भर घूमकर फिर शरद आया। सरपेंटाइन लेन की गली में यथानियम अपने निःशब्द पद संचार से शरद आ पहुँचा। आकाश की वायु में 'पूजा' 'पूजा' की गंध थी। प्रेस की एकसार घर-घर आवाज दबा कर लड़कों के मन में भी इसी आसन्न उत्सव का स्वर गूंज उठा। अन्य वर्षों की तुलना में इस बार उत्साह कुछ अधिक था। गंगा पार के 'गुरुदेव' के आश्रम में पूजा की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी। आयोजनकर्ता वहाँ के मछुए थे। गंगा मैया उन्हें मुख उठा कर देख रही थी। इलिशा (मछली) का मौसम बहुत अच्छा रहा। 'ठाकुर बाबा' की नई व्यवस्था में उनका पूरा लाभ उनके ही हाथ में रहा, पहले जिसका बड़ा भाग महाजन की तिजोरी में पहुँच जाता था। कमेटी ने सर्व सम्मति से सामूहिक रूप से कुछ रुपये पूजा कोष में दान किये थे।

बहुत बड़ा दुर्गा समारोह था। ठाकुर बाबा के आश्रम के आँगन में अशोक के पत्तों से सजा कर मंदिर तैयार किया जायगा। अभी से जोड़-तोड़ शुरू हो गई। गाने-बजाने की व्यवस्था थी। गांव में ही एक पुरानी स्वाग मंडली थी। पहले उसकी लोक-प्रियता कम नहीं थी। पूजा-जप, विवाह, अन्नप्राशन में यहाँ-वहाँ बुलाया जाता। अब कुछ दिन से इस स्वांग मंडली की मांग ज्यादा नहीं रह गई थी। एक प्रकार से सनातन-

प्राय थी। देशव्यापी अभाव था—अन्न-वस्त्र का, स्वास्थ्य का, आनंद का। जीवन यात्रा की कठिनता ने 'स्वांग' की प्रेरणा को बने नहीं रहने दिया। अब मछुवा बस्ती की अवस्था में थोड़ा सुधार हो जाने पर वही आगे बढ़े—अगर इस भावना को जीवित किया जा सके तो ठीक है।

प्राचीन समय के गिने-चुने सब अभिनेताओं—भीम, मेघनाद, जना और महिषासुर आदि—ने असमय में ही विदा ले ली थी। अब तक जो दो-चार जन टिके थे, वे भी दुर्योधन के समान भग्न-उरु अथवा भीष्म के समान शरशय्याशायी थे। वे पहले जमाने में ग्रामीण संस्थाओं में पेड़ पर चढ़ जाने वाली लता के समान फलफूल रहे थे। समाज-वृक्ष के कंधे पर चढ़ उसके तन से पर्याप्त रस ग्रहण कर स्वच्छंद जीवन जी रहे थे, जीविका की चिंता नहीं करनी पड़ती थी। किंतु-पर निर्भर होने पर भी उस जीवन में कोई अमर्यादा नहीं थी। जो मिलता, उसके बदले में वे भी कुछ देते थे। उनका प्रधान कार्य था उसी आश्रयदात्री वनस्पति का अलंकरण, तरह-तरह से उसको आनंदित करना। कालक्रम में और अवस्था-विपर्यय से लता सूख के रह गई। आश्रय-दाता पेड़ ने कंधा झाड़ उसे नीचे गिरा दिया और कह दिया, "खुद ही अपना भोजन जुटाओ।" यह कला उसने सीखी नहीं थी। इसलिए तिल-तिल सूख कर मर गई।

मछुवा बस्ती की सब समस्याओं में 'ठाकुरबाबा' का ही भरोसा था। इस मामले में भी बच्चे-बूढ़े सभी मिल कर उनके सामने जा पहुँचे। मुखिया अर्जुन माली ने पोपले मुँह से कहा, "सभी ठीक है, सिर्फ एक 'मोशन मास्टर' के न होने से स्वांग का आयोजन अटका हुआ है।"

मैत्र महाशय हँस कर बोले, "यह विद्या तो मुझे आती नहीं। अगर जानता तुम्हारे पल्ले पड़ना होगा, तो सीख लेता।"

अल्पवयसी लड़कों का झुंड गला फाड़ कर हँस पड़ा। अर्जुन ने डाँट कर उन्हें चुप कराया। फिर दाँत से जीभ काट कर हाथ जोड़ निवेदन किया, ठाकुरबाबा को मोशन मास्टर बनाने का इरादा लेकर वे नहीं आये हैं। उनके यहाँ कितनी ही तरह के बाबू आते हैं, उनमें से क्या कोई 'ठेठरवाला' नहीं जुटेगा ? एकदम न मिलने पर वह कहीं बाहर से भी जुटा दे सकते हैं। रोज न होने पर भी चलेगा। बीच-बीच में दो-चार दिन आकर गला-हाथ-पैर-आँख-मुँह की भंगिमाएँ कहाँ कैसे बनेंगी, समझा दे, बाकी सब वे ठीक कर लेंगे।

मैत्र महाशय ने कुछ सोचा। फिर जैसे अचानक याद आया हो, ऐसे भाव से बोले, "हाँ, मेरे पास एक आदमी है। एकदम पक्का आदमी है। तुम्हें चिंता करने की जरूरत नहीं।"

उसी दिन आशुबाबू को बुलाया गया। जरूरी बुलावा। वह भागते-लपकते पहुँचे। गुरुदेव का स्वास्थ्य इन दिनों अच्छा नहीं चल रहा था। ऐसी ही कोई आशंका

उनके मन में आई। उनके व्यस्त भाव से कमरे में घुसते ही गुरु बोले, "अरे मास्टर, सुना है कभी तुम वस्ट्राल में बंदरों को नचाते थे।"

आशुबाबू इस तरह के सवाल के लिए तैयार न थे। थोड़ा अचकचा कर बोले, "जी ?"

"अरे, तुम अपने उन लड़कों-बच्चों को ले कर नाटक-वाटक नहीं करते थे क्या ?"

"जी हाँ। वह तो बीच-बीच में करता था।"

"अब वही बुड्ढों को लेकर करो।....अरे कहाँ गये तुम सब ?"

दल के मुखियों को पहले ही खबर दे दी गई थी। वे बाहर इंतजार कर रहे थे। अब पिलपिल करते कमरे में घुसते ही बोले, "यह लो अपने मोशन मास्टर।"

घोष साहब के जमाने में वस्ट्राल में वर्ष में दो-तीन बार छोटे-मोटे नाटक का आयोजन किया जाता था। इस विषय में उन्हें कुछ दक्षता थी। अब मछुआ बस्ती की स्वांग मंडली में उन्हें परीक्षा देने की आवश्यकता आ पड़ी। सप्ताह में दो बार आ कर उन्हें प्रशिक्षण देना शुरू किया।

प्रेस में जब खबर पहुँची, लड़के मास्टरजी को पकड़ कर बैठ गये, "हम नहीं देखने जायँगे क्या, सर ?"

"जाओगे क्यों नहीं। सिर्फ पूजा और नाटक देखने ही नहीं, अष्टमी के दिन दोपहर में हम सब...." कहकर आँख दबा सिर हिला कर एक विशेष संकेत किया।

"अरे वाह !" हो-हल्ला करते लड़के बाहर निकल आये। जो नहीं जानते थे, उन्हें तुरंत इतनी बड़ी खबर बता देना जरूरी था।

फर्स्ट एम० बी० परीक्षा का परिणाम अन्य सब के इच्छानुसार रहने पर भी दिलीप खुद इतना खुश नहीं हो सका। उसे और भी अच्छा करने की इच्छा थी। इसके लिए जितनी पढ़ाई की जरूरत थी, उसने उतनी नहीं की। इच्छा करके नहीं की हो, यह बात नहीं, कर नहीं सका। उसके मन ने साथ नहीं दिया। सामने के मकान की छत के उस निषिद्ध स्थल पर अपने अबाध्य मन का गुप्त रूप से आना-जाना कई बार [illegible]करके भी बंद नहीं कर सका था। यद्यपि कुछ दिन से वहाँ कोई नहीं है, फिर भी किसी समय की निःशब्दचारिणी शून्य छत से भागती हुई आकर तूफानी हवा की भांति अलक्ष्य कब उसकी विचारधारा को चंचल कर जाती, वह जान ही नहीं पाता।

गली से आते-जाते उस विशेष घर पर रोज ही उसकी नजर जा पड़ती। रोज ही देखने को मिलता। प्रायः नित्य ही उसे दरवाजा अंदर से बंद दिखाई देता। सोचते-सोचते उसने उसमें भी एक विशेष अर्थ खोज निकाला। चलते-चलते कई बार उसके मन में आया, यह बंद द्वार औरों के लिए जो भी हो, उसके लिए एक अलंघ्य निषेध

का प्रतीक है। उस पर अदृश्य अक्षरों में लिखा है 'नहीं।' सोच कर फिर अपने मन में हँस पड़ता। यह कैसा बचपना उस पर सवार है! इसी एक घर का तो नहीं, सभी घरों के दरवाजे बंद हैं। कलकत्ता शहर का यही साधारण नियम है। कितनी ही तरह के अपरिचित लोग रास्ते में चलते हैं। चोरी-डकैती का डर रहता है। सदर दरवाजा खुला रख कर कोई गृहस्थ निश्चिंत नहीं रह सकता। उसकी जरूरत भी क्या है?

विचारधारा तब दूसरा पथ पकड़ती। देखते-देखते जाता, किसी घर का दरवाजा खुला है या नहीं। एक-दो न दिखाई पड़ते हों, ऐसी बात नहीं। साथ-ही-साथ मन पर म्लान छाया पड़ जाती।

एक दिन सुबह साढ़े नौ बजे कॉलेज के रास्ते में सत्रह बाँई चार नंबर के घर के सामने पहुँचते ही अपने अनजाने ही थमक कर खड़ा हो गया। दरवाजे पर एक बड़ा ताला लटक रहा था। उसका कलेजा धड़क उठा। कहाँ गये ये लोग? कहीं और चले गये या सिर्फ कुछ दिन के लिए ही बाहर गये हैं? शायद अभी आ जायँ। किंतु इस सहज संभावना को मन थोड़ा भी नहीं मान सका। चले गये, यही विश्वास दृढ़ होता गया। उसकी खिड़की के बाहर का जो आकाश है, वहाँ अब कभी उषा का उदय नहीं होगा। हमेशा बस अंधकार ही घिरा रहेगा। इतने दिन जो स्वप्नलोक आँखों के सामने खड़ा था, उसमें अब उसके प्रवेश का कोई मार्ग नहीं रहा। वह सिंहद्वार आज से सदा के लिए बंद हो गया। उसी का अक्षय प्रमाण यह ताला है। आज से प्रतिदिन सुबह-शाम वहाँ बैठ कर यही कठोर सत्य उसे नीरव स्मृति दिला देगा।

पहले गहरी निराशा से फिर दुरंत रोष से दिलीप का सारा अंतर मथ गया—जाने से पहले एक बार बता जाने में क्या दोष था? वह रास्ता रोक कर तो नहीं खड़ा हो जाता। यह उसे अधिकार नहीं है; ऐसा अनुचित दावा भी वह नहीं करने गया। बस छत की मुंडेर पर खड़ी हो अंतिम बार कह जाती—मैं जा रही हूँ। मुँह से अगर न भी बोलती, तो भी वहाँ तक जा कर एक बार दर्शन दे जाती। इससे अधिक उसे कोई आकांक्षा नहीं थी, और कभी कोई प्रत्याशा भी मन में नहीं पाली।

इस अर्थहीन रोष से जब दोनों आँखों से पानी बहने को आतुर था, तब यह एक बार भी नहीं सोचा कि किसके ऊपर यह रोष कर रहा है? उसके साथ संबंध क्या है? उससे वह इतनी आशा भी किस अधिकार से कर रहा है?

चली गयी—मन-ही-मन निश्चित जान कर भी इस बारे में निश्चित नहीं हो सका था। बीच-बीच में इसी में फिर एक क्षीण आशा दिखाई देती, शायद कहीं घूमने गई है, कुछ दिन बाद फिर आयगी। कौन कह सकता है कहाँ गई है, कब आयगी? किससे पूछा जाय? मास्टरजी निश्चय ही सब जानते हैं। प्रोफेसर महाशय तो बीच-बीच में उनके पास आते रहते थे, वह भी कई दिन गये थे। मुहल्ला छोड़ कर जाने से

पहले परिचित पड़ोसी को बता कर जाना ही स्वाभाविक है। वह आशुबाबू से पूछने जा कर भी पूछ नहीं सका। सर क्या सोचेंगे? अगर हठात् पूछ बैठें, "क्यों, उनके बारे में इतनी दिलचस्पी क्यों?' तो वह क्या उत्तर देगा?

रनमाया के पास भी कई दिन से जाना नहीं हो सका था। अपना विक्षत हृदय ले कर कहीं जाने को उसका मुंह भी नहीं था। उस लड़की की तीक्ष्ण संधानी दृष्टि के सामने कुछ देर बैठने में भी उसे डर लगता। पकड़े जाने का डर। क्या पता, जो वेदना अंतर के कोने में है, उसकी छाप मुँह पर भी फूट उठी हो। अगर माया दी जान गई, तो वह उसका सम्मान कहाँ रखेगी? किंतु दिन के बाद दिन मौन-वहन की यह यंत्रणा भी कम नहीं हुई। इससे तो किसी को अगर थोड़ा भी आभास दे पाता, तो शायद यह गुरु भार इतना दुःसह प्रतीत नहीं होता। यह बात मुंह से न कहने पर भी, जिसे नीरव कहते हैं, एक ही व्यक्ति को पता थी और वह रनमाया थी।

पहुँचते ही रनमाया ने शिकायतों का पिटारा खोल दिया—इतने दिन बाद दया कर के न भी आते तो भी चलता, मूर्ख दीदी की बकबक पढ़े-लिखे भाई कब सह पाते हैं। उन अभागिनों के भी मन नाम की कोई चीज है और वह खराब भी हो सकता है''शिकायतें और भी कुछ देर तक चलती रहतीं। पर दिलीप ने धमकी के स्वर में ही कहा, "अब रुकोगी या चला जाऊँ?"

"अच्छा, झगड़ा तो यहीं रोक देती हूँ। किंतु बात क्या है? बीमार-ऊमार नहीं हो, यह खबर तो दादा से ही मिल गई। फिर बीमारी भी तो सिर्फ शरीर की नहीं होती। क्यों?"

दबी हँसी से भरी एक अर्थपूर्ण दृष्टि दिलीप के मुख पर जा टिकी। उत्तर में जिस सलज्ज मृदु हँसी की आशा थी, वह नहीं मिली। रनमाया के मुख पर भी दुश्चिंता छा गई और थोड़ा पास सरक कर उसकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि रख बोली, "मुझे नहीं बताओगे?"

"क्या बताऊँ?" दिलीप ने मुँह उठा म्लान हँसी हँस कर कहा।

"उस घर की क्या खबर है?"

"क्या खबर जानना चाहती हो?"

"सब खबर।" 'सब' शब्द पर रनमाया ने अधिक जोर दिया।

"सब से पहली खबर है, सदर दरवाजे पर ताला पड़ा है।"

"अरे यह क्या? शायद वे कुछ दिनों के लिए कहीं गये हों?"

"होगा।''''" दिलीप निर्लिप्त स्वर में बोला।

"किंतु कहाँ गये, कब लौटेंगे, यह सब पता नहीं चला?"

"जरूरत? बेकार खबरें जुटाने के लिए मेरे पास फालतू वक्त नहीं है।"

रनमाया मुँह दबा कर हँसी। अगले ही क्षण उठ कर बोली, "अच्छा, यह

खबर मैं दादा के जरिये ले लूँगी।"

"क्यों, तुम्हें क्या गरज पड़ी है?" दिलीप तीखे स्वर में बोला। उसमें ऊष्मा का अंश भी छिपा न रहा।

"गरज क्यों नहीं है? तुम थोड़ा दिमाग ठंडा हो के बैठो। मैं चाय बना लाऊँ। इस बार ससुरजी ने बहुत अच्छी चाय भेजी है।"

कहने के साथ ही वह दूसरे कमरे में चली गई।

एक तो अति उत्कृष्ट कोटि की चाय, उस पर रनमाया की बनाई हुई। कु ही घूंटों में किसी प्रकार गले में उतारने की चीज नहीं थी। ऐसी चाय थोड़ी-थो करके पी जाती है। कुछ तो इसीलिए और विशेष रूप से अपने व्यक्तिगत कारण दिलीप का चायपान धीरे और चुपचाप चल रहा था। रनमाया भी काफी देर कुछ नहीं बोली। अपने मग को (कप में उसे चाय पूरी नहीं पड़ती) खाली अलग रखते हुए बोला, "अच्छा तुम्हारी और उसकी एक ही जाति है; ना?"

हठात् इस असंलग्न प्रश्न पर दिलीप चौंक उठा। बोला, "किसकी बा रही हो?"

"नहीं समझ सके? तुम्हारे वह प्रोफेसर साहब की।"

"किसने कहा एक जाति के हैं?"

"वाह, वे भी तो ब्राह्मण हैं।"

"हाँ, इस तरह से एक हैं। किंतु 'जाति' शब्द का दूसरा भी अर्थ होता है। उनके और मेरे बीच जमीन-आसमान का अंतर है।"

"वह क्या?"

"इसके साथ जुड़ी है मेरे माथे की यह मसिरेखा इसीलिए मैं उनसे, उनसे हं क्यों, भद्र और सद् लोगों की जाति से अलग हो गया हूँ।"

रनमाया एकदम गंभीर हो गई। शुष्क और कुछ रूच स्वर में बोली, "र दो, यह सब मैं सुनना नहीं चाहती।"

"जानता हूँ", म्लान हँसी के साथ दिलीप धीरे-धीरे बोला, "इससे तुम्हें होता है। इसलिए मैं भी कहना नहीं चाहता। किंतु जो सत्य है, उसे कितने दिन कर रखा जा सकता है। एक-न-एक दिन याद करना ही पड़ेगा।"

"नहीं, मैं कभी मन में नहीं लाऊँगी। सबकी बात मैं नहीं जानती, चाहती भी नहीं। मैं अपने दादा को जानती हूँ और जानती हूँ तुम्हें। इसके स भी जानती हूँ कि तुम्हारे माथे पर कोई धब्बा नहीं लगा है, लग नहीं सका है

दिलीप ने प्रतिवाद नहीं किया। मृदु हँस कर चुप रह गया।

अगले सप्ताह एक दिन दिलीप शाम को कॉलेज से लौट रहा था। घ पहुँच पीछे से मोटर का हॉर्न सुन रास्ते के एक ओर हटते-हटते लक्ष्य किया,

जा कर सतरह् वाई चार नंबर मकान के सामने रुक गई। कौतूहलवश दृष्टि डालते ही चौंक उठा। इतने निकट से एकाएक सामना हो जायगा, एक क्षण पहले भी नहीं सोचा था। गाड़ी से निकल कर वह भी खड़ी हुई थी। 'उसने' चकित दृष्टि से एक पलक देख आँखें झुका लीं। दिलीप के सीने में एक हलचल-सी मच गई, वह किस रास्ते से भाग जाय तत्क्षण निश्चित नहीं कर सका। तभी प्रोफेसर उतरे। उसकी ओर नजर पड़ते ही वह विस्मय और प्रसन्नता के स्वर में बोले, "अरे, दिलीप, तुम ? क्या हालचाल हैं तुम लोगों के ?"

दिलीप ने सिर हिला कर किसी-न-किसी प्रकार कहा, "अच्छे हैं," किंतु आवाज इतनी क्षीण थी कि शायद उसके अपने कानों तक नहीं पहुँची।

प्रोफेसर साहब ने पूछा, "कॉलेज से लौटे हो शायद ?" वैसे ही क्षीण स्वर में 'हाँ' कह आँख की पलकें थोड़ा उठाते ही और एक के साथ आँखें टकरा गयीं। पतले होठों से जैसे दबी हँसी अब फूटी, तब फूटी।

प्रोफेसर तब सामान की ओर नजर डालते हुए बोले, "एक दिन तुम आओ ना ! जब तुम्हें सुविधा हो, तब। मेरी तो अभी छुट्टी चल रही है।"

"अच्छा," कह कर जल्दी से रास्ता पार हो जाने पर उस 'पक्ष' को भी जैसे मुक्ति मिली। घूम कर देखने का अदम्य लोभ मन में ही दबा कर रखना पड़ा। एक बार सोचा, वह बड़े हैं, बुला कर बातचीत की। प्रणाम या नमस्कार करके आना उचित था। किंतु इसके लिए फिर लौट कर जाना उचित नहीं था। वैसा साहस भी उसे अपना मन टटोलने पर नहीं मिला।

आशुबाबू के कमरे में जिस दिन पहली बार बात हुई थी, दिलीप तभी समझ गया था प्रोफेसर सहृदय और स्नेहशील हैं। उसी दिन उसको आने को कहा था। आज फिर कहा। किंतु पिता के निमंत्रण में पुत्री का समर्थन है क्या ? हो ही, ऐसी कोई बात नहीं। न होना ही स्वाभाविक है। उस ओर से यह दुराशामात्र है। उन्मुक्त मन का कोई लक्षण भी तो वहाँ से नहीं मिला। छत के इधर से वह जिस ढंग से कतरा गई है, उसमें तो बल्कि विमुखता ही अधिक प्रतीत होती है। उसके बाद से बहुत दिन बीत चुके हैं। आज उस अकस्मात् चौंकी दृष्टि और फिर होठों पर फैली स्निग्ध मुस्कान कोई नई बात लेकर आई या नहीं क्या पता ? या शायद ये दोनों ही अर्थहीन हों। आँखों की पुतलियों में वह सिर्फ अचानक देखने पर विस्मय हो, और मुस्कान की रेखा में मात्र कौतुक हो।

असल में जो भी हो, बहुत दिन बाद मिलीं ये दो दुर्लभ वस्तुएँ, जिनके लिए मन युक्ति नहीं मानता और तर्क नहीं करता, उसी (मन) के एक कोने में निरंतर मधु वर्षा करने लगीं।

दो-तीन दिन बाद दिलीप प्रेस के ऑफिस में बैठा काम कर रहा था। मास्टरजी

थोड़ी देर पहले वाहर गये थे। वहादुर आकर वोला, "कॉलेज से कल थोड़ा जल्दी आ जाना। शाम नहीं कर देना।"

"क्यों? क्या काम है?" कॉपी पर से नजर उठाये विना ही दिलीप वोला।

"माया के घर चलना है। रात में आने को कहा है तुझे, मुझे और शम्सुल को।"

दिलीप ने अब सिर उठाया, "तीन मूर्तियाँ एक साथ? मामला क्या है, भई?"

"वह कुछ वताये तव ना? वस वोली जल्दी आना। काम करना पड़ेगा।"

"शम्सुल से कह दिया?"

"अव कहने जा रहा हूँ।"

जाने से कुछ देर पहले तैयार होने की ताकीद देते-देते देखा गया शम्सुल नहीं है। कई लोगों से पूछा गया। कोई नहीं वता सका कि वह कहाँ गया। इधर समय हो गया था। और देर करने से रनमाया रणमूर्ति वन जायगी। आखिर उसे छोड़ जाना ही तय हुआ। केशव पर भार डाला, जैसे ही लौटे, उसे तुरंत रवाना कर देना। कागज के एक टुकड़े पर पता लिख, वहादुर चिंतित भाव से सबसे ऊपर के दिलीप के कमरे में जाकर वोला, "चल, और देर नहीं की जा सकती।"

दिलीप कमीज खूंटी से उतार उसे पहनते हुए वोला, "वह राजी तो हो गया था ना?"

"पहले नहीं हुआ। फिर जव समझा कर कहा कि न जाने पर वहन क्या सोचेगी, तव हामी भरी थी।"

"मायादो को उसकी सारी वात वताई है?"

"सव और क्या? लड़की-लड़के की वात सुनते ही लेक्चर देता है, यही एक दिन वात-वात में कह वैठा था। तव से ही माया की इच्छा है उसे एक दिन वुलाने की।"

वाल काढ़ने के लिए आइना उठाते ही दिलीप की नजर एक चिट्ठी पर पड़ी, उस पर वहादुर का नाम था। दिलीप पत्र उसके हाथ में देकर वोला, "यह लो।"

"यह क्या?" कह कर वहादुर ने तह किये कागज को खोल कर पढ़ा। फिर चुपचाप पास आकर दिलीप की ओर वढ़ा दिया। दिलीप ने मन-ही-मन पढ़ा:

"भाई वहादुर,

"मेरी सव वात शायद तुम नहीं जानते। दिलीप जानता है। घटना सामान्य है, किंतु मेरे जीवन में उसका फलाफल और उससे जो शिक्षा मिली है, सामान्य नहीं है।

"बचपन में जिसने मुझे हाथ पकड़ कर पाप के रास्ते पर उतारा था, वह एक लड़की थी। फिर सुअवसर पा कर वह तो हाथ-पैर झाड़ कर अलग हट गयी और मैं कीचड़ में पड़ डुबकियाँ खाने लगा। मेरे माँ-बाप, आत्मीयजनों, थाना-अदालत और पीछे खड़ी सारी दुनिया ने मुझे वहाँ दबा कर रख दिया। उसे भूल नहीं सका हूँ, उसके साथ ही उसकी जाति को भी। रास्ते-गली, घर-बाहर जहाँ भी मैं कोई लड़की देखता हूँ, सबके चेहरों पर मैं वही मुख देखता हूँ। अपने को युक्ति देकर भी समझाया है कि यह मेरी भूल है। एक के लिए सबको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पर यह युक्ति चलती नहीं।

"उन्हीं आँखों को लेकर और जहाँ भी हो, तुम्हारी बहन के सामने खड़ा नहीं हुआ जा सकता।

"तुम लोग मुझे क्षमा करना।

तुम्हारा—शम्सुल"

चिट्ठी खत्म कर अपने टीन के सूटकेस में उसे बंद करते हुए दिलीप बोला, "यह मैं पहले से जानता था कि वह नहीं जायगा।"

"पर माया से क्या कहूँगा ?"

"कहना ही पड़ेगा, तबीयत ठीक नहीं है। और असल में है भी ऐसा ही। यहाँ हम जितने हैं, उनमें शायद वही सबसे ज्यादा बीमार है।"

निमंत्रण का असली कारण वहाँ पहुँचने पर पता चला। उस दिन भाईदूज थी। रनमाया उसी की तैयारी कर रही थी। पहले से कहने पर 'मजा' जाता रहेगा, इसीलिए नहीं बताया था।

आस-पास के दो-तीन बंगाली परिवारों में रनमाया का आना-जाना था और उस जैसी महिला को मैत्री जमाने में देर नहीं लगी थी। बातचीत में उन्हीं में से किसी से कुछ दिन पहले इस अनुष्ठान का नाम और विवरण उसे पता चल सका था। इस उत्सव के अंतरनिहित सुर ने उसके मन में हलचल की। भाई-बहन का संबंध जितना गहरा होता है, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि रनमाया के जीवन में जैसी हुई थी, वैसी कितने जनों को होती है ? आज उसके चारों ओर जो कुछ है, सबके मूल में एक ही व्यक्ति है—उसका दादा। माँ को उसने नहीं देखा, कहना पड़ेगा। जो लड़की शिशुअवस्था में ही मातृहीना हो गयी हो, उसके समक्ष बाप एक अस्तित्व मात्र है, सिर्फ भरण-पोषण का कर्त्तव्य, वह भी अनेक समय निश्चित नहीं। यह नियम का व्यतिक्रम था। माँ खोने के बाद बाप को और भी अधिक पाया हो, ऐसी लड़कियाँ नितांत दुर्लभ नहीं। वे परम भाग्यवती होती हैं। रनमाया ऐसा भाग्य ले कर नहीं जन्मी थी। बल्कि विमाता के अंतराल में पिता का अस्तित्व भी उसके लिए ढक गया था। उन दुर्दिनों में चरम सर्वनाश के चंगुल से जिसने उसकी रक्षा की थी, वह उसका दादा था, जिसकी अपनी

अवस्था तब वहन से भी अधिक असहाय थी। किंतु यह बात उसने एक बार भी नहीं सोची। अंधे की भाँति किसी ओर देखे बिना—दुस्तर संकट के मुंह में कूद गया था। उस विपत्तिपूर्ण भँवर को पार कर किनारे पहुँचने की संभावना उस दिन एक बार भी दिखाई नहीं दी थी। फिर दिन के बाद दिन अनेक झकोरों के बीच से एक दिन इस निरापद तट-रेखा का साक्षात हुआ था। इसके पीछे एक सहाय-संबल हीन लड़के का अटूट एकल संग्राम था। उसने सारे दुःख अपनी छाती पर झेले थे, बहन को उनकी आँच तक नहीं आने दी थी।

उसी दादा के लिए वह कुछ नहीं कर सकी। करती भी क्या ? मन में बहुत इच्छा होने पर भी सामर्थ्य में नहीं था। बहन न होकर अगर भाई होती, तो पास जा कर खड़ी हो सकती थी। पराये घर की लड़की को वह सौभाग्य कहाँ ! बीच-बीच में बुला कर उसे जो अच्छा लगता, वैसे एक-दो बना कर खिलाना, इसे ले कर थोड़ी जिद-खुशामद करना—इससे ज्यादा और क्या कर सकती थी ? कुछ दिन पहले अपनी नई परिचिता पड़ोसिन बहू से भाईदूज की बात सुन सहसा उसके दिमाग में भर गया कि वह भी उनकी भाँति भाईदूज का उत्सव मनायगी। नये कपड़े पहन बाएँ हाथ की कनिष्ठा से भाई के माथे पर चंदन का टीका लगा कर कहेगी—'यम के द्वार पर काँटा पड़े।' फिर शंख बजा कर मंगलध्वनि करेगी, पृथ्वी पर माथा टेक प्रणाम कर नत-मुख धीरे-धीरे उसके चरणों की धूल लेगी। कितना सुंदर, काव्यमय, मधुर अनुष्ठान है ! सोचते ही दिल आनंदित हो उठता है। उसने खोद-खोद कर अपनी सखी से एक-एक बात पूछ ली कि किसके बाद क्या होता है। इतने से ही संतुष्ट न हो, दरवाजा बंद कर सखी को सामने बिठा रिहर्सल भी किया—"अच्छा सखी, समझ लो तुम ही मेरे भाई हो। देखो तो, ठीक से हो रहा है या नहीं।"

इस उद्भट प्रस्ताव को सुनते ही सखी तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई थी। किंतु रनमाया ने छोड़ा नहीं। तुरंत बोली, "ठहरो, ठीक से बैठो पहले।"

बात रनमाया के सोने के कमरे में खाट पर बैठ कर हो रही थी। सखी एक उछाल में कूद पड़ी। आँचल को कस कर कमर में बाँधा। फिर फर्श पर आसन ग्रहण कर सीना तान दोनों हाथों से मूछ पर बल देते हुए जितना संभव था, उतनी गंभीरता से बोली, "जल्दी कर।"

दोनों सखियों की मिली-जुली हँसी से कमरा गूंज उठा।

उत्सव का आयोजन करने जा कर रनमाया के मन में आया, तिलक सिर्फ दादा को ही प्राप्य नहीं, छोटे भाई भी समान अधिकारी हैं। इसके अलावा दिलीप के बिना किसी उत्सव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उसके साथ जो संबंध है, वह सिर्फ आज का नहीं, बस्ट्राल प्रवास के उन चरम दुखों के दिन में ही इस लड़के को एक-दो बार दूर से देख मन में अपना अंतरंग मान लिया था। दादा के मुंह से उसकी

इतनी बातें सुनी थीं, कि तब से ही खुद को उसकी दीदी के आसन पर बिठा रखा था। फिर यहाँ आ कर धीरे-धीरे वह और भी निकट आ गया। आज 'माया दी' सिर्फ उसकी दीदी ही नहीं, घनिष्ठ मित्र भी थी। उस बुद्धि-दीप्त प्रशस्त मस्तक पर चंदन का टीका लगा कर सदा के लिए इस संबंध को स्वीकृति देगी रनमाया।

इसके साथ एक और जन को भी बुलाना होगा, शम्सुल को। उनका ही मित्र है. लेकिन उसके सामने कभी नहीं आया। उसके बारे में वह कुछ ज्यादा नहीं जानती। बात-बात में एक दिन दादा बोले थे, 'सारी नारी जाति उसकी आंखों का विष है।' बात बहादुर ने निहायत मजाक में कही थी। उससे रनमाया को लगा था, शायद कोई लड़की उसके जीवन में सर्वनाशी विषपात्र ले कर ही पहुँची होगी। संसार में ऐसी लड़कियों का तो अभाव नहीं। उस बेचारे ने कुछ जाने बिना सरल मन से उस विष को ही सुधा मान कर पी लिया होगा। वही ज्यादा उसकी आंखों को झुलसा कर धुंधला बना गई। उस अनदेखे अपरिचित लड़के के लिए रनमाया को बहुत करुणा उमड़ पड़ी। उसे एक बार सामने पा कर चेष्टा करके देखेगी, उसकी दृष्टि को बदला जा सकता है या नहीं। उसके विष-जर्जर मन पर थोड़े स्निग्ध प्रलेप का स्पर्श कितना काम कर सकेगा ? एक-दो दिन में नहीं होगा, समय लगेगा। रनमाया के मन में आया, यह काम जैसे उसे ही करना है। सिर्फ बहादुर की बहन और दिलीप की दीदी के रूप में नहीं, नारी होने के कारण भी यह उसका विशेष दायित्व है। एक नारी जो क्षति कर गयी है, एक दूसरी नारी को उसकी क्षतिपूर्ति का भार लेना ही पड़ेगा। इस भाई-दूज से ही उसका शुभारंभ हो जाय।

वह अपने दादा से बोली थी, "उसे यहाँ आना ही चाहिए।"

बहादुर के मुंह से संदेह का स्वर निकला था, "क्या वह आयगा ?"

"नहीं आयगा का मतलब ? कहना, मैंने उसे विशेष रूप से निमंत्रित किया है।"

बहादुर और दिलीप के कमरे में घुसते ही रनमाया झंकार उठी, "अच्छा तो यह हुआ है तुम्हारा जल्दी आना !" फिर रास्ते की ओर देख कर बोली, "शम्सुल तो नहीं आया ?"

बहादुर ने जवाब न दे कुछ विचलित दृष्टि से दिलीप की ओर देखा। वह भारी गले से बोला, "उसकी तबियत ठीक नहीं है।"

रनमाया तुरंत गंभीर हो गई, साथ ही अन्यमनस्क भी। इस बारे में और कोई बात नहीं उठाई। तबियत ठीक नहीं, सुन कर भी कोई उद्वेग प्रकट नहीं किया। अंदर जाते हुए बोली, "तुम लोग कमीज-वमीज उतार कर आराम से बैठो। मैं अभी आ रही हूं।"

अंदर के बरामदे में पास-पास तीन आसन बिछा कर रखे थे, उनमें से एक उठा लिया। रसोईघर में तीन थाल निकाल कर रखे थे। एक थाल और [illegible]

रियाँ वहाँ से हटा कर वाकी में खाना लगाने लगी, तभी वहादुर आ कर पीछे खड़े वोला, "अचानक इतने खाने का प्रवंध किसलिए ? हम मामा वनने जा रहे हैं, क्या

"ना रे ना। वह सव कुछ नहीं है।"

"फिर ?"

"यह तुम लोगों का मामला है। यानी""।"

"ऐ-ऐ, अभी मत वताओ", तर्जनी उठा कर रनमाया ने पति को आँखें र कर डाँटा।

"ठीक है, नहीं वताऊँगा। ये सव लोगी, या हाथ में लिए खड़ा रहूँ ?"

रनमाया हँसती हुई उठ कर आई और उसके हाथ से चीजें ले, रखते हुए बो

"लिस्ट के मुताविक सव तो ले आये ना ?"

"एक चीज ज्यादा लाया हूँ।"

"क्या ?"

"क्यों वताऊँ ?"

"मत वताओ। मैं जैसे खोज कर देख नहीं लूंगी।"

"दादा को वहुत पसन्द आयगी," पदम ऐसे भाव से वोला, जैसे वह चीज वहुत लोभनीय हो।

"क्या है, वताओ न ?"

"लड्डू।"

"दिल्ली का !" कह कर वहादुर उल्लासित हो उठा।

"नहीं, दार्जिलिंग का।"

दोनों ही उच्छ्वसित हँसी हँस पड़े। रनमाया ने हँसी में हिस्सा नहीं लिया। वह मुंह विचका कर वोली, "धत्, आज के दिन ये सव वेकार चीजें उनकी थाली में दी जाती हैं क्या ?"

"आज है क्या, यह तो वताती नहीं हो"—इस वार यथावत् असहिष्णु भाव से वहादुर वोला।

"अभी देख लोगे। जाओ, दिलीप को वुला लाओ।"

उसके निर्देशानुसार वहादुर और दिलीप के पास-पास आसन पर वैठ जाने के वाद, रनमाया ने दीपदान में लगाये गये घी के दिये को जला दिया। आग में थोड़ी धूनी और गुग्गल डाल दी। फिर जा कर शयन कक्ष से दो धोतियाँ और चादर के जोड़े ले कर लौटी। पहले दादा के पास जा कर वोली, "हाथ फैलाओ।" वहादुर भौंचक्का-सा देखता रहा। रनमाया तड़क उठी, "लो ना !" तव उसने भय से हाथ वढ़ाया। आँखों को देखने लगता था कि ऐसी धांधली में वह कभी नहीं पड़ा। दिलीप के हाथ में जोड़ा दिये जाने पर वह वोला, "शायद आज तुम्हारी भाईदूज है। पहले क्यों नहीं

कहा ?"

"पहले क्या कहती ?"

"पर भाई भी तो खाली हाथ नहीं आते हैं।"

"ठीक है, बड़े हो जाओ, लायक बन जाओ। तब देना, जितना देना हो। मेरा पावना भागा तो नहीं जा रहा है।"

पदम बहादुर खड़ा-खड़ा देख रहा था। अब बोला, "जहाँ तक मैंने सुना है, इस मामले में देना सिर्फ बहन को ही होता है। भाइयों की तो ले कर ही छुट्टी है।"

"ऐसा ?" अविश्वास के स्वर में दिलीप बोला, "बचपन में बस एक बार अपने दोस्त के घर में देखा था। ठीक याद नहीं।"

"जो याद था, वही मुझे थोड़ा बता देता भाई" बहादुर असहाय भाव से बोला, "क्या कहते हैं ? भाईदूज ?"

"हाँ; अब चुपचाप बैठ रहे हो या नहीं," रनमाया आदेश के स्वर में बोली, "जरा भी नहीं हिलना।"

बहादुर और कोई बात न कह ध्यानावस्थित बुद्ध की भाँति निश्चल बैठ गया। रनमाया ने एक-एक कर दोनों के माथे पर चंदन का तिलक लगाया। दिलीप के अपने पैरों की ओर हाथ बढ़ाये जाते ही, रनमाया छिटक कर पीछे हट गयी। जीभ काट कर बोली, "छीः छीः, तुम तो ब्राह्मण हो।"

"हूँ तो क्या तुम भी तो दीदी हो।"

रनमाया के कोई उत्तर देने के पहले ही बहादुर बोल उठा, "मैं तो बाबा ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे उसके पैरों में हाथ लगाना होगा क्या ?"

सब हँस पड़े। रनमाया पास आ कर डाँट कर बोली, "कैसी गंदी बात है ? इससे मुझे पाप होगा, नहीं जानते ? लाओ, पैर आगे करो।"

बहादुर ने थोड़ा हँस कर आडंबर सहित दोनों पैर बढ़ा दिये। रनमाया के झुक कर प्रणाम करते ही सस्नेह उसकी पीठ और सिर पर हाथ फिरा कर बोला, "हो गया, हो गया। अब जा, खाने-वाने को जो बनाया है ले आ। चंदन के टीके से ही तो पेट नहीं भर जायगा।"

और एक हँसी के रेले में रनमाया रसोईघर की ओर कदम बढ़ाते हुए बोली, "पेटू कहीं के !"

भोज का आयोजन थोड़ा व्यापक होने के कारण भोजन-पर्व होने में समय लगा। पदम बहादुर और नहीं ठहरा। अगले दिन सुबह उसके आई० जी० का इंस्पेक्शन था, व्यस्त भाव से विदा ले चला गया। बहादुर बैठा-बैठा हाँफ रहा था। इधर-उधर देख कर बोला, "थोड़ा पसर सकता तो अच्छा था।" रनमाया मुँह दबा कर हँसते हुए बोली, "जाओ ना, बिस्तरा तो बिछा ही है।"

बहादुर दिलीप की ओर मुड़ कर बोला, "तू क्या करेगा ?"

"बैठूंगा, मेरी तुम्हारे जैसी हालत नहीं है। माया दी तुम खा आओ। तब तक मैं इस पत्रिका के पन्ने पलट रहा हूँ।"

"इससे तो उधर चलो ना। खाते-खाते बातें होंगी।"

"ठीक है, चलो।"

बहादुर पहले ही 'पसरने' चला गया था। दिलीप भीतर के बरामदे में ज बैठा।

रनमाया एक छोटी थाली में थोड़ा भात और तरकारी ले कुछ दूर फर्श प आ बैठी। दिलीप उस थाली पर एक नजर डाल कर बोला, "यह क्या! तुम इतन सा ही खाती हो क्या ?"

"और कितना खाऊँ ?"

"इसका मतलब मेरे सामने बैठ कर खाने में शरमा रही हो।"

"निश्चय ही; इतने बड़े एक बुजुर्ग के सामने शरमाऊँगी नहीं क्या ? ये सब बेकार बातें छोड़ उस घर की क्या खबर है, बताओ।"

"ऐसी कौन सी खबर है जो तुम नहीं जानतीं ? हाँ, एक नई खबर है। वे लौट आये हैं।"

"क्या कह रहे हो", प्रायः चीख कर रनमाया बोली, "इतनी बड़ी बात दबाये जा रहे थे !"

दिलीप चुपचाप मुस्कराने लगा। रनमाया कुछ सोच कर बोली, "सोचती हूँ, मैं एक दिन उसके साथ बात करने जाऊँ।"

"तुम !"

"हाँ, बुराई क्या है ? जा कर क्या परिचय दूँगी, सोच रहे हो ना ? कहूँगी मैं दिलीप की दीदी हूँ।"

"तब तो खूब पहचानेगी !"

"पहचानेगी नहीं, मतलब ? जाने पर देखा जायगा, सिर्फ नाम नहीं नाड़ी नक्षत्र तक उसे पता चल चुका है।"

दिलीप के आनत मुख पर क्षण भर के लिए एक अस्पष्ट म्लान छाया घनी हो गई। अगले ही क्षण सिर हिला कर बोला, "वह सब रहने दो। तुम्हारे दिमाग में य भाईदूज का ख्याल कैसे घुसा ?"

"यह कैसे मजे की बात है।....." कह कर रनमाया ने अपनी सखी-घटित कहा सविस्तार कह सुनाई। कहते-कहते इस हृदयस्पर्शी अनुष्ठान का सारा माधुर्य उस कंठ और आंख-मुंह पर झलक उठा। उसके बाद थोड़ा रुक अनमनी-सी हो अपलक दृष्टि से दिलीप के मुख की ओर देखती रही। दिलीप भी सुनते-सुनते थोड़ा अन्यमनस्क

हो गया था। सहसा सजग हो पूछा, "क्या सोच रही हो ?"

"सोच नहीं रही, देख रही हूँ, कितने अच्छे लग रहे हो तुम। चंदन और माथे का रंग एक हो कर मिल गया है।"

दिलीप लज्जित हो उठा और इस प्रसंग को तुरंत दवा कर बोला, "अरे, तुम खा कहाँ रही हो ?"

रनमाया ने इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया। शायद सुन ही नहीं सकी। उसी तरह एकटक देखते हुए बोली, "अपने बारे में कैसी मिथ्या धारणा लिये बैठे हो, भाई ! इस माथे पर भला कभी काला धब्बा लग सकता है ?"

दिलीप हँसा, मृदु किंतु अविश्वास की हँसी। इस अगाध विश्वासपरायणा स्नेहमयी युवती पर शायद थोड़ी करुणा भी हुई उसे। रनमाया की दृष्टि इसमें से किसी पर नहीं पड़ी। अपने दृढ़ विचार पर अटल रह कर जैसे अपने मन में कह उठी, "यह सिर्फ चंदन का टीका ही नहीं, भगवान का नाम ले कर लगाया गया मंगलचिह्न है ! अगर कभी काले धब्बे का स्पर्श लगा भी था तो वह इसके नीचे दब गया है।"

उस भावगहन धीर कंठ स्वर में ऐसा कुछ था, जिसे सुन कर दिलीप के मुँह से हँसी गायब हो गयी। तर्क और प्रतिवाद की बात भूल वह बस निर्वाक् विस्मय से देखता रहा।

• • •

पंद्रह

शाम होने में कुछ देर थी। कॉलेज से लौटने के बाद और कहीं न जा कर दिलीप ऑफिस में जा बैठा। कुछ प्रूफ जमा हो गये थे। उन्हें समाप्त कर स्थगित पत्रों की फाइल खींचते ही आशुबाबू बोले, "वह सब रहने दो। सारा दिन खट कर आये, रात में फिर पढ़ना है। अब थोड़ा घूम आओ।"

"आज घूमने जाने की इच्छा नहीं है।"

"कितने दिन से तो देख रहा हूँ, कॉलेज से आते ही काम ले कर बैठ जाते हो। शाम को कुछ घूमना-फिरना न करने से तबीयत कैसे ठीक रहेगी ?"

"बस अभी उठा," कह कर दिलीप ने इस बारे में और कोई बात का मौका न दे दत्त एंड सूर कागज कंपनी की एक चिट्ठी के संबंध में कुछ जरूरी बातें पूछीं। आशुबाबू ने फाइल ले कर देखी, फिर कुछ देर विचार-विनिमय चला। दिलीप उसी के अनुसार उत्तर का प्रारूप तैयार करने बैठ गया।

और कुछ देर बाद सारा काम निपटा कर जब वह उठने की तैयारी कर रहा

था, आशुबाबू ने अचानक पूछा, "प्रोफेसर बनजा के घर गये थे ?"

दिलीप चौंक उठा। कहाँ जाना चाहिए, सोचने जा कर तभी उनकी याद आई थी। रनमाया नहीं है। कुछ दिन हुए ससुराल चली गई। वहाँ उसकी सास बीमार है। कई दिन से बार-बार माँ की याद आ रही थी। सोच रखा था, लड्डूवाला गोकुलदास के आने पर उसके साथ बंदोबस्त करके उस अंचल में एक बार और घूम कर देखेगा। जिस महिला को वह 'माँ' कहता है, जिनके पास उसे ले जाने के लिए उस दिन इतनी जिद की थी, उनके प्रति भी मन के कोने में कैसा एक अद्भुत आकर्षण अनुभव कर रहा था। सोच रखा था, अगर फिर कहेगा, तो जा कर एक बार बुड्ढे की 'माँ' को देख आयगा। किंतु बहुत दिनों से गोकुल आया नहीं। यह लड्डुओं का समय नहीं था। इधर चना-परवल की माँग शायद उतनी नहीं रही या फिर, बुड्ढा आदमी ठहरा, बीमार-ऊमार भी पड़ सकता है।

मन जब सूना-सूना लग रहा था, उसे बहलाने लायक कुछ नहीं मिल रहा था, तब सहसा उसे पड़ोस के घर का ख्याल आया। प्रोफेसर बनर्जी ने जब खुद ही उससे आने को कहा है, तब न जाना उचित नहीं है। पर 'आना' कहने से ही क्या जाया जा सकता है ? प्रोफेसर अकेले तो रहते नहीं हैं। यदि और किसी के सामने पड़ना पड़ा, तब ? छीः छीः क्या सोचेगी ! फिर उसने अपने को समझाने की कोशिश की, इसमें सोचने की क्या बात है ? वह और कोई उद्देश्य तो ले कर जा नहीं रहा। जा रहा है एक संभ्रांत भद्र जन के साथ भेंट करने। यह भी ऐसे ही नहीं, गृहस्वामी के अनुरोध पर ।

फिर भी, युक्ति में कितना ही जोर था, पैर उतना जोर नहीं पा रहे थे। उठने जा कर भी सोच रहे थे, आज रहने दो।

इस दुविधा से मास्टरजी ने उसे उबारा। बोले, "अभी एक बार हो आओ, ना।"

"अभी !"

"बुरा क्या है ? कई दिन से उनकी तबीयत अच्छी नहीं है। पड़ोसी के नाते हमारा खोज-खबर लेना उचित है।"

सदर दरवाजा यथारीति बंद था। एक-दो बार हिचकिचा कर कुडी खटखटाते ही एक वयस्क उम्र के नौकर ने आ कर दरवाजा खोला और दिलीप के कुछ कहने से पहले ही बोल उठा, "अंदर आइये, बाबू लेटे हैं।"

"ऊपर जाऊँ ?"

"तो क्या हुआ ? बाबू नीचे जो नहीं उतरते हैं।"

"फिर भी तुम एक बार पूछ आओ। मैं...."

"बताने की जरूरत नहीं। मैं पहचानता हूँ। आप तो उस घर के डाक्टर-बाबू हैं।"

दिलीप मुस्करा दिया, "किसने कहा मैं डाक्टरबाबू हूं ?"

"मैं जानता हूं। बीबीजी ने बताया है।"

दिलीप के मुंह पर जैसे किसी ने एक मुट्ठी अबीर मल दिया। उसके बाद न जाने क्या हुआ, रक्ताभ स्निग्धता मिट कर वहां धीरे-धीरे गंभीरता छा गई; गालों की पेशियां हठात् तन गईं जैसे। यह विद्रूप है या उपहास ? या फिर उसे ले कर नौकर के साथ किंचित परिहास-कौतुक चलता है ! मन में आया तुरंत लौट जाय। अचानक ध्यान गया नौकर उसके चेहरे की ओर चकित हो देख रहा है। उसके सामने अपने इस असंयत भावांतर पर मन-ही-मन वह लज्जित हुआ। जल्दी से खुद को सम्हाल कर बोला, "चलो।"

प्रोफेसर अपने शयनकक्ष में एक ईजीचेयर पर लेटे थे। दिलीप के पहुंचते ही थोड़ा सीधे हो कर बैठ गये और प्रसन्नता से बोले, "दिलीप महाशय आये हैं। बैठो।" इस सामान्य हिलने-डुलने से उनके मुख पर पीड़ा की जो रेखा स्पष्ट हुई, अन्य कोई शायद लक्ष्य न कर पाता, पर दिलीप की अभ्यस्त आंख से छिपी न रही। वह सामने की कुर्सी पर बैठ उनकी ओर थोड़ा झुक उद्वेग के स्वर में बोला, "आपको क्या बीमारी है ?"

प्रोफेसर मुस्करा कर बहुत कुछ उदासीन भाव से बोले, "यह तो ठीक से नहीं बता सकूंगा। तुम लोग ही यह सब समझ सकते हो। फिर भी प्रेशर बहुत बढ़ गया लगता है।"

कहते ही गर्दन घुमा कर भयभीत से हो पीछे के दरवाजे की ओर देखा। उनकी दृष्टि अनुसरण करते ही दिलीप को चौखट के उस पार एक परिचित आंचल का कोना दिखाई दिया। प्रोफेसर की प्रौढ़ आंखें संभवतः यह नहीं देख पायीं। वह स्वर धीमा कर बोले, "लड़की के सुन लेते ही मुश्किल होगा। वैसे ही बहुत घबड़ा गयी है। एक तो ठहरी बच्ची, ऊपर से बिल्कुल अकेली।"

अंतिम वाक्य में उनके स्वर में कैसी एक चिंता-सी लगी। एक दबे दीर्घ श्वास की मृदु आवाज भी दिलीप को सुनाई दी। क्षण भर पहले उसके हृदय में जो कंपन आया था, उसे जबरदस्ती दबा कर बोला, "दवाई तो ले रहे हैं, ना ?"

"क्या होगा !" निर्लिप्त स्वर में बनर्जी बोले, "यह रोग तो दूर होने वाला नहीं। सदा का साथी है। जितने दिन चलेगा, चले।"

"एकदम दूर न होने पर भी राहत तो होगी। वरना शायद....."

बात पूरी किये बिना ही दिलीप रुक गया। मन में आया, प्रेशर के रोगी को कुछ अप्रीतिकर न कहना ही उचित है। किंतु बनर्जी ने उसकी अधूरी बात खुद ही पूरी कर दी। बोले, "कुछ मारात्मक हो सकता है, कहना चाहते हो ना ? उसके लिए तैयार हूं।"

दिलीप ने इस पर ध्यान न देकर पूछा, "प्रेशर कब लिया था ?"

"ठीक याद नहीं। तो भी कुछ ज्यादा दिन हो गये।"

"और एक बार लेना जरूरी है। आपको कौन देख रहे हैं ?"

"मेरे एक मित्र डॉक्टर हैं। श्याम बाजार में रहते हैं। वही बीच-बीच में आ कर देख जाते हैं। अब कई दिन से नहीं आये। शायद मेरे लौट आने की खबर उन्हें न मिली हो।"

"उन्हें एक बार बुलाना चाहिए। उनके घर या चेंबर में फोन है क्या ?"

"है तो।"

"तो मैं ही उन्हे खबर दिये देता हूँ। उनका नाम और नंबर...."

"नहीं, नहीं, अभी कैसे जाओगे। इतनी देर तक तो मेरे रोग का ही हाल सुनते रहे। तुम्हारी तो कोई बात ही नहीं सुनी। पहली बार आकर थोड़ा चाय-वाय ....रघु रे ?"

दिलीप जल्दी से बोल उठा, "जी अभी नहीं। फिर किसी दिन पियूँगा। आज चलूँ।"

"लेकिन डॉक्टर के लिए इतनी जल्दी क्यों ? क्या कुछ खराब देख रहे हो ?"

"नहीं, नहीं। खराब क्यों होगा ? वैसे ही एक बार उनका आना जरूरी है।"

"पर ढेर सारी दवाइयाँ भी और नहीं खाना चाहता।"

"ज्यादा दवाइयाँ देंगे, ऐसा नहीं लगता। एक-दो 'पिल' शायद खानी पड़ें। इससे आपके सिर का दर्द चला जायगा।"

"मेरे सिर में दर्द हो रहा है, यह तो मैंने तुम्हें बताया नहीं।" बहुत आश्चर्य से प्रोफेसर बोले। दिलीप उठ खड़ा हुआ। सिर झुकाए मुस्करा कर बोला, "न बताने पर भी मैं समझ गया हूँ।"

रघु आ कर खड़ा था। बनर्जी ने उसे देखकर कहा, "अपनी बीबी जी से कह एक कागज पर डॉक्टर हीरेन का नाम और फोन नंबर लिख दे।"

एक मिनट बाद ही रघु ने एक स्लिप लाकर दिलीप के हाथ में थमा दी। साफ-साफ अंग्रेजी अक्षरों की सुंदर और स्वच्छ दो पंक्तियाँ थीं—डॉक्टर एच० एम० बोस, एम० बी०। उसके नीचे एक टेलीफोन नंबर लिखा था। कागज को हाथ में ले लि[illegible] वट को देखते ही दिलीप का हृदय अंदर से धड़कने लगा। कागज मोड़ कर जेब में रख, जाने के लिए पैर बढ़ाते ही फिर घूम कर खड़ा हो गया। झुक कर बनर्जी के पैर में हाथ रख प्रणाम करने पर उन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया। बोले, "बस, बस, अब कब आओगे, बेटा ?"

"कल सुबह आ कर हालचाल देख जाऊँगा।"

वही नौकर पीछे-पीछे उतर कर दरवाजे के पास खड़ा हो गया। कुछ ज्यादा

वात करना उसका स्वभाव लगता था। वोला, "वावू कैसे हैं?" दिलीप के कुछ उत्तर देने से पहले ही वोला, "वीवीजी वहुत मुश्किल में पड़ गयी हैं। माँ नहीं हैं, ना ताऊ-ताई हैं। वह भी क्या पास में हैं? वह भी पश्चिम में कहीं कानपुर या जाने कौन से शहर में रहते हैं। उन्हीं के पास तो एक महीना रह आये। ताई वहुत चाहती हैं। इससे क्या हुआ? वाप ही एकदम अंतः प्राण हैं। और वावू की भी यह प्राणों से प्यारी नीलमणि है, एक पल के लिए भी अपने से अलग नहीं करते। यही कॉलेज और घर, घर और कॉलेज, वस।"

वंद दरवाजे के पास खड़े हो दिलीप चुपचाप सुन रहा था। सुने विना कोई उपाय भी नहीं था। सामने एक निरीह ढंग का श्रोता पा कर रघु का उत्साह भी शायद वढ़ गया था। मुँह विगाड़ कर वोला, "इधर मामा वहुत वड़े आदमी हैं। यहीं भवानीपुर में खुद का मकान है। लड़की की एक वार खोज-खवर तक नहीं लेते। वावू के साथ...." कह कर दोनों हाथों की तर्जनी आपस में उलटी मिला कर आँख और भ्रू से एक विरोधसूचक संकेत कर के दिखाया।

"जाने दो, आपको और देर हो गयी। वीच-वीच में ऐसे ही खोज-खवर लेते रहिएगा वावूजी।"

रघु की यह धाराप्रवाह कहानी सुनते-सुनते दिलीप का सारा मन भारी हो उठा। प्रोफेसर वनर्जी तव निःश्वास छोड़ कर वोले थे—लड़की एकदम अकेली है। वात उसके अंतर को छू गयी थी। किंतु उनके मर्मस्थल में जो इतना मर्मांतक अर्थ निहित है, यह कैसे जानता। अव तीव्र रूप से अनुभव किया। इस 'अकेले' शब्द का विषण्ण म्लान रिक्त रूप उसकी आँखों के सामने मूर्त हो उठा। दरवाजे के वाहर पैर रख अन-जाने ही उसकी आँखें ऊपर की ओर उठ गयीं। दूसरी मंजिल के वरामदे में रेलिंग के पास वह खड़ी थी। जैसे वेदना की एक प्रतिमूर्ति खड़ी हो। घने साये के स्वल्प-आलोक में जितना दिखाई दिया, सारा मुख परिम्लान विषाद से भरा था। आँखें मिलते ही दिलीप को लगा, दोनों होठों के वीच एक फाँक-सी वनी है। शायद कुछ कहना था। विना सुने ही वह चला जा रहा है। क्षण भर के लिए दोनों पैर अपने आप ही थम गये। किंतु कोई पुकार आ कर नहीं पहुँची।

जेव में रखे कागज की याद आते ही वह तेजी से चल पड़ा। नुक्कड़ पर उसके एक परिचित की दवाइयों की दुकान है। वहाँ से डॉक्टर वोस को फोन करना है।

कुछ देर पहले ग्यारह वज चुके थे। प्रेस के घर में कहीं कोई आवाज नहीं थी। सव नींद में विभोर थे। नौ वजे उन सवका खाना-वाना समाप्त हो जाता। फिर घंटे भर वातें चलतीं। दस वजते-न-वजते सारे दिन की श्रम-क्लांत आँखें अपने आप मुंद जातीं। सारी वत्तियाँ वुझ जातीं। पूरा मकान अंधकार से ढक जाता। सिर्फ एक

दिलीप ने इस पर ध्यान न देकर पूछा, "प्रेशर कब लिया था ?"

"ठीक याद नहीं। तो भी कुछ ज्यादा दिन हो गये।"

"और एक बार लेना जरूरी है। आपको कौन देख रहे हैं ?"

"मेरे एक मित्र डॉक्टर हैं। श्याम बाजार में रहते हैं। वही बीच-बीच में आ कर देख जाते हैं। अब कई दिन से नहीं आये। शायद मेरे लौट आने की खबर उन्हें न मिली हो।"

"उन्हें एक बार बुलाना चाहिए। उनके घर या चेंबर में फोन है क्या ?"

"है तो।"

"तो मैं ही उन्हें खबर दिये देता हूँ। उनका नाम और नंबर....."

"नहीं, नहीं, अभी कैसे जाओगे। इतनी देर तक तो मेरे रोग का ही हाल सुनते रहे। तुम्हारी तो कोई बात ही नहीं सुनी। पहली बार आकर थोड़ा चाय-वाय ....रघु रे ?"

दिलीप जल्दी से बोल उठा, "जी अभी नहीं। फिर किसी दिन पियूँगा। आज चलूं।"

"लेकिन डॉक्टर के लिए इतनी जल्दी क्यों ? क्या कुछ खराब देख रहे हो ?"

"नहीं, नहीं। खराब क्यों होगा ? वैसे ही एक बार उनका आना जरूरी है।"

"पर ढेर सारी दवाइयाँ भी और नहीं खाना चाहता।"

"ज्यादा दवाइयाँ देंगे, ऐसा नहीं लगता। एक-दो 'पिल' शायद खानी पड़ें। इससे आपके सिर का दर्द चला जायगा।"

"मेरे सिर में दर्द हो रहा है, यह तो मैंने तुम्हें बताया नहीं।" बहुत आश्चर्य से प्रोफेसर बोले। दिलीप उठ खड़ा हुआ। सिर झुकाए मुस्करा कर बोला, "न बताने पर भी मैं समझ गया हूँ।"

रघु आ कर खड़ा था। बनर्जी ने उसे देखकर कहा, "अपनी बीबी जी से कह एक कागज पर डॉक्टर हीरेन का नाम और फोन नंबर लिख दे।"

एक मिनट बाद ही रघु ने एक स्लिप लाकर दिलीप के हाथ में थमा दी। साफ-साफ अंग्रेजी अक्षरों की सुंदर और स्वच्छ दो पंक्तियाँ थीं—डॉक्टर एच० एम० बोस, एम० बी०। उसके नीचे एक टेलीफोन नंबर लिखा था। कागज को हाथ में ले लि[illegible] वट को देखते ही दिलीप का हृदय अंदर से धड़कने लगा। कागज मोड़ कर जेब में रख, जाने के लिए पैर बढ़ाते ही फिर घूम कर खड़ा हो गया। झुक कर बनर्जी के पैर में हाथ रख प्रणाम करने पर उन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया। बोले, "बस, बस, अब कब आओगे, बेटा ?"

"कल सुबह आ कर हालचाल देख जाऊँगा।"

वही नौकर पीछे-पीछे उतर कर दरवाजे के पास खड़ा हो गया। कुछ ज्यादा

वात करना उसका स्वभाव लगता था। वोला, "वावू कैसे हैं ?" दिलीप के कुछ उत्तर देने से पहले ही वोला, "वीवीजी वहुत मुश्किल में पड़ गयी हैं। माँ नहीं हैं, ना ताऊ-ताई हैं। वह भी क्या पास में हैं ? वह भी पश्चिम में कहीं कानपुर या जाने कौन से शहर में रहते हैं। उन्हीं के पास तो एक महीना रह आये। ताई वहुत चाहती हैं। इससे क्या हुआ ? वाप ही एकदम अंतः प्राण हैं। और वावू की भी यह प्राणों से प्यारी नीलमणि है, एक पल के लिए भी अपने से अलग नहीं करते। यही कॉलेज और घर, घर और कॉलेज, वस।"

वंद दरवाजे के पास खड़े हो दिलीप चुपचाप सुन रहा था। सुने विना कोई उपाय भी नहीं था। सामने एक निरीह ढंग का श्रोता पा कर रघु का उत्साह भी शायद वढ़ गया था। मुंह विगाड़ कर वोला, "इधर मामा वहुत वड़े आदमी हैं। यहीं भवानीपुर में खुद का मकान है। लड़की की एक वार खोज-खवर तक नहीं लेते। वावू के साथ""" कह कर दोनों हाथों की तर्जनी आपस में उलटी मिला कर आंख और भ्रू से एक विरोधसूचक संकेत कर के दिखाया।

"जाने दो, आपको और देर हो गयी। वीच-वीच में ऐसे ही खोज-खवर लेते रहिएगा वावूजी।"

रघु की यह धाराप्रवाह कहानी सुनते-सुनते दिलीप का सारा मन भारी हो उठा। प्रोफेसर वनर्जी तव निःश्वास छोड़ कर वोले थे—लड़की एकदम अकेली है। वात उसके अंतर को छू गयी थी। किंतु उनके मर्मस्थल में जो इतना मर्मांतक अर्थ निहित है, यह कैसे जानता। अव तीव्र रूप से अनुभव किया। इस 'अकेले' शब्द का विपण्ण म्लान रिक्त रूप उसकी आँखों के सामने मूर्त हो उठा। दरवाजे के वाहर पैर रख अन-जाने ही उसकी आँखें ऊपर की ओर उठ गयीं। दूसरी मंजिल के वरामदे में रेलिंग के पास वह खड़ी थी। जैसे वेदना की एक प्रतिमूर्ति खड़ी हो। घने साये के स्वल्प-आलोक में जितना दिखाई दिया, सारा मुख परिम्लान विषाद से भरा था। आँखें मिलते ही दिलीप को लगा, दोनों होठों के वीच एक फाॅक-सी वनी है। शायद कुछ कहना था। विना सुने ही वह चला जा रहा है। क्षण भर के लिए दोनों पैर अपने आप ही थम गए। किंतु कोई पुकार आ कर नहीं पहुँची।

जेव में रखे कागज की याद आते ही वह तेजी से चल पड़ा। नुक्कड़ पर उसके एक परिचित की दवाइयों की दुकान है। वहाँ से डॉक्टर वोस को फोन करना है।

कुछ देर पहले ग्यारह वज चुके थे। प्रेस के घर में कहीं कोई आवाज नहीं थी। सव नींद में विभोर थे। नौ वजे उन सवका खाना-वाना समाप्त हो जाता। फिर घंटे भर वातें चलतीं। दस वजते-न-वजते सारे दिन की श्रम-क्लांत आंखें अपने आप मुंद जातीं। सारी वत्तियाँ वुझ जातीं। पूरा मकान अंधकार से ढक जाता। सिर्फ एक ही वत्ती जलती रहती—दिलीप के सवसे ऊपर के छोटे कमरे की। प्रेस में दिन का

जितना समय उसे लगाना पड़ता था, रात में वह प्रायः उतना समय अदा कर लेता।

अन्य दिनों की भाँति आज भी वह अपनी पढ़ाई में लगा था, यद्यपि मन ठीक से एकाग्र नहीं था। सारा मुहल्ला नींद में डूब चुका था। इस बीच कभी-कभी एक-दो गाड़ियों के चलने की आवाज सुनाई पड़ जाती थी। इस समय वह भी नहीं आ रही थी। अचानक कहीं से एक कोमल स्वर लहरा गया—'सुनिए'। दिलीप चौंक उठा—कौन बुला रहा है ? फिर अपने मन में ही हँसा। यह पुकार बाहर से नहीं आई, आई है उसकी उद्विग्न अवचेतना के अंदर से। फिर भी कान खड़े किये रहा और कुछ सेकेंड बाद ही फिर सुनाई दिया वही सानुनय व्याकुल कंठ—'सुन रहे हैं ?' उसे लगा कि उसकी खिड़की के उस पार से आवाज आ रही है। हड़बड़ा कर उठा। तीक्ष्ण दृष्टि से उस छत की ओर देखा। नहीं, भ्रम नहीं है। घने अंधकार में वही मुंडेर पर झुक कर बोल रही थी, "जरा सुनिये ना !"

"मुझे बुला रही हैं ?"

"हाँ, बापी (पिताजी) जाने कैसे कर रहे हैं। बुलाने पर जवाब नहीं देते। जरा आयेंगे ?"

"अभी आता हूँ।"

"मैं जा कर रघू को नीचे भेज देती हूँ, दरवाजा खोल देगा।"

कहते-कहते वह अंधकार में मिल गयी। दिलीप क्षण भर उसी ओर देखते रहने के बाद जल्दी से कमीज तन पर डाल, एक तरह से भागता-भागता नीचे उतरा।

दरबान को बुला कर सदर दरवाजा बंद कर लेने को कहा। वह जब उस घर के दरवाजे पर पहुँचा, तब रघु दरवाजा खोले खड़ा था। दिलीप ने व्यस्तता से पूछा, 'बाबू कैसे हैं रघु ?'

"होश में नहीं हैं। जल्दी आइये। करीब एक साल पहले ऐसा एक बार और हुआ था।"

"एक बार पहले भी हुआ था !" दिलीप बहुत कुछ अपने मन में ही बड़बड़ाया। फिर ऊपर चढ़ते-चढ़ते पूछा, 'डॉक्टर नहीं आये ?"

"यही कुछ देर पहले देख कर चले गये। उसके बाद ही...."

दिलीप तत्क्षण कुछ छलांग में सीढ़ियाँ चढ़ कर रोगी के कमरे में जा पहुँचा। वह पिता के सिरहाने पलंग की पाटी से सटी खड़ी थी। दोनों आँखों की कोर से जलधारा बह रही थी। दिलीप ने एक पलक उस ओर देखने के साथ ही रोगी के हाथ को उठा नाड़ी देखी, आँख के पलक खोल कर देखे। और भी जो-जो देखना था, क्षिप्र गति से देख कर मुख उठाते ही उस ओर से आर्तस्वर फूट पड़ा, "क्या देखा ? बापी नहीं रहे ?"

"नहीं, नहीं, यह कैसी बात""। अचानक बेहोश हो गये हैं। अभी ठीक हो जायँगे। डॉक्टर साहब को खबर देना जरूरी है। उनका फोन नंबर""

"वह तो अभी नहीं मिल सकते।"

"क्यों? कहाँ गये हैं?"

"यहाँ से कहीं और जाना था, कह रहे थे। घर लौटने में देर होगी।"

"तब मैं दूसरा डॉक्टर बुला लाता हूँ।"

व्यस्त भाव से निकलते समय पीछे से सुनाई दिया, 'सुनिए'। दिलीप थमक कर खड़ा हो गया!

"ज्यादा देर नहीं कीजिएगा। मुझे बहुत डर लग रहा है।"

"डर काहे का""मैं अभी आ रहा हूँ!"

रोगी की हालत चिंताजनक है, पूरी तरह डॉक्टर न होने पर भी दिलीप को इतना समझते देर नहीं लगी। अविलंब उपयुक्त चिकित्सा की व्यवस्था न होने पर सर्वनाश हो सकता है, इस बारे में भी वह निश्चित था। घटनाचक्र में इस व्यवस्था का भार इस समय उसी पर आ कर पड़ा था। इस गुरु दायित्व को सिर पर ले वह अपने एक प्रोफेसर के घर की ओर लपका। वह बड़े डॉक्टर हैं, इस तरह की बीमारी के विशेषज्ञ हैं और रहते भी पास हैं। रोगी की अवस्था के बारे में वह क्या-क्या प्रश्न कर सकते हैं और वह उनका क्या उत्तर देगा, मन-ही-मन निश्चित करता हुआ वह निर्जन रास्ते पर तेजी से चला जा रहा था। रोग, उसकी संभावित चिकित्सा और आनुषंगिक मामले में निविष्ट हो गया था वह।

कुछ देर चलते रहने के बाद अचानक वह एक पल को ठिठक कर खड़ा हो गया। यह क्या सोच रहा है वह! रोग और रोगी को ले कर जिस उद्वेग ने इतनी देर उसके सारे मन को घेर रखा था, अब उसकी चिंताधारा उस ओर से हट कर कैसे उस रोगशय्या के पास उच्चारित मधुर, करुण, अश्रुजड़ित कंठ के व्याकुल आवाहन में उलझ गयी। पीछे से कही गई वही दो सामान्य बातें—जल्दी लौट आने का अनुरोध किंतु उनमें जो एकदम निर्भरतापूर्ण अंतरंग स्वर मिला था, उसी के स्पर्श से दिलीप का सारा हृदय बार-बार भर उठ रहा था। फिर चकित हो मन-ही-मन लज्जा अनुभव करने लगा। जिस कर्त्तव्य का भार सिर पर ले कर वह इस गहरी रात में रास्ते पर निकला है, वही उसका एकमात्र ध्यान, ज्ञान और धारणा होनी चाहिए। उन्हें दूर ढकेल कर यह कैसा आत्मसुख का मोहावेश उसे जकड़ बैठा है। वह अपनी ही आंखों में खुद बहुत छोटा दिखने लगा।

दिलीप तब नहीं जानता था, मनुष्य की मन नामक जो विचित्र वस्तु है, उसका धर्म इस प्रकार की विरोधी नीति ही है। निविड़ सुख में बैठ वह सहसा किसी मर्महीन वेदना से म्लान हो उठता है। चरम आत्मत्याग का गौरव क्षण भर में अंध स्वार्थ तन

जितना समय उसे लगाना पड़ता था, रात में वह प्रायः उतना समय अदा कर लेता।

अन्य दिनों की भाँति आज भी वह अपनी पढ़ाई में लगा था, यद्यपि मन ठीक से एकाग्र नहीं था। सारा मुहल्ला नींद में डूब चुका था। इस बीच कभी-कभी एक-दो गाड़ियों के चलने की आवाज सुनाई पड़ जाती थी। इस समय वह भी नहीं आ रही थी। अचानक कहीं से एक कोमल स्वर लहरा गया—'सुनिए'। दिलीप चौंक उठा—कौन बुला रहा है? फिर अपने मन में ही हँसा। यह पुकार बाहर से नहीं आई, आई है उसकी उद्विग्न अवचेतना के अंदर से। फिर भी कान खड़े किये रहा और कुछ सेकेंड बाद ही फिर सुनाई दिया वही सानुनय व्याकुल कंठ—'सुन रहे हैं?' उसे लगा कि उसकी खिड़की के उस पार से आवाज आ रही है। हड़बड़ा कर उठा। तीक्ष्ण दृष्टि से उस छत को ओर देखा। नहीं, भ्रम नहीं है। घने अंधकार में वही मुंडेर पर झुक कर बोल रही थी, "जरा सुनिये ना!"

"मुझे बुला रही है?"

"हाँ, बापी (पिताजी) जाने कैसे कर रहे हैं। बुलाने पर जवाब नहीं देते। जरा आयेंगे?"

"अभी आता हूँ।"

"मैं जा कर रघू को नीचे भेज देती हूँ, दरवाजा खोल देगा।"

कहते-कहते वह अंधकार में मिल गयी। दिलीप क्षण भर उसी ओर देख रहने के बाद जल्दी से कमीज तन पर डाल, एक तरह से भागता-भागता नी उतरा।

दरवान को बुला कर सदर दरवाजा बंद कर लेने को कहा। वह जब उस घ के दरवाजे पर पहुँचा, तब रघु दरवाजा खोले खड़ा था। दिलीप ने व्यस्तता से पूछ 'बाबू कैसे हैं रघु?'

"होश में नहीं हैं। जल्दी आइये। करीब एक साल पहले ऐसा एक बार औ हुआ था।"

"एक बार पहले भी हुआ था!" दिलीप बहुत कुछ अपने मन में ही ब बड़ाया। फिर ऊपर चढ़ते-चढ़ते पूछा, 'डॉक्टर नहीं आये?"

"यही कुछ देर पहले देख कर चले गये। उसके बाद ही...."

दिलीप तत्क्षण कुछ छलांग में सीढ़ियाँ चढ़ कर रोगी के कमरे में जा पहुँचा वह पिता के सिरहाने पलंग की पाटी से सटी खड़ी थी। दोनों आँखों की कोर से जलधार बह रही थी। दिलीप ने एक पलक उस ओर देखने के साथ ही रोगी के हाथ को उठ नाड़ी देखी, आँख के पलक खोल कर देखे। और भी जो-जो देखना था, क्षिप्र गति देख कर मुख उठाते ही उस ओर से आर्तस्वर फूट पड़ा, "क्या देखा? बापी नहं रहे?"

"नहीं, नहीं, यह कैसी बात····। अचानक बेहोश हो गये हैं। अभी ठीक हो जायेंगे। डॉक्टर साहब को खबर देना जरूरी है। उनका फोन नंबर····"

"वह तो अभी नहीं मिल सकते।"

"क्यों ? कहाँ गये हैं ?"

"यहाँ से कहीं ग्रौर जाना था, कह रहे थे। घर लौटने में देर होगी।"

"तब मैं दूसरा डॉक्टर बुला लाता हूँ।"

व्यस्त भाव से निकलते समय पीछे से सुनाई दिया, 'सुनिए'। दिलीप थमक कर खड़ा हो गया !

"ज्यादा देर नहीं कीजिएगा। मुझे बहुत डर लग रहा है।"

"डर काहे का···मैं अभी ग्रा रहा हूँ !"

रोगी की हालत चिंताजनक है, पूरी तरह डॉक्टर न होने पर भी दिलीप को इतना समझते देर नहीं लगी। ग्रविलंब उपयुक्त चिकित्सा की व्यवस्था न होने पर सर्वनाश हो सकता है, इस बारे में भी वह निश्चित था। घटनाचक्र में इस व्यवस्था का भार इस समय उसी पर ग्रा कर पड़ा था। इस गुरु दायित्व को सिर पर ले वह ग्रपने एक प्रोफेसर के घर की ग्रोर लपका। वह बड़े डॉक्टर हैं, इस तरह की बीमारी के विशेषज्ञ हैं ग्रौर रहते भी पास हैं। रोगी की ग्रवस्था के बारे में वह क्या-क्या प्रश्न कर सकते हैं ग्रौर वह उनका क्या उत्तर देगा, मन-ही-मन निश्चित करता हुग्रा वह निर्जन रास्ते पर तेजी से चला जा रहा था। रोग, उसकी संभावित चिकित्सा ग्रौर ग्रानुषंगिक मामले में निविष्ट हो गया था वह।

कुछ देर चलते रहने के बाद ग्रचानक वह एक पल को ठिठक कर खड़ा हो गया। यह क्या सोच रहा है वह ! रोग ग्रौर रोगी को ले कर जिस उद्वेग ने इतनी देर उसके सारे मन को घेर रखा था, ग्रब उसकी चिंताधारा उस ग्रोर से हट कर कैसे उस रोगशय्या के पास उच्चारित मधुर, करुण, ग्रश्रुजड़ित कंठ के व्याकुल ग्रावाहन में उलझ गयी। पीछे से कही गई वही दो सामान्य बातें—जल्दी लौट ग्राने का ग्रनुरोध किंतु उनमें जो एकदम निर्भरतापूर्ण ग्रंतरंग स्वर मिला था, उसी के स्पर्श से दिलीप का सारा हृदय बार-बार भर उठ रहा था। फिर चकित हो मन-ही-मन लज्जा ग्रनुभव करने लगा। जिस कर्त्तव्य का भार सिर पर ले कर वह इस गहरी रात में रास्ते पर निकला है, वही उसका एकमात्र ध्यान, ज्ञान ग्रौर धारणा होनी चाहिए। उन्हें दूर ढकेल कर यह कैसा ग्रात्मसुख का मोहावेश उसे जकड़ बैठा है। वह ग्रपनी ही ग्रांखों में खुद बहुत छोटा दिखने लगा।

दिलीप तब नहीं जानता था, मनुष्य की मन नामक जो विचित्र वस्तु है, उसका धर्म इस प्रकार की विरोधी नीति ही है। निविड़ सुख में बैठ वह रहना किसी ग्रर्थहीन वेदना से म्लान हो उठता है। चरम ग्रात्मत्याग का गौरव क्षण भर में ग्रंध स्वार्थ बन

कर उसका मार्ग रोक खड़ा हो जाता है। दीर्घ रोग-भोग के बाद दरिद्र परिवार को जब प्राणाधिक संतान हमेशा के लिए छोड़ कर चली जाती है, तब उसकी मृत्यु शय्या के पास बैठे माता-पिता के मन में जो चितास्रोत बहता है, उसमें एक ओर पीड़ा और दूसरी ओर शांति होती है। उनके हृदय से जो दीर्घश्वास निकलती है उसके चारों ओर कितनी कैसी एक ज्वाला होती है। और उसके साथ ही मुक्ति का सुख भी जुड़ा रहता है।

• • •

सोलह

पलंग पर लेटे-लेटे दीवार पर टँगे कलेंडर की ओर देख प्रोफेसर बनर्जी ने मन-ही-मन हिसाब लगा कर देखा; आज कितने दिन हुए; वह कब से इस बिछौने पर पड़े हैं। वह रात उन्हें अच्छी तरह याद थी, किंतु तारीख याद नहीं आती। होश आने के दो-तीन दिन बाद जब थोड़ा स्वस्थ हुए, तब बेटी से पूछा था, लेकिन उत्तर नहीं मिला। उलटे डाँट खानी पड़ी थी—"फिर यह सब सोच रहे हैं ?" यह स्नेहभरी फटकार बहुत मीठी लगी थी। बेटी को गुस्सा दिलाने के लिए बोले थे, "असल में तुझे भी याद नहीं है।"

"हूँ, याद क्यों नहीं है ?"

"तब बताती क्यों नहीं ?"

"मुझे मना कर गये हैं।"

"डॉक्टर लोग ऐसे कितनी ही बातें मना करते हैं। सब बातें मानने से चलता है क्या ?"

"डॉक्टर क्यों कहेगा ?"

"तो ? और किसने मना किया है ?"

बेटी ने तुरंत जवाब नहीं दिया। मुख सहसा लाल हो उठा। नीचे देखते हुए, अकारण आँचल की सलवटें सीधी करते-करते सलज्ज मृदु कंठ से बोली, 'दिलीप बाबू।' उस आरक्त नतमुख की ओर देख बनर्जी के मन की म्लान छाया और घनी हो गयी। इस मातृहीना, नितांत सरल, स्नेह-पिपासु बेटी के बारे में मन-ही-मन सोच कर आशंकित हो उठे। वह क्या जाने कि वह कौन से पथ पर चल रही है। उसके बाद ? कहाँ, कब और कैसे परिणाम का सामना करना पड़ेगा, यह तो वह भी नहीं कह सकते। अगर एक दिन अचानक किसी मोड़ पर इसे वह रास्ता छोड़ दूसरा पकड़ना पड़ा, तो क्या यह सह सकेगी ? विद्युत झलकी की भाँति उनके सामने अपना दीर्घजीवन

तैर गया। वह मन-ही-मन सिहर उठे। नहीं, अब मूक दर्शक की भांति बैठे नहीं रहा जा सकता। या तो आगे बढ़ना होगा, या फिर यहीं लगाम खींचनी होगी।

वह बेटी से पूछने जा रहे थे—दिलीप आज आया नहीं क्या? देखा, वह कमरे में नहीं थी। वह जब बहुत अन्यमनस्क हो उठे थे, उसी बीच वह चली गयी थी।

इन कुछ दिनों में ही दिलीप ने उनके मन में काफी स्थान बना लिया था। उसने उनके लिए क्या नहीं किया, और अब भी किये जा रहा है। उतनी ज्यादा रात में इतना बड़े और प्रसिद्ध चिकित्सक, डॉक्टर दासगुप्त को ले कर अगर वह ठीक समय पर नहीं पहुँचा होता, तो शायद उस झटके से वह बच नहीं पाते। वह पूरी तरह अवश्य नहीं बच सके। प्राण बच जाने पर भी दुर्जय व्याधि का प्रचंड आघात उनकी देह के एक भाग को प्रायः अचल कर गया था। उसके बाद से ही अक्लांत संग्राम चल रहा है। वह और करते ही क्या? शांत लेटे रहते। सारा भार वे ही—दिलीप और उसके साथी—उठा रहे थे। जैसे भी हो उन्हें खड़ा कर दें, यही उनका प्रण था। आशुबाबू ने कितने अच्छे लड़के तैयार किये हैं! कहाँ वह बस्ट्राल स्कूल के एक सेकेण्ड मास्टर थे। पद, मान और सामाजिक मर्यादा में अति नगण्य ठहरे। फिर भी मन कितना बड़ा है। और वह एक प्रोफेसर हैं। इस मुहल्ले के उन सबसे पुराने बाशिंदे। इधर-उधर के अनेक संभ्रांत पड़ोसियों के साथ उनका परिचय है। रास्ते-गली सामना होने पर नमस्कार और मामूली कुशल क्षेम के बारे में प्रश्नों का विनिमय हो जाता। छोटी-मोटी बीमारी में मौखिक उद्वेग प्रकट करने में भी त्रुटि नहीं रहती।

पर उनके इस घोर संकट के दिनों में उनमें से कोई भी तो आ कर दरवाजे पर नहीं झांका। जो कुछ कर रहे थे, ये लड़के और उनके मास्टरजी ही कर रहे थे। हालांकि ये सब तरह से उनके आगे छोटे ही थे और वह उन्हें बराबर छोटा समझ कर ही देखते भी रहे। सबसे ताज्जुब की बात तो यह कि इन्हें समाज-विरोधी तत्व—एंटी-सोशल एलिमेंट कहा जाता है! पुलिस इन पर कड़ी नजर रखती है। मुहल्ले के सद् और भद्र गृहस्थ सिर्फ इनकी छाया से ही बच कर चलते हों, इतना ही नहीं, ये लोग कब क्या कर बैठेंगे, इस आशंका से भी सदा त्रस्त रहते हैं।

प्रेस के लड़के आते, बहादुर द्वारा तैयार किये गये कार्यक्रम के अनुसार बारी-बारी से रोगी की सेवा-टहल करते। आशुबाबू दोनों वक्त नियमित रूप से आ कर देख-भाल जाते। रोगी की अवस्था और डॉक्टर के निर्देश के प्रतिकूल न होने पर बैठते और गपशप कर के उनके मन को काफी हल्का करने की चेष्टा करते। इस घर के साथ उन लोगों का योग यहीं तक था। किंतु दिलीप के वहाँ जाने का कोई निश्चित समय नहीं था। जब-तब उसका बुलावा आ पहुँचता। कभी रघु उस घर के एकदम ऊपरी तल्ले पर जा पहुँचता, तब दिलीप व्यस्त हो उठ खड़ा होता—"क्या बात है रघु!"

"बीबीजी बुला रही हैं।"

कर उसका मार्ग रोक खड़ा हो जाता है। दीर्घ रोग-भोग के बाद दरिद्र परिवार को जब प्राणाधिक संतान हमेशा के लिए छोड़ कर चली जाती है, तब उसकी मृत्यु शय्या के पास बैठे माता-पिता के मन में जो चितास्रोत बहता है, उसमें एक ओर पीड़ा और दूसरी ओर शांति होती है। उनके हृदय से जो दीर्घश्वास निकलती है उसके चारों ओर कितनी कैसी एक ज्वाला होती है। और उसके साथ ही मुक्ति का सुख भी जुड़ा रहता है।

●●●

सोलह

पलंग पर लेटे-लेटे दीवार पर टँगे कलेंडर की ओर देख प्रोफेसर बनर्जी ने मन-ही-मन हिसाब लगा कर देखा; आज कितने दिन हुए; वह कब से इस बिछौने पर पड़े हैं। वह रात उन्हें अच्छी तरह याद थी, किंतु तारीख याद नहीं आती। होश आने के दो-तीन दिन बाद जब थोड़ा स्वस्थ हुए, तब बेटी से पूछा था, लेकिन उत्तर नहीं मिला। उलटे डाँट खानी पड़ी थी—"फिर यह सब सोच रहे हैं?" यह स्नेहभरी फटकार बहुत मीठी लगी थी। बेटी को गुस्सा दिलाने के लिए बोले थे, "असल में तुझे भी याद नहीं है।"

"है, याद क्यों नहीं है?"

"तब बताती क्यों नहीं?"

"मुझे मना कर गये हैं।"

"डॉक्टर लोग ऐसे कितनी ही बातें मना करते हैं। सब बातें मानने से चलता है क्या?"

"डॉक्टर क्यों कहेगा?"

"तो? और किसने मना किया है?"

बेटी ने तुरंत जवाब नहीं दिया। मुख सहसा लाल हो उठा। नीचे देखते हुए, अकारण आँचल की सलवटें सीधी करते-करते सलज्ज मृदु कंठ से बोली, 'दिलीप बाबू।' उस आरक्त नतमुख की ओर देख बनर्जी के मन की म्लान छाया और घनी हो गयी। इस मातृहीना, नितांत सरल, स्नेह-पिपासु बेटी के बारे में मन-ही-मन सोच कर आशंकित हो उठे। वह क्या जाने कि वह कौन से पथ पर चल रही है। उसके बाद? कहाँ, कब और कैसे परिणाम का सामना करना पड़ेगा, यह तो वह भी नहीं कह सकते। अगर एक दिन अचानक किसी मोड़ पर इसे वह रास्ता छोड़ दूसरा पकड़ना पड़ा, तो क्या यह सह सकेगी? विद्युत झलकी की भाँति उनके सामने अपना दीर्घजीवन

तैर गया। वह मन-ही-मन सिहर उठे। नहीं, अब मूक दर्शक की भाँति बैठे नहीं रहा जा सकता। या तो आगे बढ़ना होगा, या फिर यहीं लगाम खींचनी होगी।

वह बेटी से पूछने जा रहे थे—दिलीप आज आया नहीं क्या ? देखा, वह कमरे में नहीं थी। वह जब बहुत अन्यमनस्क हो उठे थे, उसी बीच वह चली गयी थी।

इन कुछ दिनों में ही दिलीप ने उनके मन में काफी स्थान बना लिया था। उसने उनके लिए क्या नहीं किया, और अब भी किये जा रहा है। उतनी ज्यादा रात में इतना बड़े और प्रसिद्ध चिकित्सक, डॉक्टर दासगुप्त को ले कर अगर वह ठीक समय पर नहीं पहुँचा होता, तो शायद उस झटके से वह बच नहीं पाते। वह पूरी तरह अवश्य नहीं बच सके। प्राण बच जाने पर भी दुर्जय व्याधि का प्रचंड आघात उनकी देह के एक भाग को प्रायः अचल कर गया था। उसके बाद से ही अक्लांत संग्राम चल रहा है। वह और करते ही क्या ? शांत लेटे रहते। सारा भार वे ही—दिलीप और उसके साथी—उठा रहे थे। जैसे भी हो उन्हें खड़ा कर दें, यही उनका प्रण था। आशुबाबू ने कितने अच्छे लड़के तैयार किये हैं ! कहाँ वह बस्ट्राल स्कूल के एक सेकेण्ड मास्टर थे। पद, मान और सामाजिक मर्यादा में अति नगण्य ठहरे। फिर भी मन कितना बड़ा है। और वह एक प्रोफेसर हैं। इस मुहल्ले के उन सबसे पुराने बाशिंदे। इधर-उधर के अनेक संभ्रांत पड़ोसियों के साथ उनका परिचय है। रास्ते-गली सामना होने पर नमस्कार और मामूली कुशल क्षेम के बारे में प्रश्नों का विनिमय हो जाता। छोटी-मोटी बीमारी में मौखिक उद्वेग प्रकट करने में भी त्रुटि नहीं रहती।

पर उनके इस घोर संकट के दिनों में उनमें से कोई भी तो आ कर दरवाजे पर नहीं झाँका। जो कुछ कर रहे थे, ये लड़के और उनके मास्टरजी ही कर रहे थे। हालाँकि ये सब तरह से उनके आगे छोटे ही थे और वह उन्हें बराबर छोटा समझ कर ही देखते भी रहे। सबसे ताज्जुब की बात तो यह कि इन्हें समाज-विरोधी तत्व—एंटी-सोशल एलिमेंट कहा जाता है ! पुलिस इन पर कड़ी नजर रखती है। मुहल्ले के सद् और भद्र गृहस्थ सिर्फ इनकी छाया से ही बच कर चलते हों, इतना ही नहीं, ये लोग कब क्या कर बैठेंगे, इस आशंका से भी सदा त्रस्त रहते हैं।

प्रेस के लड़के आते, बहादुर द्वारा तैयार किये गये कार्यक्रम के अनुसार बारी-बारी से रोगी की सेवा-टहल करते। आशुबाबू दोनों वक्त नियमित रूप से आ कर देख-भाल जाते। रोगी की अवस्था और डॉक्टर के निर्देश के प्रतिकूल न होने पर बैठते और गपशप कर के उनके मन को काफी हल्का करने की चेष्टा करते। इस घर के साथ उन लोगों का योग यहीं तक था। किंतु दिलीप के वहाँ जाने का कोई निश्चित समय नहीं था। जब-तब उसका बुलावा आ पहुँचता। कभी रघु उस घर के एकदम ऊपरी तल्ले पर जा पहुँचता, तब दिलीप व्यस्त हो उठ खड़ा होता—"क्या बात है रघू !"

"बीबीजी बुला रही हैं।"

इस बुलावे के साथ रोगी की अवस्था का कोई संबंध नहीं, यह रघू के कहने के ढंग से ही स्पष्ट हो जाता। फिर भी दिलीप उद्वेग अनुभव करता, "क्यों ? बाबूजी की तबियत में क्या कुछ...."

"जी नहीं, बाबू वैसे ही हैं। सोये देख के आया हूँ।"

"अच्छा, तुम जाओ। मैं थोड़ी देर में आ रहा हूँ।"

इस 'थोड़ी देर में' की आड़ में अंदर की चंचलता को दबाने में उसे जिस कठोर धैर्य की परीक्षा देनी पड़ती थी, यह वही जानता था। जाने पर देखता, बुला भेजने का कारण निश्चय ही होता, फिर भी उसमें 'तुरंत जरूरी' जैसा कुछ नहीं होता। फिर भी उस तुच्छ कारण को दोनों ओर से जरूरी प्रदर्शित किया जाता—जैसे इसी समय अगर एक जन ने बुद्धिमानी कर के न बुलाया होता और अगर दूसरा तुरंत नहीं मिलता, तो क्या हो जाता, नहीं कहा जा सकता। अंतराल में वही मधुर छलना थी, जो दोनों में से किसी को भी छिपी न रही। दोनों ही मन में ग्रहण करते, पर बाहर पकड़े नहीं जाने देते।

ऐसे ही एक दिन बीबीजी का दौत्य पूरा कर रघु के जाने के बाद पाँच मिनट किसी प्रकार बिता कर दिलीप उस घर में दौड़ा हुआ पहुँचा। वहाँ अचानक कुछ देख मुँह बाए खड़ा रह गया। फिर धीरे-धीरे पास जा कर उत्कंठा भरे कंठ से पूछा, 'क्या हुआ ?' शयन कक्ष के बरामदे में एक चौकी पर गाल पर हाथ रखे जो विमर्ष-मलिन मुख बैठा था, उसने कोई जवाब नहीं दिया। और थोड़ा पास जा कर सस्नेह अनुनय के साथ प्रश्न की पुनरुक्ति करते ही उसने ब्लाऊज के भीतर से एक पत्र निकाल आगे कर दिया। दिलीप ने थोड़ा हिचकिचाने के बाद पत्र ले लिया, "किसका है ?"

"पढ़ कर देखिए," वह रुआँसे और फटे स्वर में बोली।

दिलीप ने कनखी से उन फूली-फूली आँखों को एक बार देख, डरते हुए पत्र खोला।

पत्र कानपुर से आया था, उसकी ताई ने लिखा था। इतनी बड़ी बीमारी की खबर मिलने पर पहले थोड़ी दुश्चिंता और उद्वेग प्रकट किया गया था। बाद की कुछ पंक्तियों में शिकायत और सस्नेह डाँट थी—उन्हें तुरंत क्यों नहीं लिखा गया। फिर सूचना दी गई थी कि उसके ताऊ छुट्टी मिलने की इंतजार में हैं। छुट्टी पाते ही कलकत्ता रवाना होंगे और उन दोनों को ले कर जितना शीघ्र संभव होगा कानपुर लौटेंगे। और अगर रोगी की वर्तमान अवस्था में इतना हिलना-डुलना और इतनी लंबी रेल-यात्रा संभव नहीं होगी, तो उन्हें एक परिचित डॉक्टर के नर्सिंग होम में रख ताऊ सिर्फ उसे ले कर चले आयेंगे। इसके लिए वह तैयार रहे।

पत्र पढ़ उसे तह करते हुए दिलीप उदास दृष्टि से बाहर देखता रहा। सहसा लगा, इतना बड़ा शहर, उसके असंख्य भवन, पेड़, गाड़ियाँ, मनुष्य पल भर में उसकी

आंखों के आगे से लुप्त हो गये हैं। अनागत जीवन में जहां तक दृष्टि गयी, सिर्फ अभेद अंधकार दिखाई दिया, एक चीण प्रकाश-रेखा तक नहीं दिखाई दी। हृदय के अंदर भी कैसी एक वीरानी छा गयी—वेदनाबोधहीन नीरवता।

कितनी देर ऐसे ही अपने में डूबा खड़ा रहा, उसे पता नहीं। सहसा एक वाष्परुद्ध कोमल स्वर कान में जाते ही चौंक उठा—"आने दो ताऊजी को, मैं कहीं नहीं जाऊँगी। बापी को छोड़ मैं कहीं भी जा कर नहीं रह सकूंगी।" कहने के साथ ही वे अटके हुए आंसू झर-झर गिरने लगे।

दिलीप में अब जैसे चेतना लौटी। तीव्र वेदना से हृदय का अंतर तड़प उठा। दुर्दम्य इच्छा हुई, लपक कर नव कुसुमित कमल सदृश अश्रुपूरित मुखड़े को उठा कर कहे, "तुम्हें कहीं जाने की जरूरत नहीं। मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा।"

किन्तु वह होता कौन है? यह बात कहने का उसे क्या अधिकार है? इतना आश्वासन देने लायक उसे सामर्थ्य ही कहां प्राप्त है? उसे कहने लायक कुछ नहीं है। थोड़ी सांत्वना भी दे सके, ऐसी कोई भाषा भी उसे खोजने पर नहीं मिली। इन कुछ दिनों में पिता और पुत्री दोनों से उसे ऐसा काफी व्यवहार मिला था, जो सिर्फ अपने सगों को मिलता है। उसी स्वीकृति के गर्व और आनंद से उसका वंचित हृदय भर उठा था। आज समझा, वह सब चणिक और निस्सार था। कुछ दिन जैसे वह पंख फैला कर किसी स्वप्नाकाश में विचरण कर रहा था। एक पत्र के आकस्मिक आघात ने उसे संसार के वास्तविक धरातल पर ला पटका था।

"आप ही बताइये, मैं पिताजी को इस हालत में छोड़ कर चली जाऊं?"

दिलीप फिर चौंक उठा। दो चुब्ध सप्रश्न आंखें उसका मुंह ताक रही थीं। उत्तर दिये बिना बचने का उपाय नहीं था। सिर्फ एक ही उत्तर था—जो इस मामले में उचित, वास्तविक और शायद सब तरह से अनुकूल था। किन्तु वह उत्तर देने से तो अपना हृतपिंड निकाल कर रख देना सहज था। फिर भी इनके पारिवारिक कल्याण की ओर देख वही बात उसे कहनी होगी। वे दो आंखें अभी तक उसके चेहरे पर टिकी थीं। वे क्या चाहती हैं यह क्या वह नहीं जानता? पर सब जानते-बूझते भी वह कह बैठा, "लेकिन जब आपकी ताई कह रही हैं....."

"ओह, तो आप भी यही चाहते हैं?" बात पूरी कहने का समय भी नहीं दिया गया। दोनों आंखों से आग बरसा कर पत्र को उसके हाथ से लगभग छीन कर आंधी की भांति पिता के कमरे में जा घुसी।

प्रोफेसर बनर्जी आंखें बन्द किये लेटे थे। पदचाप सुन घूम कर देखा और बेटी के चेहरे को देख उद्वेग के स्वर में पूछा, "क्या हुआ, बेटी?"

"कुछ नहीं। ताई की चिट्ठी आई है।"

"वहां सब ठीक तो है ना?"

"हाँ, ताऊ आ रहे हैं, तुम्हें नसिंग होम में रख मुझे ले जाने के लिए।"

"यह क्या? लगता है तूने मेरी बीमारी की बात लिख दी थी उन्हें।"

बेटी ने जवाब नहीं दिया। उन्होंने भी इसकी अपेक्षा नहीं की। स्वयं ही कहने लगे, "लिखे बिना भी तू कैसे निश्चित होती। फिर भी अगर मुझसे पूछ कर लिखती तो मैं यह खबर देने से रोक देता।....जाने दो, जो हो गया उसका तो कोई उपाय नहीं। चिट्ठी देखूं।"

चुपचाप पढ़ कर पत्र बेटी को लौटा कर बहुत देर तक चुप पड़े रहे। फिर धीरे धीरे बोले, "भाभी ने ठीक ही लिखा है। क्या पता कितने दिन इस तरह पड़े रहना होगा। तू बच्ची है, कैसे सह सकेगी? तुझे ही कौन देखेगा? इससे तो तू मँझले भइया के साथ ही चली जा। ताई ने तो तेरा कभी अनादर नहीं किया। उसके पास ठीक से ही रहेगी। बाद में अगर ठीक हो सका...."

बेटी चली जा रही थी। प्रोफेसर के बुलाने पर लौटी, "सुन, रह तो सकेगी?"

"क्यों नहीं रह सकूंगी? जब तुम सभी लोग चाहते हो, मुसीबत टले, तब...." आगे नहीं कह सकी। सहसा स्वर फँस गया।

"आ, पास आ"....दाँया हाथ उठा कर बेटी को पास आने का प्रोफेसर ने इशारा किया। उसने तुरंत दौड़े आकर उनकी छाती पर सिर रख दिया।

मेघ की भाँति घने बाल थे। शायद कई दिन से उनमें तेल नहीं पड़ा, कंघा भी नहीं हुआ, इसलिए रूखे और विवर्ण दिखाई दे रहे थे। बीच-बीच में जटा भी पड़ गयी थीं। उन्हीं पर हाथ फिराते हुए बनर्जी का दिल अंदर से हिल उठा। हमेशा वही इस सबकी देखभाल रखते थे। आज वह पड़े हुए हैं। कौन देखता? याद आया कुछ ही दिन तो हुए ऐसे ही सीने पर लिटा कर उन्होंने बालों में उँगलियाँ चला कर अपनी दुरंत बेटी को सुलाया था। आज भी उसी तरह उलझे बालों को उँगलियों से सुलझाने लगे। उस स्नेह स्पर्श से बेटी की आँख के पानी ने बाधा नहीं मानी। हृदय गल कर निरंतर रूप से झरने लगा।

यह प्रशस्त छाती ही उसका आजन्म आश्रय था। उसे अचानक छोड़ जाना क्या इतना आसान है?

दिलीप भौंचक्का हो कुछ देर तक उसी बरामदे में खड़ा रहा। एक बार सोचा, चला जाय। फिर मन में आया, शायद वह लौटे। तब मौका देख वह अपनी स्थिति समझाने की चेष्टा करेगा। किंतु वह नहीं आयी। अंत में घर जाने के उद्देश्य से चल पड़ने पर अध्यापक के कमरे के आगे से जाते-जाते भीतर नजर पड़ते ही दोनों पैर जैसे हठात् अचल हो गये। उसी क्षण एक और आशंका की छाया उसके मन के कोने में पड़ी। अध्यापक यदि अपनी सर्वनाशी बीमारी के इस दूसरे आक्रमण को न झेल सके तो? अगली बात की कल्पना करते ही सारा शरीर सिहर उठा।

अचानक याद आया, आज ही शाम को तो डॉक्टर दासगुप्त के आने की बात है। अभी समय है। फिर भी उनके चेंबर में जल्दी पहुँचने की जरूरत है। कहीं कोई उन्हें और न खींच ले जाय। सोचते-सोचते वह तेजी से उतर कर चला आया।

संध्या को आशुबाबू रोज की भाँति पहुँचे। उन्हें जल्दी ही नीरोग हो जाने का दिलासा दिया। अपने दीर्घ और विचित्र अनुभव के भंडार से दो-चार सरस कहानियों की हलकी हवा देकर रोगशय्या के आसपास के वातावरण को हलका करने की चेष्टा की। प्रोफेसर ने बेटी को भी बुला कर पास बिठा लिया। इतनी छोटी लड़की के मन पर आज बहुत से मेघ मंडरा रहे हैं। इस भोले सदाशिव वृद्ध की जी खोल कर दंत-हीन हँसी से कुछ तो उसका मन हलका होगा।

बस्ट्राल के घर-घर में नोटिस देकर ब्राह्मण भोजन होने का प्रसंग उठने पर प्रोफेसर बोले, "देखता हूँ आप तो फिर दूसरे कमलाकांत हैं।"

"जी, एक मामले में मैं उस महापुरुष के आसपास तक नहीं पहुँच सका।"

"किस मामले में ?"

"वैसी मोक्ष वाली मृत्यु तो पा नहीं सका", मुँह बहुत उदास बना कर बोले आशुबाबू।

बनर्जी हँस पड़े। फिर बेटी को उद्देश्य कर बोले, "मामला समझी या नहीं ? एक दिन भी इन्हें निमंत्रित करके लौकी की सब्जी और खीर नहीं खिलाई, इसलिए बात सुना रहे हैं।"

"ठीक है, मैं कल ही उसकी व्यवस्था करती हूँ। बात किस दुःख में सुनेंगे ?"

"नहीं बिटिया रानी, वह सब हंगामा अभी छोड़ो। तुम्हारे पिताजी पहले ठीक हो जायें, फिर एक साथ बैठ कर तुम्हारे हाथ की लौकी की सब्जी और खीर खायी जायगी।"

"बापी की बात न कहिए। इन्हें कोई भी चीज पसंद नहीं।"

"मेरे पास बिठा देना, फिर पसंद न करके कहाँ जाते हैं, देखूँगा। संगत दोष नाम की भी तो कोई चीज होती है।"

बेटी के जाने के बाद अध्यापक ने दिलीप की चर्चा शुरू की। आशुबाबू का हँसी का स्वर कहीं गायब हो गया। अपने उस पुत्र से अधिक प्रिय छात्र की प्रशंसा में वह पंचमुखी हो उठे। प्रधानतः बस्ट्राल जीवन और बाद में यहाँ के इस प्रतिष्ठान में उसका जो परिचय मिला था, उसी की कई कहानियाँ एक-एक कर सुना डालीं। उसके पहले का इतिहास वह स्पष्ट रूप से नहीं जानते थे। और जितना जानते थे, उसे भी बताने का अवसर नहीं मिला। दिलीप डॉक्टर लेकर आ पहुँचा।

इससे पिछली बार जब रोगी की परीक्षा की थी, तब डॉक्टर दासगुप्त के एकाग्र तन्मय मुख पर दुश्चिंता की काली छाया देखी गयी थी। भले ही उसे और

किसी ने लक्ष्य न किया हो, पर दिलीप ने देखा था। हालांकि डॉक्टर ने उस समय भी दिलासा की बात कही थी। दिलीप आज भी एकटक हो उनके मुँह की ओर देख रहा था, वहाँ अब मलिन छाया नहीं थी। उसकी जगह बल्कि थोड़ा आश्वस्तिपूर्ण प्रसन्नता का आभास था, जिसे देख वह भी मन-ही-मन आश्वस्त हुआ। जाँच पूरी कर डॉक्टर रोगी के मुख की ओर देखते हुए उत्फुल्ल कंठ से बोले, "अब क्या है? संकट टल गया। अब आप पूरी तरह खतरे से बाहर हैं। कहना होगा, खतरा बहुत कम पर टल गया। फिर भी अब से बहुत सावधान रहना है। किसी तरह का अनियम नहीं चलेगा।"

"लगता है, आप कुछ दिन में ही खींच कर खड़ा कर देंगे?" रोगी के कंठ से भी नवप्राप्त दिलासा का स्वर था।

"हम खींच कर नहीं उठाते," डाक्टर ने मृदु हँसी हँस सिर हिला कर कहा, "रोग महाशय जिस दिन दया करके छोड़ देंगे, उस दिन आप अपने आप ही उठ बैठेंगे। इसके लिए अधीर होने से नहीं चलेगा। उसे जितनी जरूरत है, उतना समय उसे देना ही पड़ेगा।"

कहते-कहते स्टेथस्कोप गले में लटका कर दिलीप की ओर हाथ बढ़ाया। दिलीप तैयार ही था। जल्दी से कलम और पैड बढ़ा दिया। जब वह लिख रहे थे, उसी बीच वह अंदर चला गया। दरवाजे के पीछे से जिसकी साड़ी का पाड़ दिख रहा था, उसके आंचल के छोर से डॉक्टर की फीस बँधी थी। उसे अभी ले आना था। शायद एक-दो प्रश्नों का भी जवाब देना होगा।

जाते ही कई नोट उसके हाथ में थमा कर उसने धीरे-धीरे पूछा, "क्या कहते हैं डॉक्टर साहब? क्या देखा?" प्रश्न अनावश्यक हैं अर्थात् डॉक्टर की प्रत्येक बात उसे पहले ही सुनाई पड़ गई है, यह बात प्रश्नकर्त्री के मुख के प्रफुल्ल भाव ने दिलीप को बता दी। फिर भी वह प्रसन्न स्वर में बोला, "बहुत अच्छे हैं। शायद अब कानपुर नहीं जाना पड़ेगा।"

"जाना ही पड़े, तो आपका क्या आता-जाता है?" क्षुब्ध रोष का स्वर था, लेकिन था बनावटी। मुख पर भारी भाव भी बन गया। दिलीप के मुँह से हठात् निकल गया, "ठीक जानती हो, कुछ नहीं आता-जाता?"

कहते ही चौंक उठा। जिसके लिए बोला, उसकी आँखों में भी चकित भाव था, जैसे वह अपने कान पर ही विश्वास नहीं कर पा रही हो। ठीक उसी समय बाहर के कमरे से डॉक्टर साहब दासगुप्त की रसभरी गंभीर पुकार सुनायी दी—"अरे दिलीप कहाँ गये।"

"आया सर।" कह कर भागा। फिर वेग उठा कर कमरे से बाहर आ रुपये उनके हाथ में थमा दिये और साथ जाकर गाड़ी में बिठा आया।

लौट कर प्रिस्क्रिप्शन ले बाहर जा रहा था, प्रोफेसर बनर्जी ने रोका, "फिर कहाँ चले ?"

"दवाई ले आऊँ।"

"दवाई रघू ले आयगा। तुम बैठो। शाम से तो एक मिनट का विश्राम नहीं लिया।"

आशुबाबू बोले, "वह मुझे दो। मैं ला देता हूँ।"

"आप कष्ट करेंगे ?" प्रोफेसर ने हलका प्रतिवाद किया।

"वह तो थोड़ा करना ही होगा। पर्चा जिस किसी के हाथ में देने से नहीं चलेगा। बाकी सब मुंह भारी करेंगे—मास्टरजी उसे ही ज्यादा चाहते हैं। इसलिए मुझे जाकर लाटरी निकालनी होगी। जिसका नाम निकलेगा, वही दवा लेने जायगा। कम मुसीबत में पड़ा हूँ !"

कह कर दिलीप के हाथ से प्रिस्क्रिप्शन और रुपये ले हँसते-हँसते प्रस्थान किया।

प्रोफेसर पीछे से बोले, "ठीक है महाशय।....बैठो बेटा।"

दिलीप उनके पैताने एक स्टूल पर बैठ कर बोला, "इस स्टेज पर आपको और भी ज्यादा सावधान रहना है। हिलना-डुलना, ज्यादा बातें करना...."

"अपनी यह डॉक्टरी यहीं छोड़ो। दिन-रात बस बीमारी और बीमारी। अब अच्छा नहीं लगता बेटा। अब अपनी एक-दो बात सुनाओ। सुनूं।"

"मेरी बात !" दिलीप विस्मित हुआ।

"हाँ। तुम्हारा गाँव कौन-सा है, घर में कौन-कौन है ? अभी तक कुछ भी तो नहीं सुना।"

दिलीप के मुख पर उदासी छा गयी। बोला, "सुना है गाँव तो कटोआ के पास कहीं था। अब वहाँ कोई नहीं है।"

"तुम्हारे पिताजी मरे तब तुम कितने बड़े थे ?"

"बहुत छोटा था। मुझे कुछ याद नहीं।"

"तुम्हारी माँ तो है ?"

"पता नहीं।"

"नहीं पता ?"

"जी नहीं, अब आप विश्राम कीजिए। ज्यादा बात करना ठीक नहीं रहेगा।"

बात उनके कान में गयी या नहीं, पता नहीं। सुना हो, तो भी अमल नहीं किया। पिछला सूत्र पकड़ कर बोले, "बस्ट्राल जाने से पहले किसके पास थे ?"

"माँ के पास।"

"फिर ?"

"एक दिन गुस्सा करके निकल पड़ा। उसी दिन पुलिस के हाथ पड़ गया।"

"उसके बाद की सब घटना मैंने आशुबाबू से मोटे तौर पर सुनी है। तुम लोग कहाँ रहते थे ?"

"बेलेघाटा की एक बस्ती में।"

"बेलेघाटा की ? जरा और पास तो आओ।"

दिलीप अवाक् हो देखने लगा और स्टूल खींच कर थोड़ा पास जा बैठा। अध्यापक उसके मुँह पर तीक्ष्ण दृष्टि डाल कुछ खोजने लगे। कुछ क्षण बाद बोले, "माँ का नाम बताने में आपत्ति है ?"

"आपत्ति कैसी ! किंतु मुझे पता नहीं है।"

"यह कैसी बात ! माँ का नाम नहीं जानते ?"

"जानने का मौका नहीं मिला। पड़ोस के लोग 'मुन्ना की माँ' कह कर पुकारते थे। मैं भी वही जानता हूँ। नाम जानने की जरूरत कभी नहीं पड़ी।"

बनर्जी ने मन में कुछ सोचा, फिर बोले, "पिता का नाम बता सकते हो ?"

"वह बता सकता हूँ। उसे याद करना पड़ा था। पाठशाला में भरती होते समय माँ ने एक कागज पर लिख दिया था।"

"क्या है ?"

"स्वर्गीय नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य।"

"क्या कह रहे हो !" एक अस्वाभाविक चीत्कार कर, सिर उठा कर उठने की कोशिश की उन्होंने। दिलीप बोल उठा, "नहीं नहीं, आप उठिए नहीं, उठिए नहीं।" कहते-कहते लपक कर उनके दोनों कंधों पर हाथ रख जबरदस्ती लिटा दिया।

रोगी की हालत में सभी तरह से अच्छा सुधार हो रहा था। इस आकस्मिक उत्तेजना का प्रबल आघात सहने लायक स्नायु-शक्ति तब भी नहीं लौटी थी। वह तुरंत ही चेतनाशून्य होकर निर्जीव-से लेट गये। पिता की चीख सुन बेटी भी आकर उनके सिरहाने खड़ी हो गई थी ! किंतु क्या करे, सोच नहीं पा रही थी। दिलीप भी थोड़ा हतबुद्धि हो गया। यह कौन हैं ? उसके पिता के साथ इनका क्या संबंध था जो नाम सुनते ही इतना विचलित हो गये। कुछ सेकेंड में ही सहज कर्त्तव्यज्ञान लौट आया। तुरंत आवश्यक औषधि या इंजेक्शन की व्यवस्था न करने पर अवस्था और जटिल हो जायगी, समझते ही वह तेजी से बाहर चल पड़ा। पीछे से कान में चकित त्रस्त स्वर आया, "कहाँ जा रहे हैं ?"

"अभी आता हूँ। इनके पास से हटिएगा नहीं। यदि होश आ जाय तो थोड़े दूध के साथ वह दवाई पिला देना। कौन-सी ? पता है ?"

"हाँ।" वह सिर हिला कर बोली।

दिलीप और नहीं ठहरा।

कुछ देर वाद विजन ने आँखें खोल कर देखा। वोले, "कौन, आलो ? दिलीप कहाँ है ?"

"अभी आ रहे हैं। अब कैसा लग रहा है, वापी ?"

इधर को पास आकर उसने पिता के सीने पर हाथ रखा। विजन ने उस पर सस्नेह मृदु थपकी देकर कहा, "एक काम कर सकेगी, वेटी ?"

"ओह, ठहरिए, मैं अभी आई," कह, भागती हुई चली गयी और दो मिनट में ही फोडिंग कप हाथ में लिये लौट कर वोली, "यह दूध पी डालिए।"

"फिर दूध क्यों ?"

"जल्दी लीजिए। अभी पिलाने को कह गये हैं। देर होने पर गुस्सा करेंगे।"

कौन क्या कह गया है, न होने पर गुस्सा करेगा—जो सोच कर वेटी के मुख पर जो आशंकाकुल माधुर्य फूट उठा, उसे विजन स्निग्ध दृष्टि से क्षण भर देख धीरे-धीरे वोले, "अच्छा दे।"

औषधि सहित दूध मुँह में डाल पक्की पुरखिन की भांति आलो वोली, "वस, इसके वाद अब एक वात भी नहीं वोल सकते।"

"अच्छा यही होगा। इससे पहले मेरा एक काम कर दे। दाँई तरफ की ड्राअर से मेरी नोटवुक ले आ।"

"अब नोटवुक का क्या करेंगे ?"

"जरूरत है।····देरी मत कर, वेटी, ले आ।"

आलो दूसरे कमरे से नोटवुक ले आई। लेकिन यह काम वह नितांत अनिच्छा से कर रही है, यह वात उसके हाव-भाव और चलने के ढंग से अस्पष्ट नहीं रही। विजन वोले, "कॉपी मेरी आंख के आगे कर।" आलो ने ऐसा ही किया और वह दाएँ हाथ की उँगलियों से एक-एक पन्ना उलटने लगे। कुछ देर वाद प्रसन्न हो उठे, "यही तो है, मिल गया। दो नंवर सरकार वस्ती, मधु मिस्त्री लेन, वेलेघाटा।"

"यह किसका पता है ?"

"वाद में वताऊँगा। इससे पहले तुझे एक काम और करना होगा, वेटी।"

"नहीं, अब और कोई काम-वाम करने की जरूरत नहीं। वत्ती बुझा देती हूँ। चुपचाप लेटे रहो। मैं माथे पर हाथ फिराये देती हूँ।"

"वस, पांच मिनट और।" दायें हाथ की उँगलियां दिखा वनजों अनुनय के स्वर में वोले, "उसके वाद तू जो कहेगी, सुनूंगा।"

"वताइये क्या करना होगा ?"

"मेरा राइटिंग पैड और कलम ले आ।"

"ओ माँ ! अब फिर किसे चिट्ठी लिखेंगे ?"

"मैं क्या अब लिख सकता हूँ, पगली ? मैं बोलता जाऊँगा, तू लिखेगी।"

पैड और पेन ला आलो उनके पलंग के पास स्टूल पर आ बैठी। विजन की ओर से कोई उत्तर नहीं। वह जैसे बहुत दूर किसी विस्मृत दिन के अतल अंधकार में खो गये थे। उनकी शांत, तन्मय, निमीलित आँखों की ओर देखती आलो चुपचाप प्रतीक्षा करती रही। उसके मन में आया, इस मौन प्रशांति में ऐसा कुछ है जिसके आगे चपलता दिखाना अपराध है। और कुछ क्षण बीत जाने के बाद गहरे आवेश सहित, श्लथ कंठ से उच्चारित एक नाम उसे सुनाई दिया—निर्मला""। आलो अचानक डर कर चौंक-सी उठी—बापी क्या फिर बेहोश हो गये ? क्या रोग के घोर में ऊँटपटांग बोलना शुरू कर दिया है ? या शायद सो गये हैं और स्वप्न में देखे किसी व्यक्ति को इस नाम से पुकार रहे हैं। दिलीप भी इतनी देर क्यों लगा रहा है ?

क्षणिक विरति के बाद विजन के कई अन्य बातें बोलने पर आलो समझ सकी, बहक नहीं, जो चिट्ठी उसे लिखने को कहा गया है, यह उसी की श्रुतलिपि है। विजन बोले जा रहे थे—"तुम्हारा अंतिम दिन का वह निषेध मैं भूला नहीं हूँ। फिर भी शायद उसे अमान्य कर तुम्हारे मुन्ना को साथ लेकर तुम्हारे पास पहुँचाने आ सकता था। किंतु मैं आज नितांत अशक्त और असहाय हूँ। इसीलिए उसे अकेले आना पड़ रहा है।

"बहुत दिन हो गये। बीच में इतने वर्ष तुम्हारी कोई खबर नहीं रख सका। फिर भी मुझे दृढ़ विश्वास है, तुम अभी तक वहीं हो। तुम्हारी दीर्घ प्रतीक्षा इतने दिन बाद सफल हुई।"

लिखना समाप्त होने पर बेटी से बोले, 'पैड मेरे सामने कर और कलम दे दे।"

निर्देशानुसार बेटी ने लेटरपैड को मजबूती से पकड़े रखा। विजन ने उसके हाथ से पेन ले किसी प्रकार दस्तखत कर दिये। आलो ने दुर्जय कौतूहल दमन न कर पाने पर पूछा, "यह कौन हैं, बापी ?"

"दिलीप की माँ।"

"उनकी माँ ! तुम उन्हें जानते हो ?"

रह-रह कर आलो अपने मन में यही बातें दुहराने लगी। साथ ही विस्मय और आनंदमिश्रित एक प्रकार की मधुर लज्जा की आभा ने उसके मुख को और भी सुंदर बना दिया।

गली के नुक्कड़ पर दवाइयों की उसी दूकान से दिलीप ने पहले डॉक्टर दासगुप्त को टेलिफोन पर पाने की कोशिश की। किंतु वह घर या चेंबर कहीं पर न मिले। इस डिस्पेंसरी में एक डॉक्टर बैठते थे। वह भी उस समय बाहर थे। अतः प्रतीक्षा करनी पड़ी। उनके लौट कर आते ही रोगी की अवस्था बता कर जल्दी से कुछ दवाई

ग्रौर इंजेक्शन का सामान लेकर जब घर पहुँचा, तब देखा, प्रोफेसर आराम कर रहे थे। कमरे की बत्ती बुझी हुई थी ग्रौर चारों ग्रोर सुनसान था, इसी से बाहर से ऐसी धारणा बनना स्वाभाविक था। किंतु उनके ग्रंतर-लोक की स्थिति कोई देख सकता, तो देखता वहाँ ग्रविराम ग्रालोड़न चल रहा है।

इतने दिन बाद यह कैसा ग्राश्चर्यजनक योगायोग—इसी ने नाना प्रकार से विजन बनर्जी के सारे मन को ग्रांदोलित कर दिया था। बहुत दिन पहले जिसकी निषिद्ध याद याद को मन से जबरदस्ती हटा कर ग्रन्य दस सामान्य लोगों की भाँति संसार के स्वाभाविक पथ पर कदम रखा था, ग्राज इतने विपर्यय के बाद इस ग्रपराह्न वेला में फिर वही उनके जीवन में मूर्त हो उठेगा, किसने सोचा था? खुद नहीं ग्राया, ग्राना चाहा भी नहीं। उन्होंने भी चाहा था क्या? नहीं। फिर भी एकमात्र संतान के रूप में उसका यह ग्रप्रत्याशित ग्राविर्भाव हुग्रा। इससे एक सत्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया—जीवन में कुछ भी समाप्त नहीं होता। यदि जीवन को दर्पण माना जाय, तो वहाँ जितनी भी छायाएँ पड़ती हैं, वे कभी भी एकदम से नहीं मिटतीं। भले ही विलुप्त हो जाती हों, पर वह भी सामयिक रूप से। फिर कब, कैसे, किसका एक ग्रदृश्य हाथ सहसा कहीं से ग्राकर उसी पुरानी छाया को ताजा कर देता है, यह रहस्य कौन खोल सकता है?

किंतु ग्राज के विजन ग्रौर निर्मला तथा पहले के विजन ग्रौर निर्मला एक नहीं हैं। दोनों के ही जीवन में ग्रनेक ग्रांधियां ग्रा चुकी थीं। उन्हीं के प्रचंड झकोरों से वे एक दूसरे से ग्रलग हो गये। वह दूरी कभी मिट जायगी, ऐसा प्रत्याशा उन्होंने कभी नहीं की। वह संभव भी नहीं था। ग्रब उनकी एकमात्र कामना थी—जो ग्रलंघनीय थी, वही शून्य स्थान जोड़ने के लिए एक सुंदर पुल निर्मित हो। यह भार उनकी संतानें—दिलीप ग्रौर ग्रालो—लें।

खुले दरवाजे के सामने एक साथ कई जोड़े जूतों की ग्रावाज से विजन की तंद्रा टूट गयी। पूछा "कौन है?" "हम हैं," कह कर दिलीप ने जवाब दिया ग्रौर कमरे में ग्राकर बत्ती जला दी। डॉक्टर ने रोगी की नाड़ी जाँची, छाती देखी, दिलीप से भी एक-दो प्रश्न किये। फिर कंपाउंडर से इंजेक्शन तैयार करने को कहा। सिरींज देख कर ही विजन ने दिलीप की ग्रोर देख ग्रप्रसन्न मुख से कहा, "फिर यों छेदछाद कर रहे हो? ग्रब तो मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

दिलीप के कुछ कहने से पहले ही डॉक्टर बोल उठा, "ग्राप [illegible] कीजिए।"

फिर कुछ मिनट में ही उन्हें इंजेक्शन दे दिया गया।

डॉक्टर को नीचे पहुँचा कर दिलीप के वापस ग्राते ही [illegible]

ग्रौर पास ग्राने पर बोले, "कलकत्ता ग्रा कर माँ को खोजने [illegible]

"ये सब बातें कल होंगी। आप थोड़ा सोने की कोशिश करें। नींद न आ पर...."

"जो पूछ रहा हूँ, उसका उत्तर दो।" असहिष्णु स्वर में कुछ कठोरता आभास था। दिलीप को पहले तो आश्चर्य हुआ, फिर शाम की बात याद आने धीरे-धीरे बोला, "बहुत की। अभी तक कोशिश छोड़ी नहीं है, हालांकि जानता हूँ, नहीं रही।"

"है।" उन्होंने पूरी दृढ़ता के साथ कहा।

"आप जानते हैं, माँ कहाँ है? आप उन्हें जानते हैं?"

विजन ने इस व्याकुल प्रश्न का सीधा जवाब नहीं दिया। सिर्फ बोले, "मेरे तकिए के नीचे एक चिट्ठी है। निकाल लो।"

दिलीप के क्षिप्र हस्त से किंतु सावधानी से लिफाफा निकाल लेने पर वह बोले, "इस पर जो पता लिखा है, वहाँ बहुत दिन पहले मेरी उनसे मुलाकात हुई थी। मुझे विश्वास है, आज भी वह वहीं रह रही हैं। उन्हें और कहीं जाने का कोई उपाय जो नहीं है। यह चिट्ठी उन्हें देना।"

दिलीप अधीर हो उठा—"मैं अभी जा रहा हूँ।"

"इतनी रात में अकेले-अकेले कहाँ जाओगे। इससे तो कल सवेरे...."

"नहीं, मैं आज ही जाऊँगा। मुझे आज ही जाना होगा।"

कहते-कहते भागता हुआ चला गया। विजन ने और नहीं रोका। समझ गये रोकना बेकार है। संभव-असंभव उचित-अनुचित की विवेचना की इस समय उससे आशा करना बेकार है।

● ● ●

सत्रह

चारों ओर खंडहर ही खंडहर; रोशनी नहीं, रास्ता नहीं, इंसान के रहने का चिह्न तक नहीं था। आकाश में निकला दशमी या एकादशी का चंद्रमा ही एकमात्र संबल था। उसी के प्रकाश में जितना दिख रहा था, उसी के सहारे एक के बाद दूसरी बस्ती को पार कर दिलीप एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचा, जहाँ दाएँ-बाएँ और किसी रास्ते का चिह्न नहीं दिख रहा था। सामने जो गली थी, उसका नाम भी जानने का कोई उपाय नहीं था। नाम का बोर्ड शायद टूट गया था, या फिर उतार लिया गया था। अंततः जिस ओर से आया था, उसी ओर लौटना पड़ा। थोड़ा आगे जा कर झूलती शाखाओं वाला बरगद का पेड़ मिला। उसके नीचे की जमीन साफ थी। इच्छा हुई, वहाँ बैठ कर थोड़ा सुस्ता ले। दोनों पैर और नहीं चलना चाह रहे थे।

कुछ देर बैठते ही प्रत्येक अंग में क्लांति का बोझ उतर आया। वही एकदम सुबह मुंह में थोड़ा भात डाल कर कॉलेज भागा था। शाम को नाश्ते का समय बाहर ही बाहर बीत गया। सारे दिन पेट में कुछ नहीं पड़ा था। अब तक खयाल नहीं आया था, अब पेट में ज्वाला भड़क उठी। भाग-दौड़ करते गला सूख गया था। किंतु यहाँ पानी कहाँ? क्षुधा, तृष्णा, थकान और अवसाद से दोनों आँखें भारी हो आयीं। फिर कब उस बरगद के नीचे धूल शय्या पर लुढ़क गया, होश नहीं।

लोगों की आवाजों से जब नींद टूटी, तब सारे मैदान में सूर्य का प्रकाश जगमगा रहा था। हड़बड़ा कर उठ बैठते ही उनमें से एक व्यक्ति पास आ कर बोला, "आपका निवास कहाँ है, बाबू?" दिलीप समझ गया कि ये गँवई-गाँव के लोग अपरिचित राहगीर के बारे में अत्यधिक कौतूहली हो उठे हैं और भद्रवेश देख कर साधु भाषा में प्रश्न कर रहे हैं। इनके आग्रह का प्रथम केंद्र 'निवास' रहता है। अन्यान्य तथ्य भी क्रमशः पूछते हैं। एक-एक कर उनके कई प्रश्नों का उत्तर दे चुकने के बाद जब उसने अपने गंतव्यस्थल का पता पूछा, तब वे कोई विशेष सहायता नहीं कर सके। पता चला वे यहाँ के रहने वाले नहीं, दूर के किसी गाँव से शहर में नौकरी की खोज में आये हैं। उस अंचल में लगातार कई फसलें न होने से धान-चावल का भारी अकाल पड़ गया। कल-कारखाने में काम न मिलने पर फाके करना पड़ेंगे। अगर ऐसा न होता तो 'देश' छोड़ कर शहर में आने की जरूरत ही क्या थी। उनकी यह इच्छा भी नहीं थी— इत्यादि बातों को विस्तार से बताये जाने की तैयारी होते देख दिलीप उठ खड़ा हुआ। उसने बताया कि उसे तुरंत जाना है। लोग मन-ही-मन क्षुब्ध हुए और आपस में एक-दूसरे का मुंह देखते हुए कंधों पर अपनी पोटलियां डाल और हाथ में हुक्का-चिलमें ले कर पश्चिम की ओर चल पड़े।

बरगद से आगे कुछ दूर चल कर इस बार जिससे सामना हुआ, उनके कपड़े और उन्हें पहनने का ढंग देख दिलीप को यह समझने में कठिनाई नहीं हुई, ये स्थानीय लोग हैं। पूछने पर उन्होंने बताया कि दो नंबर सरकार बस्ती तो वे जानते हैं, लेकिन वह तो कुछ दिन पहले तोड़ डाली गयी है।

"तोड़ डाली गयी!" उन्हीं की बात को किसी-न-किसी प्रकार दुहरा गया दिलीप। पर वह आवाज इतनी धीमी थी कि उसके ही कान तक नहीं गयी। एक व्यक्ति बोला, "अभी सब नहीं तोड़ी गई है। आप किसे चाहते हैं?"

दिलीप ने इस बात का जवाब न दे उसी से अनुरोध किया, "आप मुझे जगह दिखा दे सकते हैं?"

उस व्यक्ति ने वहीं खड़े रह कर, हाथ के इशारे से खपरैल के घर किधर हैं और कैसे किस रास्ते से जाना होगा, समझा दिया। दिलीप एक क्षण भी प्रतीक्षा न कर भाग चला, जैसे थोड़ी देर हो जाने पर वह माँ को नहीं देख सकेगा।

पास आकर सामने की ओर देखते ही उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। यही तो है वह आम का घना पेड़। हाँ यही है। दौड़ कर उसके पास जा खड़ा हुआ। इच्छा हुई, दीर्घकाल के बाद फिर से मिले अपने पुराने साथी के समान पेड़ को दोनों हाथों में जकड़ ले। याद आया, शुरू में अंग्रेजी लिखना सीख कर एक दिन हारू की छुरी से इस पेड़ के तने पर गोद-गोद कर बहुत बड़ा 'डी' लिख रखा था—अपने नाम का प्रथम अक्षर। आज भी है क्या वह? खोज कर देखा, नहीं था। अकृतज्ञ महाकाल के कठोर हाथ ने कितनी ही स्मृतियाँ भरी उस शैशव के साक्षी को मिटा डाला था। पेड़ भी जैसे बहुत बूढ़ा हो गया था। वह नल कहाँ है? यह रहा। उसकी देह पर भी ध्वंस के लक्षण थे। पहले ही विनू लोगों का घर था। वह कहाँ गया? यह तो बस ईंट-लकड़ी का भग्न स्तूप रह गया। दिलीप थमक कर खड़ा हो गया। अचानक दिखाई दिया स्तूप बनी झाड़ियों के पीछे खड़ा वही परिचित खपरैल का घर। टीन का बरामदा जैसे बदला हुआ था। फिर भी घुस गया। नहीं, गलती नहीं की। यही तो वह आंगन है। लेकिन सामान को इस तरह नष्ट करके किसने रखा है?

कमरे के अंदर से कोई बोल उठा—"कौन?" यह स्वर उसकी समस्त चेतना के साथ एक होकर मिल गया जैसे! दिलीप चीख कर बोलने गया "मैं।" किंतु स्वर नहीं फूटा। जवाब न पाकर निर्मला निकल आई। नीचे उतर कर ठिठक गयी। माथा कुंचित कर फिर एक बार वही प्रश्न किया—"कौन?"

दिलीप का दिल अंदर से हाहाकार कर उठा। उसकी वह सोने की प्रतिमा जैसी माँ को यह क्या हुआ। दौड़े जा कर धरती पर घुटने टेक दोनों हाथों से पूरे जोर से माँ की कमर जकड़ ली। अस्फुट स्वर में बोला, "माँ।"

"मुन्ना!" कह कर निर्मला ने उसका सिर सीने पर दबा लिया।

बहुत देर तक किसी के मुंह से कोई बात नहीं निकली।

कितनी बातें थीं। एक नहीं, दो नहीं। दोनों के दिलों में बातों का पहाड़ जम गया था। कहना है, सुनना है। किंतु यह क्या हुआ! जैसे किसी को कहने को कुछ नहीं रहा। एक सोच रहा था, माँ मिल गयी, यहीं सब पूरा हो गया। दूसरा सोच रहा था, मुन्ना लौट आया है, फिर क्या बाकी रह सकता है!

जयनगर के लड्डू का यह समय नहीं था। इस चीज में जो एक विशेष तार जरूरी है, उसे लाने के लिए प्रथम शीत के नये खजूर का गुड़ चाहिए। इसलिए शीत के अलावा अन्य ऋतुओं में उसका चलन नहीं रहता। पर गोकुलदास के कुछ बहुत दिन पुराने वृद्ध ग्राहक बड़ बाजार में हैं, उन्हें सब ऋतुओं में 'जयनगर' चाहिए। गन्ने के गुड़ का ही क्यों न हो। और दूसरे सब सामानों का तो अकाल पड़ता नहीं। इलायचीदानों की भरभराती गंध के साथ कपूर की थोड़ी हलकी सुवास अलग से। चीनी की चाशनी ऐसी हो कि चने के दाने मुंह में डालते ही झट से घुल जायें। उसके आगे

फिर भीमनाग का संदेह भला कहाँ ठहरे ? फिर भी हाँ, सबसे ज्यादा तो कारीगर के हाथ का कमाल है। गोकुल के लड्डुओं में भी तो वही जादू है। इसीलिए वहाँ उनकी नियमित बिक्री सारे वर्ष चलती थी।

पिछले दिन शाम को अपने हाथ से बनायी वही ताजा चीज, बचपन में जिस कांसे के कटोरे में मुन्ना भात खाता था, उसी में सजा कर निर्मला ने बेटे के सामने रखी। दिलीप उसमें से एक 'जयनगर' उठा कर माँ को देख हँसते-हँसते बोला, "माँ, तुम्हें याद है...."

बाकी बात सुने बिना ही माँ भी हँसते-हँसते बोली, "अब वैसा नहीं रहा। एकदम सवेरे से ही आँचल पकड़े पीछे-पीछे घूमता था।"

"और तुम कितना डाँटती थीं !"

इस बार माँ हँस नहीं सकी। गला भर आया। निःश्वास छोड़ बोली, "तब क्या जानती थी वही चीज एक दिन अपने हाथ से कड़ाही भर-भर कर तैयार करनी होगी और हर घड़ी जल-जल कर मरना होगा ?"

दिलीप कहने जा रहा था, गोकुल बुड्ढे का लड्डू हाथ में ले कर उसका मन धू-धू कर उठता था। बोला नहीं। माँ यह सुन कर और भी दुखी होगी। इसलिए चुपचाप खाने लगा। निर्मला परम तृप्ति के साथ उस ओर देखते हुए बोली, "घर पहचानने में तुझे तकलीफ तो नहीं हुई ? यहाँ तो बहुत तोड़-ताड़ चल रही है।"

"ओह ! वह चिट्ठी तो तुम्हें दी ही नहीं। यह लो।"

"किसकी चिट्ठी है ?" निर्मला हाथ बढ़ाते-बढ़ाते बोली।

"प्रोफेसर बनर्जी की।"

"प्रोफेसर बनर्जी कौन ?"

"नहीं पहचान सकीं ? उन्होंने ही तो तुम्हारा पता दिया। मुझे क्या याद रह गया था भला ? कितने साल से...."

माँ की ओर दृष्टि जाते ही ठिठक गया। निर्मला का सारा अस्तित्व जैसे उस छोटी चिट्ठी में विलीन हो गया था। कुछ क्षण बाद मुँह उठा कर बोली, "उन्हें क्या हुआ है ?"

"बहुत कठिन बीमारी है—स्ट्रोक।"

"क्या कह रहा है ?"

"एक तरफ का जिस्म एकदम अचल हो गया है।"

निर्मला के गले से एक डरी-सी क्षीण आवाज निकल पड़ी। वह बोली, "तुझे वह कहाँ मिले ?"

"मैं जहाँ रहता हूँ, उसके ठीक सामने ही उनका घर है।"

"मुझे एक बार वहाँ ले जा सकता है ?"

"क्यों नहीं ले जा सकता ? अभी चलो ना ?"

"अभी ! किंतु गोकुल काका आ कर लौट जायेंगे। लड्डू इसी समय ले जाने की बात है।"

"गोकुल काका ! यानी वही लड्डूवाला बुड्ढा।"

"तू उसे जानता है ?"

"वाह, जानूंगा नहीं ? वह तुम्हारा काका है क्या ?"

"संबंध में काका नहीं, फिर भी उससे कहीं ज्यादा है। भगवान ने उसे जुटा दिया था, तभी तो तुझे वापस पा सकी। वह न होता तो शायद····यह लो नाम लेते ही आ गये। तुम बहुत दिन जिंदा रहोगे, गोकुल काका।"

गोकुल के कान में शायद यह बात नहीं गयी। दिलीप की ओर कुछ देर भौंचक्का हो देखते रहने के बाद बोला, "क्या कमाल है ! तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

दिलीप उत्तर न दे कर हँसने लगा। निर्मला भी मृदु मुस्करा कर बोली, "मेरा मुन्ना है।"

"आँ····" गोकुल के दिमाग में जैसे सब डाँवाडोल हो गया। कुछ देर टुकुर-टुकुर निर्मला के चेहरे को देखते रह कर बोला, "यह तुम्हारा मुन्ना है ! जो खो गया था ? और जिसका रास्ता देखते-देखते····अब समझा, क्यों तुम किसी भी हालत में घर छोड़ने को राजी नहीं हुई।"

निर्मला अभिभूत-सी बैठी रही। गोकुल बोला, "होगा नहीं ! तुम्हारा तन पुण्य का जो है माँ। ठीक जानती थीं एक-न-एक दिन तुम्हारा मुन्ना यहीं लौट आयगा। और, क्या कांड देखो तो ! दो दिन देरी होते ही बाबू आ कर तुम्हें नहीं पाते।"

"बस यही बात लेकर मैं बहुत चिंता में थी," तन्मय भाव से निर्मला बोली, "मैं फिर कहीं चली जाती।"

"जाना होता, तभी न जातीं ? यह ऊपर बैठा एक जन कल-पुर्जे चलाता है ना ? वह सब जानता है। ठीक समय समझ कर बटन दबा देता है।"

गोकुल की दार्शनिक चर्चा कितनी देर तक चलती रहती, नहीं कहा जा सकत दिलीप ने प्रसंग बदला। बीच में बोला, "तब तुम कब चल रही हो, बताओ।"

"गोकुल काका जब आ ही गये हैं, तब अभी जा सकती हूँ। लेकिन तू इत वर्षों बाद आया है····" बाकी बात अधूरी रही।

"तुम लोग कहाँ जाने का इरादा कर रहे हो ?" गोकुल ने पूछा।

"तुम उन्हें जानते हो। हमारे ठीक सामने जो प्रोफेसरबाबू रहते हैं ना ?"

"जो बीमार हैं ?"

"हाँ, उन्हें देखने।"

"वह लगता है, तुम लोगों के कोई हैं ?"

दिलीप ने माँ के मुख की ओर देखा। निर्मला ने जवाब दिया, "... में हैं।"

"आदमी बहुत अच्छे हैं। अब अच्छी तरह से ठीक हो जायें, ... बड़ा संकट है! लड़की को कितनी मुश्किल है! आहा, माँ नहीं है, ... पड़ा है। जैसी देखने में है, वैसा स्वभाव है। तुम्हारे 'जयनगर' का ... माँ।"

कहते-कहते वृद्ध का शीर्ण मुख अचानक उज्ज्वल हो उठा। दिलीप के ... लेकर सिर तक सस्नेह दृष्टि फिरा कर एक गाल से हँस कर बोला, "तुम्हारे मुन्ना के साथ खूब पटती है।"

दिलीप चौंक उठा। गोकुल की ओर देख पहले तो चेहरा थोड़ा फक्क हुआ, फिर तुरंत ही लज्जा से लाल हो उठा। यह भावांतर कहीं माँ की नजर में न आ जाय, या भोला-भाला वृद्ध फिर कुछ न कह बैठे, इसी डर से मामले को तुरंत दबा देने के लिए यथारीति स्वर मे डाँट कर बोला, "अच्छा, अब तुम बस भी करो। बहुत हो चुका।"

गोकुल ने उसी ताल में जवाब दिया, "क्यों? गलत क्या कहा? ठीक तो है, माँ जब जा ही रही है अपनी आँख से देख लेंगी। तुमने भी तो बाबू उनके लिए कम नहीं किया। सभी कह रहे हैं, तुम न होते तो बाबू बचे न होते। जानती हो माँ, तुम्हारा बेटा इसी बीच बहुत अच्छा डॉक्टर हो गया है।"

"डॉक्टर! तू डॉक्टर हो गया है, बेटा?" विस्मय और आनंद के स्वर में निर्मला बोली।

"तुम नाराज हो गयीं! बुड्ढे बाबा मेरा मजाक कर रहे हैं।"

"मजाक कैसा!" गोकुलदास ने जोर-शोर से प्रतिवाद किया, "तुम डॉक्टरी नहीं पढ़ते? फिर वह मुर्दे की हड्डियाँ लेकर क्या करते हो?"

"खेलता हूँ", कह कर दिलीप हो हो कर के हँस पड़ा। फिर माँ के मुख पर नजर पड़ते ही हठात् रुक गया। निर्मला की आँखें कब सजल हो उठीं, उनमें से कोई नहीं देख सका। पास आ कर बेटे के शरीर और सिर पर हाथ फिराते हुए भरे गले से बोली, "तू डॉक्टर बनेगा, उनके मन में भी यही था। कितनी बार बोले थे, मुन्ना जब बड़ा होगा तो उसे डॉक्टरी पढ़ाऊँगा। पास करके गाँव में जाकर रहेगा। वहाँ एक भी अच्छा डॉक्टर नहीं है। कितने लोग बिना इलाज के मर जाते हैं। मुन्ना उन्हें जीवन देगा।"

कहते-कहते निर्मला जैसे बहुत पीछे छोड़ आये दिनों में ...
बाद फिर सुनाई दिया वही भरा-भरा मृदु स्वर—"गाँव के अल...
ही नहीं थी। वह एक दिन के लिए भी उस जीवन को नहीं ...

ला कर मैंने ही तो इतना बड़ा सर्वनाश किया। आज अगर होते....."

दोनों आँखों से जलधार बाधा तोड़ कर वह निकली। चारों ओर का सारा वातावरण ही बदल गया। सारी बात भूल, सिर्फ उस अश्रुसिक्त मुख की ओर देखते हुए दो विषमवयसी दर्शक स्तब्ध हो बैठे रहे।

शुरू में चुप रह कर भी अंत में दिलीप को बोलना पड़ा, "पिछली रात वह बिना बताये अचानक चला आया और अभी न लौटने पर मास्टरजी शायद पुलिस में खबर दे बैठेंगे। सुनकर निर्मला चौंक पड़ी, "क्या कह रहा है! सारी रात कहाँ था?"

दिलीप ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। होठों-ही-होठों में मुस्कराने लगा। गोकुलदास समझ गया. इस हालत में बेटे को खिलाये बिना छोड़ देना निर्मला के लिए असंभव है। इसलिए मुश्किल आसान करने का भार उसने अपने हाथ में ले लिया। बोला, "अच्छा, इसके लिए तुम्हें चिंता करने की जरूरत नहीं। मैं तो उधर ही जा रहा हूँ। बुड्ढे मास्टरबाबू को खबर दे दूँगा। तुम खा-पीकर थोड़ा नींद ले लो।"

निर्मला बोली, "तुम्हारे भंडार का क्या हाल है? बाजार-बाजार कुछ नहीं करना होगा ना?"

"और तो सब कुछ है। बस अगर थोड़ी मछली....."

"मछली-बछली नहीं चाहिए", दिलीप बीच में ही बोल उठा।

"फिर खायगा कैसे?"

"क्यों, और जो बनायँगी? मछली तो बहुत दिन से छोड़ दी।"

"ओ माँ, यह क्या! मछली क्यों छोड़ दी?"

"जहाँ था, तुम्हारे जैसी कोई पका पाता तभी ना?"

निर्मला के चेहरे पर उदासी छा गयी। 'जहाँ था' शब्दों में जो दीर्घ इतिहास छिपा हुआ था, उसका कुछ भी अंश वह नहीं जानती थी। फिर भी आवरण हटाने में कैसा डर-सा लग रहा था। क्या पता, शायद उसका सारा भाग ही दुःख-वेदना से भरा हो।

● ● ●

अठारह

माथे पर एक अपरिचित हाथ का मृदु स्पर्श लगते ही तंद्रा टूट गयी। बिजन आँख खोल पहले तो पहचान नहीं सके। अगले ही क्षण रोग-म्लान मुख पर प्रसन्नता की चमक फैल गयी। बोले, "कब आयीं?"

"अभी आयी।", निर्मला ने शांत मृदु स्वर में जवाब दिया।

"दिलीप कहाँ है?"

"नीचे कहीं गया है।"

"तो तुम उसी घर में थीं। उसे खोजने में असुविधा तो नहीं हुई?"

"थोड़ा चक्कर काटना पड़ा था।"

कुछ क्षण चुपचाप कट जाने के बाद फिर विजन का कंठ सुनाई दिया, "मैं जानता था, तुम आओगी।"

निर्मला कहने जा रही थी, 'आपने तो मुझे आने को कहा नहीं।' रुक गयी। जो दिन कब के किसी विस्मृति के अंधकार के तल में चले गये, इस मामूली मान का स्पर्श देकर उनकी नींद तोड़ने से क्या लाभ? इसलिए दूसरी बात शुरू की। बोली, "मैं हमेशा के लिए आपकी ऋणी बन गयी।"

"ऋणी! मेरी! क्या कह रही हो तुम?"

"आपने मेरे बेटे को मिला दिया।"

"अब तुम हँसी कर रही हो, निर्मला। इसमें मेरा अंश कहाँ है? मैंने क्या किया?"

"आपके हाथों ही तो मैंने उसे वापस पाया।"

"सब आकस्मिक है। लेकिन कैसा अद्भुत योगायोग है! है ना?"...कह कर विजन थोड़ा हँसे। वह हँसी वांङ्मय थी। विगत की अनेक बातें उसमें झलक उठीं। वह फिर बोले, "तुम अगर खुद नहीं आतीं तो मैं तुम्हें बुला भेजता...तुमसे मुझे एक भीख जो माँगनी है, निर्मल।"

भीख! निर्मला संकुचित हो उठी। वह जानती थी, अस्वस्थ व्यक्ति के संयम के तार विशृंखलित हो जाते हैं। उसी से मन की तली की कोई निगूढ़ बात इतने समय बाद इस प्रौढ़ के मुँह से निकल पड़े, क्या पता? यह सोच कर भी मन बाधा देने को तैयार नहीं हुआ। रुद्ध निःश्वास से अपेक्षा करने लगी। किंतु नहीं, निर्मला ने मिथ्या आशंका की थी। विजन उस ओर नहीं गये। अस्वस्थ होने पर भी विगत की रंगीन स्मृति जहाँ रखी थी, उस कक्ष की अर्गला आज भी अटूट रही। यह आवेदन पीछे को देख कर नहीं, भविष्य के लिए था। आँख की कोर को अन्दर की ओर करके बेटी को पुकारा, "आलो..."

शायद वह कहीं पास में ही प्रतीक्षा कर रही थी, धीरे-धीरे आ कर पलंग के पास खड़ी हो गई।

"यह दिलीप की माँ हैं। तुम्हारी भी माँ के समान हैं। जानती हो, तुम्हारी ताई की छोटी बहन हैं। प्रणाम करो।"

आलो ने चकित हो निर्मला के मुख की ओर देखा और पास आ कर जमीन पर बैठ पैरों की धूलि ली। निर्मला ने उसे दोनों हाथों से पकड़ कर [illegible] छाती में दबा लिया। फिर ठोड़ी में हाथ दे बोली, "वाह, तुम तो बड़

सचमुच आलो है।"

विजन को एकाएक याद आया, नाम उसकी माँ का रखा हुआ है। शायद अभेद अंधकार में इस आलो की रश्मि का आश्रय लेकर ही उसने जीना चाहा होगा। जी नहीं सकी। एक उद्‌गत निःश्वास को हृदय में दवा कर वोले, "मैं इसे तुम्हारे हाथों में सौंपना चाहता हूँ, निर्मला। इसकी माँ नहीं है। तुम इसके इस अभाव को पूरा कर दो।"

निर्मला के हृदय का रक्त अचानक हिल उठा। विस्मृति का मर्मस्थल भेद वहुत दिन पुरानी वातें जैसे सिर उठा कर निकल पड़ीं। उन्हें जवरदस्ती ठेल सहज स्वर में वोली, "ठीक तो है, इसके लिए आपको चिंता करने की जरूरत नहीं। आप ठीक हो जाइये, मेरा वेटा किसी लायक वन जाय। उसके वाद...."

वात अधूरी छोड़ आलो के आनत मुख पर स्नेहपूर्ण दृष्टि डाली। इंगित समझ कर आलो ने तत्क्षण अपना लज्जारुण मुख निर्मला की छाती में छिपा लिया। विजन ने तृप्ति का निःश्वास ले कहा, "मेरे हृदय का सवसे वड़ा वोझ तुमने उतार लिया निर्मला! मैंने इसे अपने हाथों से इतना वड़ा किया है। आशा है, तुम्हारे स्नेह की मर्यादा वनाये रख सकेगी। और...." कह कर तिरछी आँख से वेटी की ओर एक पलक देख प्रसन्न मुख से वोले, "जहाँ तक जानता हूँ तुम्हारा लड़का भी इसे पसन्द करता है।"

लज्जा से भर कर आलो ने अपना मुंह निर्मला के सीने में और भी जोर से दवा लिया। निर्मला उसे जकड़ कर प्रतिवाद के स्वर में वोली, "अरे वह ? लड़की के वारे में तो उसको कोई पसन्द-नापसन्द नहीं है।"

"मैं तो लड़के की ओर ही देखूंगा। लड़की का भार तुम पर। जो मर्जी हो पूछ सकती हो ?"

"पूछना क्यों पड़ेगा ? मेरी आँख नहीं है क्या ?"

इसके वाद आलो को वहाँ और रुके रहना संभव नहीं रहा। निर्मला के हाथ से छूट कर भाग खड़ी हुई।

वाहर के वरामदे में भारी गले की आवाज के साथ लाठी ठोकने की आवाज कान में जाते ही निर्मला ने जल्दी से भीतर के दरवाजे के अंदर चली गयी। दो वृद्ध व्यक्ति वातें करते हुए घुसे। कमरे के वीच आते ही एक ने जोर से आवाज लगायी "कैसी तवीयत है, प्रोफेसर वनर्जी ?"

"आइये, वैसा ही हूँ।" कह कर विजन ने दाएँ हाथ से माथा ठोका। उन लोगों ने दो कुर्सियों पर आसन जमाया। जिसने अभी हाल पूछा था, वह अव मुंह विगाड़ कर वोले, "हूँह-ह सेकेंड अटैक है, ना! जिसे कहते हैं द्विरागमन। सहज में छुटकारा पाना कठिन है। प्राण रह जाने पर भी एक अंग लिये विना नहीं छोड़ता। अच्छा, आय

हिस्सा अब हिला-डुला सकते हैं ?"
विजन ने सिर हिला कर बताया 'नहीं' । तभी दूसरे व्यक्ति ने वक्ता की ओर
देख भृकुटि तानी । शायद ध्यान दिलाया, रोगी के सामने ऐसे अप्रिय सत्य को प्रकट न
करना ही उचित है । संकेत एकदम व्यर्थ गया । वह पहले की भांति उच्च स्वर में
बोला, "मुझे तो नहीं लगता, 'यू विल गेट बैक योर नार्मल मूवमेंट्स' । यही देखिए ना,
मेरे साढ़ू की भी ठीक यही हालत है । छह मास हो गये । नो इंप्रूवमेंट ।"
"वह हो सकता है", दिलासा के स्वर में द्वितीय सज्जन बोले, "फिर इनका
मामला दूसरा है । डॉक्टर दासगुप्त ने जब कहा है ..."
"अरे छोड़िए अपने डॉक्टर दासगुप्ता को । वह क्या जानें । बहुत सी रटी-
रटाई बातें दुहरा जाते हैं । मैं तो समझता हूं, प्रोफेसर, आप किसी अच्छे वैद्य को
दिखा लें ।"
इस बार द्वितीय सज्जन ने जोर दे कर प्रतिवाद किया, "वैद्य क्या करेगा ? ये
सब नये रोग हैं । आयुर्वेद में इनका उल्लेख तक नहीं है ।"
"है, है । इसी का नाम संन्यास रोग है । डॉक्टरों ने नाम दिया है थ्राम्बोसिस ।"
"नहीं महाशय, संन्यास अलग चीज है ।"
तर्क जोर पकड़ गया । दोनों ही संभ्रांत और अनुभवी पड़ोसी थे । किंतु स्थान,
काल, पात्र—किसी भी ज्ञान का परिचय नहीं मिला । विजन असहाय नीरव श्रोता बने
रहे । मन-ही-मन प्रबल रूप से अनुभव किया, इन्हें इसी क्षण घर से बाहर निकाल देना
उचित है । किंतु सभ्य और शिक्षित व्यक्ति के सौजन्य बोध ने उनका मुंह बन्द रखा ।
भद्र समाज में रह कर ऐसी भद्रता का दंड दुःसह होने पर भी माने बिना उपाय नहीं ।
अंदर की ओर बरामदे में एक चौकी पड़ी थी । निर्मला के जा कर खड़े होते
ही आलो ने चौकी को अपने आँचल से पोंछ कर कहा, "बैठिये ।"
"यह शायद तुम्हारा कमरा है ?" पास के कमरे की ओर इशारा कर निर्मला
ने पूछा ।
"जी !"
अंदर जाने पर निर्मला को बहुत प्रसन्नता हुई । सब कुछ सजाया-संवारा हुआ
था । उसके बगल वाला कमरा खाली होने पर भी साफ-स्वच्छ था । उसके पार जा
कर एक अन्य छोटा बरामदा था । निर्मला ने सब तरफ घूम कर देखा । इधर के बरा-
मदे में लौट कर आते ही आलो भंडारघर में भागी गई और लकड़ी का बक्सा खोल
एक नया पशमीने का आसन ला कर बिछा दिया । फिर ताक से सफेद पत्थर की डिश
और गिलास उतार कर लाते ही निर्मला हँसते हुए बोली, "यह सब किसके लिए तैयारी
हो रही है, सुनूं ?"
"तैयारी कुछ नहीं ।"

"यह सब छोड़ मेरे पास आकर बैठो जरा। इस समय मैं कुछ नहीं खाती।"

"बस यह डाव (नारियल) का पानी पी लीजिए।"

बैठ कर छुरी से डाव का मुंह काटते हुए आलो बोली, "और उसके साथ...."

"ओह, शैतान लड़की। उसके साथ भी कुछ है?"

"बस एक संदेश (बंगाली मिठाई का नाम)।" कह कर दायें हाथ की तर्जनी से एक का संकेत किया।

निर्मला को बहुत अच्छा लगा। इतनी छोटी लड़की की इतनी शुचिता, निष्ठा और श्रद्धापूर्ण आचार-ज्ञान का परिचय पा मन-ही-मन विस्मित हुई। यह सब इसे किसने सिखाया। फिर मन में आया, जिसे होता है, उसे अपने आप हो जाता है। हाथ पकड़ कर सिखाना नहीं पड़ता। उसके अनुरोध में भी एक ओर जैसा मीठा बचपना था और दूसरी ओर वैसा ही अपने सगेपन की हार्दिकता थी, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

निर्मला जाकर पशमीने के आसन पर बैठ गई। आलो को बगल में बिठा एक मिठाई उसके हाथ में देकर बोली, "माँ को खोये कितने वर्ष हुए?"

"बहुत साल हो गये। मैं तब बहुत छोटी थी, कुछ विशेष याद नहीं।"

"उसके बाद शायद मामा के घर गयी थी?"

"बहुत कम दिन के लिए। थोड़ा बड़ी होते ही पिताजी जाकर ले आये। तब से उन्हें छोड़ कर कहीं नहीं गई। बीच-बीच में कानपुर ताई के पास गई। वह भी बापी के साथ ही।"

पड़ोसी तब जा चुके थे। निर्मला ने जाने से पहले विदा लेने जाकर देखा, विजन आँखें मूंदे निस्पंद पड़े थे। गले की आवाज करते ही उन्होंने आँखें खोल कर देखा। निर्मला पास खड़े होकर बोली, "शाम हो गयी है, आज जा रही हूँ।"

"अब कब आओगी?"

"देखूं, कब आना हो सके।"

"सुना है, कुछ ही दिनों के अंदर तुम्हें घर बदलना पड़ेगा। सी० आई० टी०/ (सिटी इंप्रूवमेंट ट्रस्ट) ने नोटिस दिया है।"

"आपको यह खबर किसने दी?"

"मेरे बहुत से जासूस हैं, तुम्हें नहीं पता?"

"समझी। यह जरूर गोकुल काका का काम है।"

"आदमी बहुत अच्छा है। इधर जब भी आता है, मुझसे मिले बिना नहीं जाता....घर क्या ठीक हो गया है?"

"उसी ने एक मामूली तौर पर ठीक कर रखा है। मैंने अभी तक नहीं

देखा।"

विजन ने एक वार निर्मला के मुँह की ओर देखा, क्षण भर हिचकिचाने के वाद वोले, "एक और अनुरोध था, कुछ वुरा तो नहीं मानोगी ?"

निर्मला ने खिड़की से वाहर की ओर देखा, धीरे-धीरे दृष्टि उदास हो उठी। कुछ क्षण वाद उसी ओर देखते रह कर वोली, "मैं जानती हूँ, आप क्या कहेंगे। किंतु यह नहीं होगा, विजन दा।"

"क्यों नहीं होगा, निर्मल ?" विजन गहरे स्वर में वोले, "मेरी आलो को जव तुमने हृदय में स्थान दिया है, तव यह घर-मकान सभी तो तुम्हारा है; तुम्हारे वेटा-वेटी का है। मैं तो एक अचल पदार्थ भर हूँ। फालतू सामान की तरह एक तरफ पड़ा रहूँगा।"

निर्मला के मुख पर पीड़ा की कई रेखाएँ फैल गयीं। इधर की आड़ ले खड़ी रहने के कारण विजन को दिखाई नहीं पड़ीं। विगत का सूत्र पकड़ कर वह कुछ और कहने जा रहे थे, उससे पहले ही जल्दी से वोल उठी, "मैं अव चलूँ।"

अस्फुट में इन कुछ शब्दों को कह कर ही वह एक तरह से भाग कर कमरे से निकल आई। वरामदे में कोई नहीं था। वहाँ खड़े होकर उसे लगा कि अगर वह इसी क्षण न भाग आती, तो शायद अपने को और कठोर नहीं रख पाती। वहुत देर तक रेलिंग पकड़े खड़ी रही। तव लगा कि इतनी देर वाद पैरों की खोई हुई शक्ति वापस मिल सकी है।

थोड़ी अनमनी हो उठी वह। दिलीप कव पास आकर खड़ा हो गया, जान नहीं पायी। 'माँ' पुकारे जाते ही चौंक उठी। पूछा, "गाड़ी आ गयी ?"

"आ गयी, चलो।"

नीचे उतरते ही वहादुर ने आकर निर्मला को प्रणाम किया। निर्मला ने जिज्ञासु दृष्टि से दिलीप को देखा। वह वोला, "यह मेरा वहादुर दा है। हम दोनों ही तुम्हें पहुँचाने जा रहे हैं। वहाँ जाकर सव वतायेंगे।"

"चलो वेटा," निर्मला ने वहादुर से कहा, "मैं भी तुम सवसे सव कुछ जानने के लिए छटपटा रही हूँ। और वे सव कौन हैं ?"

रास्ते के उस पार प्रेस के लड़के भीड़ लगाये खड़े थे। दिलीप ने वताया, "वे मेरे मित्र हैं।"

"वहाँ क्यों खड़े हैं ?"

वहादुर वोला, "आपके पास आना चाहते हैं, लेकिन साहस नहीं कर पा रहे हैं।"

"क्यों ?"

"वस्त्राल के लड़के हैं ना ?"

उन्नीस

प्रातः भ्रमण आशुबाबू का सदा का स्वभाव था। बस्ट्राल के कार्यकाल में वह नदी किनारे पर टहलते-टहलते बाँध तक जाते थे। वर्ष के आठ माह सूख-सिमट कर पतली हो जाने पर भी नदी उनके लिए गंगा ही रहती। इन दिनों प्रायः ही हुगली के आश्रम में रहना पड़ता था। वहाँ गंगा का एक दूसरा रूप था—पूर्णांगी, प्रशस्त हृदया। तट पकड़ कर जितनी दूर तक इच्छा होती, चले जाते, कोई बाधा नहीं थी। कलकत्ता में उनके भ्रमण स्थल के लिए नदी नहीं थी, एक गोल तालाब था। यहाँ भ्रमण परिभ्रमण था। वह भी पग-पग पर संघर्ष करना। फिर भी इसी के कई चक्कर लगाये बिना उन्हें नहीं चलता।

आजकल अध्यापक बनर्जी के बीमार पड़ जाने से लौटते समय उनका हालचाल पूछ आना उनका प्रायः दैनिक कार्यक्रम बन गया था। जिस दिन निर्मला आई थी, उस दिन सुबह तड़के ही उन्हें हुगली जाना पड़ गया था। दो दिन बाद जब लौटे तब रात ज्यादा हो चुकी थी।

सुबह उठ कर ही घूमने निकल पड़े। लौट कर अपने घर में घुसने से पहले उस घर के खुले दरवाजे से धीरे-धीरे ऊपर चढ़े। रघु धूनी दे रहा था। उससे फुसफुसा कर पूछा, "बाबू उठ गये ?"

"बाबू क्या अभी उठेंगे ? सारी रात तो जाग कर ही बीती।"

आशुबाबू के मुख पर उद्वेग की छाया फैली। धीरे-धीरे किसी प्रकार की आहट किये बिना कमरे में घुसे। फिर भी बिजन के कान से छुपा न रहा। बोले, "कौन, आशुबाबू ? आइये।"

आशुबाबू का हृदय अंदर से हिल उठा। बातों में अटपटाहट-सी थी। पहले तो ऐसा नहीं था। मुख का भाव भी पहले से ज्यादा भारी लगा। तुरंत बाहर आ रघु को बुला कर बोले, "घर से दिलीप बाबू को अभी बुला तो लाओ! आने को कहो।"

दिलीप भागा-भागा आया। आशुबाबू तब बरामदे में ही प्रतीक्षा कर रहे थे। उसे पास खींच प्रायः कान में बोले, "रोगी की हालत तो अच्छी नहीं लग रही है। तुम जरा देखो तो।"

"यह क्या ! कल तो काफी अच्छा देख गया था।"

कमरे में जाकर सामान्यतया जितना देखना जरूरी था, उतना देख दिलीप का मुख गंभीर हो गया। आशुबाबू से जाकर बोला, "आप जरा बैठिए, सर। मैं डॉक्टर दासगुप्त को फोन कर आऊँ। शायद बुला के भी लाना पड़े।"

"यही करो। मैं हूँ। तुम्हारे न आने तक कहीं नहीं जाऊँगा।"

वहीं एक कुर्सी पड़ी थी, आशुबाबू उस पर बैठ गये। कमरे में जाने पर रोगी निश्चय ही बातें करने की कोशिश करेगा। इस अवस्था में यह एकदम वांछनीय नहीं है। बरामदे में दूसरी तरफ आलो किसी कारण से आते ही तुरंत अंदर चली गयी। आशुबाबू के सामने इससे पहले एक-दो बार आने पर भी आज जाने कहाँ से ढेर-सी लज्जा ने आकर दोनों पैर जकड़ लिये। फिर भाग आने की लज्जा और भी अधिक होती है, यह भी वह जानती थी। आशुबाबू भी थोड़ा हड़बड़ा गये। वैसे ही वह लड़कियों के सामने उतना सहज नहीं रह पाते थे, वे चाहे किसी भी उम्र की हों और उनके साथ चाहे जितने भी घनिष्ठ स्नेह का संबंध हो। यहाँ जब आते थे, प्रोफेसर बनर्जी के साथ ही बातचीत होती, उनकी इस लड़की को अपने आप उन्होंने कभी नहीं बुलाया, सामने पड़ती तो कुशलक्षेम पूछ लेते। अब यदि वह हठात् निकलते ही फिर कमरे में न जा घुसती, तो शायद बुला कर हाल-चाल पूछते। किंतु जब सोच रहे थे कि इस बारे में वह क्या करें, देखा कि आलो एकदम उनके पास आ खड़ी हुई है। उनके कुछ कहने से पहले ही उसने झट से उनके पैरों में प्रणाम किया। कारण समझ में न आने पर भी उसके सिर पर सस्नेह हाथ रख आशीर्वाद दिया। बोले, "आओ बेटी, जुग-जुग जियो, सुखी हो।"

जो प्रतिदिन आते-जाते हैं, आज अचानक उन्हें यह प्रणाम करने की इच्छा उसे क्यों हुई, आलो खुद भी नहीं जान सकी। कल से सारा मन जैसे भरपूर हो गया था। शायद इसमें इस इच्छा का भी कोई योग था। उसके मन में अचानक आया, अपने परम सुहृदय और दिलीप के पितृतुल्य इस शिशुसम वृद्ध के मुख से निकले ये कुछ शब्द केवल मामूली आशीर्वाद नहीं, आज उसके लिए उनका एक विशेष अर्थ है, मूल्य है।

निर्मला के आने के बाद से चारों ओर के सब कुछ ने आलो की दृष्टि में नया रूप ले लिया था। पिता के मुख पर वह प्रसन्न हँसी उसने कितने दिन से ही नहीं देखी थी। जो देखा था, उसी में उस प्रसन्नता का प्रतिफल था। एक रात बीतते-न-बीतते ही फिर एक काला मेघ उनके सिर पर घना हो उठा है, यह बात वह कैसे जानती ?

सुबह उठ कर पिता के कमरे में तब तक उसका जाना नहीं हुआ था।

डॉक्टर दासगुप्त अपनी परीक्षा समाप्त कर बाहर आ दिलीप और आशुबाबू के मुख की ओर देख थोड़े चिंतान्वित स्वर में बोले, "ऐसा तो नहीं होना चाहिए था। इतना सेटबैक कैसे हुआ ? अचानक उत्तेजना पैदा होने का कोई कारण हुआ था क्या ?"

दिलीप अपराध स्वीकारोक्ति के ढंग से बोला, "वह तो एक हुआ था, सर।"

"दैट इज़ इट। लेकिन ऐसा होना तो ठीक नहीं। उन्हें यहाँ से हटाना होगा।"

दिलीप की ओर उँगली कर बोले, "यू आर गोइंग टू वी ए डॉक्टर (तुम डाक्टर बनने जा रहे हो)। अच्छी तरह समझ सकते हो, ऐसे रोगी के लिए जो दो चीजें नितांत जरूरी हैं वे पूरा आराम और समुचित और निरंतर परिचर्या। उसमें से कुछ भी नहीं हुआ। यह तो पूरा बैठकखाना है। यहाँ ऐसे पेशेंट को नहीं रखा जा सकता।"

दिलीप सिर झुकाए सोच रहा था। अब मुँह उठा कर पूछा, "कहाँ ले जाया जाय, सर? मेडिकल कॉलेज में?"

"अगर केविन मिल जाय तो। इससे तो ए गुड, क्वाइट नर्सिंग होम अच्छा होगा। कहो तो मैं भी कोशिश कर सकता हूँ।"

आशुबाबू बोले, "इसमें हमें कुछ नहीं कहना है, सर। आप जो अच्छा समझें वही ठीक है। इसकी व्यवस्था आपको करनी होगी।"

"ठीक है तो मैं अभी जा कर खोज-खबर लेता हूँ। आज ही जहाँ हो 'फिक्स-अप' कर देना होगा।"

जीने की तरफ जाते-जाते, सहसा घूम कर खड़े हो गये। बोले, "दिलीप, तुम एक काम करो। घंटे भर बाद जहाँ से हो मुझे फोन कर लो। आशा है, इस बीच कोई व्यवस्था हो जायगी।"

दिलीप कुछ कहने जा रहा था, रुक गया। कुछ झिझका, फिर पुकारा, 'सर....।"

"बोलो।" छात्र की ओर देखा डाक्टर दासगुप्त ने।

"मुझे....मुझे दो घंटे का समय दे दीजिए, सर। इसी बीच मैं आ पहुँचूंगा।"

"क्यों, कहाँ जाओगे तुम?"

"मैं अपनी माँ से एक बार पूछ आऊँ।"

"तुम्हारी माँ!" डॉक्टर दासगुप्त जैसे ठीक से समझ नहीं सके। किंतु उनसे भी ज्यादा विस्मय का स्वर आशुबाबू का था—"तुम्हारी माँ!"

"जी मास्टरजी। माँ आई थीं। आपको बाद में सब बताऊँगा।" फिर डॉक्टर की ओर घूम कर बोला, "माँ कह गयी हैं, उनसे पूछे बिना कुछ न किया जाय।"

"ठीक है, बट यू मस्ट वी वेरी क्वीक, माई बॉय (लेकिन तुम्हें जल्दी करनी होगी, मेरे बच्चे)।"

"मैं जाऊँगा और आऊँगा।"

डॉक्टर गाड़ी में जा बैठे। दिलीप भी साथ ही उतर गया। आशुबाबू लौट कर रोगी के पास जा बैठे।

इनकी बातचीत रघु के कान में गयी थी। सारी बात न समझने पर भी इतना

समझने में कठिनाई नहीं हुई कि वावू को अविलंब अन्यत्र भेजने की व्यवस्था ही निश्चि
हुई है। दिलीप के अंतिम शब्द वह नहीं सुन पाया। ठीक उसी समय उसे दरवा
खोलने के लिए नीचे जाना पड़ा था। आलो को अभी यह सब वताने की इच्छा उ
नहीं थी। किंतु उसके चेहरे का भाव लक्ष्य कर आलो जब डॉक्टर की बात जानने
लिए जिद करने लगी, तव उसे चुप रहना कठिन हो गया।

वात सुनते ही वह अपने पिता के पलंग के पास भागी गई और उन्हें पुका
उठी, 'वापी'। विजन उस समय आच्छन्न-से लेटे थे। वेटी की पुकार उन्होंने सुनी य
नहीं, समझा नहीं जा सका। आशुवावू ने हाथ के इशारे से उसे रोका। फिर जित
धीमे हो सकता था, उतने धीमे स्वर में वोले, "घवड़ाओ नहीं, थोड़ा सो रहे हैं।
किंतु वह चेहरा नींद का नहीं है, वच्ची होने पर भी इतना समझने का ज्ञान उसे था
आशुवावू ने उसे दिलासा दिया। निश्चित हो कर जा कर अपना काम करने कहा
किंतु उसे लगा कि उसके दोनों पैर जैसे जड़ हो गये हों। शंकाकुल विस्फारित दृष्टि
पिता के मुंह पर टिकाये वहीं खड़ी रही।

जीने से परिचित उच्च स्वर में अपना नाम सुनते ही आलो को जैसे सहस
संज्ञा लौट आयी।

जल्दी से वरामदे में दौड़ी जा कर वोली, "ताऊजी !"

झुक कर पैर छूते ही विमान ने उसे वाँह पकड़ कर उठा लिया। वोला, "वस
वस। विजू कैसा है ?"

आलो मुंह से कुछ नहीं कह सकी, सिर हिला कर वताया 'अच्छे नहीं हैं'
साथ ही दोनों आँखें छलछला उठीं। विमान ने उसकी पीठ सहला कर सांत्वना दी
"अरे रो मत। फिक्र काहे की ? जव आ पहुँचा हूँ, तव दो दिन में सव ठीक हो
जायगा। कव से आने-आने कर रहा था। एक साला धाकड़ डी० टी० एस० होकर
आया है। छोड़ना ही नहीं चाहता था। किसी तरह तीन दिन के लिए—क्यों, वह किस
कमरे में हैं ?"

आलो ने उंगली के इशारे से कमरा वता दिया। विमान ने दरवाजे से झाँक
आशुवावू को लक्ष्य कर आँख के इशारे से पूछा—'कौन हैं' ? आलो फुसफुसा कर वोली
"मास्टरजी, सामने के मकान में रहते हैं। हमेशा हमारी देखभाल करते रहते हैं।"

छोटा सूटकेस आलो के हाथ में दे विमान कमरे में घुसा और आशुवावू को
उद्देश्य कर दोनों हाथ जोड़ कर वोला, "नमस्कार। मैं विजन का दादा हूँ। कानपुर
से आया हूँ। वह सो रहा है ?"

आशुवावू ने खड़े हो कर उसे वाहर जाने का संकेत किया और खुद भी नि
आये। रेलिंग के पास खड़े हो कर रोगी की वर्तमान अवस्था का मोटे तौर पर आभा
दिया। प्रसंग में, डॉक्टर ने जो उन्हें किसी नर्सिंग होम में ले जा कर रखने का प्र

ा था, उसका भी जिक्र किया ।

विमान भी इस विषय पर जोर दे कर वोला, "मैं यह पहले ही जानता था । : में तय कर के ही आया हूँ । मेरे एक डॉक्टर मित्र ने अच्छा होम खोला है । अभी कर सव ठीक किये देता हूँ । इस तरह के रोगी की देखभाल सेवा-सुश्रुषा यहाँ ऐसी न करेगा ? यह छोटी-सी लड़की, इसे कौन देखे इसी का ठीक नहीं । इसके कंधे पर ना वड़ा वोझ । छीः-छीः । मुझे वहुत पहले ही आना उचित था । किंतु दूसरे की ामी ठहरी । समझ ही सकते हैं ।"

दिन वहुत चढ़ गया था । आशुवावू का दो वार वुलावा आ चुका था । रोगी अकेला छोड़ उठ नहीं सके थे । अव विदा ले नीचे उतरे । विमान भी निकल पड़ने को ार हुआ । आलो वोली, "अव निकलने पर, खायेंगे कव ?"

"यह काम डाइनिंग कार में ही कर आया हूँ । अय्यर कलकत्ता आ रहा था । ोड़ा ही नहीं । पेट भर कर खिला दिया । तुम्हारा खाना-वाना हो गया ?"

आलो ने जवाव दिया, 'नहीं' । विमान चीख उठा, "यह क्या ! अभी तक नहीं ाया ! रसोइया है तो ?"

आलो ने सिर हिला कर वताया, "हाँ है ।"

"तो उसे अपना खाना देने को वोल । और देर मत कर । विजन को जो खाना , खाया ?"

"कुछ नहीं; सुवह से ही एक भाव से पड़े हैं ।"

"इसीलिए तूने भी नहीं खाया ? अपने नौकर को, क्या नाम है उसका, उसी । रोगी के पास थोड़ा वैठने को कह दे । तू जो भी हो, थोड़ा सा खा ले । मैं जा ा हूँ ।"

"आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"विनू के लिए एक वेड ठीक कर आऊँ । आज ही अगर हो जाय, तो कल ही झे ले कर रवाना हो सकता हूं । तेरी ताई को टेलिग्राम भी करना है ।"

ताऊ चले गये । आलो वहीं जड़ वनी खड़ी रही । रसोइये ने आकर फिर एक र खा लेने को कहा, रघु ने आकर कितना ही कहा, वह हिली नहीं । सिर्फ इतना : वोली, "तुम लोग खा लो ।"

क्षुधा-तृष्णा सव भूल गयी । उसके देखते-देखते वे लोग पिताजी को कहीं किसी स्पताल में ले जायेंगे । वह भी एक दूर देश में चली जायगी । फिर ? एक अदम्य दन की लहर उसके हृदय में उठी । भागती हुई जा कर अपने कमरे में विस्तर पर ार पड़ी ।

कुछ देर वाद वाहर से रघु की आवाज सुनाई दी, "वीवीजी, वावू वुला रहे ।" आलो हड़वड़ा कर उठ वैठी । गिर पड़े आँचल को किसी प्रकार कंधे पर डाल